LXVI (1-4) JANUARY-DECEMBER 2010 ISSN 0377-0575



JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA CAMPUS



Rastriya Sanskrit Sansthan
Ganganath Jha Campus
Allahabad

2012

ISSN 0377-0575

JOURNAL OF THE GANGANATHA JHA CAMPUS

LXVI (1-4)	JANUARY-DECEMBER 2010

General Editor
Radha Vallabh Tripathi

Editors
Sarvanarayan Jha
Banamali Biswal



Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University)
Ganganatha Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahabad -211 002
2012



Published by
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Deemed University
Ganganath Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park, Allahabad-2
principal.alld@gmail.com
visit us : www.gnjhacampusrsks.org



गङ्गानाथप्रसृमरयशश्चन्द्रिकाधौतहर्म्यं
कूजद्विद्वद्विहगनिवहानेकगीताभिरामम् ।
काले काले कुसुमितनवान्वेषणाऽऽमोदिताशं
विद्यापीठं जयतु जगतां भूयसे मङ्गलाय।।

Price : Annual Subscription
Indian : ₹ 150/- Foreign : $ 35/-

Page Setting
Brahmanand Mishra
Anil Tripathi

Printed at :
Academy Press
602, Daraganj, Allahabad

Editorial

We are extremely happy to present the 66th vol. of the journal of Ganganath Jha Campus, Rashtriya Sanskrit Sansthan (Deemed University) to our readers. Like the previous volume (i.e. 65th) the papers of this volume are also published with an abstract in the beginning. However, the only difference is, here the abstracts are published either in Sanskrit or in English and not in Hindi.

It is a part of our duty to thank all of our learned contributors of this volume as it would not have been possible to publish the Present Volume without their valuable cooperation. It is our sincere appeal that the contributors of the forthcoming issues may kindly go through our appeal under the title "To our contributors" published overleaf and co-operate us by contributing accordingly.

Since the Journal is being published from a Research Institute where around 54,000 Sanskrit Manuscripts are preserved on different branches of Indology, we will prefer text-based studies (i.e. Textual criticism, Textual appreciation etc.) for this purpose. Therefore, the materials related to manuscripts and manuscriptology are most welcome for the forthcoming issues either in the form of research papers, Book-reviews etc.

We have edited the matters available to us for this volume with utmost care and sincerity. However, we are aware of the fact that in spite of our sincere efforts some minor errors still might have crept in here and there. We hope and believe that we can certainly overcome such shortcomings (if any) gradually in our forthcoming volumes.

Editors

To Our Contributors

The Rashtriya Sanskrit Sansthan, Ganganatha Jha Campus, Allahabad (formerly Ganganatha Jha Research Institute till 1973 and Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha till 2002) under the Ministry of HRD, Government of India, was founded on November 17, 1943 in memory of Mm. Dr. Sir Ganganatha Jha, one of the greatest Orientalists of India. From the very beginning, a number of Indologists and erudite scholars of eminence like Mm. Dr. Gopinatha Kaviraj, Dr. Ishwari Prasad, Mm. Dr. Umesh Mishra, Pt. Kshetresh Chandra Chattopadhyaya and others have been closely associated with this Research Institute which has been conducting higher research in Indology and publishing a research journal of International repute on Sanskrit and Indological subjects since its inception. The Research Journal, in addition to the research papers written by eminent scholars from all over the world, also contains sections on short communications, critical editions of short original Sanskrit texts and reviews of books concerning Indology.

We welcome your kind and invaluable cooperation in the form of your research papers and reviews written either in English or in Hindi or in Sanskrit Languages. The papers must give an evidence of research by discovery of new facts or by that of new interpretation or relationship of known facts and must not be parts or chapters of theses. They should be brief and completely ready for the press with an abstract of maximum 200 words. The absract should be either in Sanskrit or in English. But the language should be other than the language in which the paper is written.

The research papers should be computerised either in Kruti-Dev-10 or in APS Fonts in double space, fully corrected, and with notes and references at the end of the paper numbered consecutively. The writers are requested to follow the standard system of presentation and transliteration. The titles of books and journals as well as important Sanskrit or non-English words or quotations written in Roman script should be in italic and properly marked with diacritical Signs. Titles, authors and places of publications or editions of books and journals referred to for the first time in the paper should be given in full and thereafter, their abbreviations should be used. The postal address of the author with phone No. and email ID should be given at the end of the papers with a brief self introduction.

The contributors will get 25 off-prints of their research papers and one author-copy of the journal. The decision of the Editorial Board is final with regard to the publication of the Research papers.

The papers are preferred by Email or in CD composed in desired fonts along with a hard copy.

Editors

Contents

[Volume LXVI, (1-4)]



वल्लभदेव की टीकाओं की मौलिकता पर एक प्रश्नचिह्न

('रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' के विशेष सन्दर्भ में)

वसन्तकुमार म. भट्ट

(Two versions of the commentary upon *Raghuvaṃśa* by vallabhadeva are available to us, of which the *Raghupañcikā* is in *Devanāgari* script and *Raghupañjikā* is in *śāradā* script. The learned author through this paper tries to establish that the originality of the commentaries of vallabhadeva in general and that of *Raghu-Pañcikā* or *Raghupañjika* in particular, is very much in doubt. The paper reveals important facts on this particular issue.)

(1)

महाकवि कालिदास के श्रव्य-काव्यों पर टीका लिखनेवालों में 14वीं शती के कोलाचल-निवासी मल्लिनाथ का स्थान अग्रगण्य है। साहित्यरसिकों ने मल्लिनाथ की टीकाओं को ही सब से अधिक प्रमाणभूत माना है। किन्तु रघुवंश पर रघुपञ्चिका (रघुपञ्जिका) नामक टीका लिखने वाले वल्लभदेव का स्थान भी किसी भी तरह से नगण्य नहीं है, बल्कि अपरिहार्य है। क्योंकि, वल्लभदेव समय-मर्यादा की दृष्टि से उपलब्ध टीकाकारों में सबसे पुराने हैं। विद्वानों ने (सुभेदार, 1965) वल्लभदेव का समय 10वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित किया है। यद्यपि श्री पी.जी.पराञ्जपे ने स्थिरदेव के बाद वल्लभदेव का समय निर्धारित किया है तथापि अधिकतर विद्वान् तो वल्लभदेव को ही पुरोगामी मानते हैं। रघुवंश के अन्य टीकाकारों में मुख्य रूप से हेमाद्रि, सुमतिविजय, चारित्रवर्धन, अरुणगिरिनाथ, जिनसमुद्रगणि इत्यादि का नाम भी सुप्रसिद्ध है। लेकिन ये सभी टीकाकार 12वीं -14वीं शती के बाद प्रकट हुए हैं। अतः कालिदासीय काव्यों पर टीका लिखने वालों में कश्मीर के वल्लभदेव ही पुरोगामी सिद्ध होते हैं।

समयसीमा की दृष्टि से वल्लभदेव का प्रथम होना जैसे ध्यानास्पद है, वैसे ही वे काश्मीरदेश के निवासी हैं, यह बात भी अतीव ध्यानाकर्षक है। क्योंकि प्राचीनकाल के काश्मीर देश में जो शारदा-लिपि का प्रचलन था, वह दुर्बोध (या अन्यत्र अज्ञात) होने से उस में लिखे गये शास्त्रग्रन्थ, काव्यकृतियाँ एवं टीकादि का पाठ (text) पाण्डुलिपिओं के माध्यम से जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास संचरित हुआ तब वह बहुविध दूषणों-जैसे कि प्रक्षेप, पाठान्तरादि से मुक्त रहा है। अतः कालिदास के मेघदूत, रघुवंश और कुमारसम्भव पर वल्लभदेव के द्वारा प्रणीत जो टीकायें आज उपलब्ध हो रही हैं, उसका मूल्य अन्य टीकाओं की अपेक्षा बहुत अधिक है। वल्लभदेव ने महाकवि कालिदास के तीनों श्रव्य-काव्यों पर टीकायें लिखी हैं। लेकिन इन टीकाओं का पाठ आज शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होने के साथ-साथ देवनागरी लिपि में लिखी पाण्डुलिपियों में भी प्राप्त हो रहा है। प्रस्तुत शोध आलेख में वल्लभदेवकृत 'रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' की मौलिकता को लेकर नयनोन्मीलन करनेवाला परामर्श किया जा रहा है।।

(2)

आधुनिक युग में, प्राचीन काव्यकृतियों के टीकाकारों का मूल्यांकन विविध दृष्टि से होता है। किसी भी टीकाकार ने टीका-कार के रूप में अभीष्ट काव्यकृति को विशद करने के लिए, अर्थात् साधरण पाठक को सहायक होने के लिए व्याकरण, कोश, समास-विग्रह, अलंकार, छन्द: इत्यादि का निरूपण करते हुए कैसी व्याख्या प्रस्तुत की है। अथवा साहित्यरसिकों के लिए उपयुक्त हो ऐसी व्याख्या, जिसमें नवीन ध्वन्यर्थों का निरूपण किया गया है या नहीं? ऐसा सोचा जाता है कि साहित्यालोचना के क्षेत्र में ऐसे विविध अभिगमों को लेकर टीकाकारों का जो गुणात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है वह आत्मलक्षी एवं तारतम्यपूर्ण हो सकता है। परन्तु साहित्यिक आलोचना (Literary Criticism) का दृष्टिबिन्दु छोडकर, जब पाठालोचना (Textual Criticism) का दृष्टिबिन्दु अग्रेसर होता है तो प्रत्येक टीकाकार का मूल्य निश्चित करने के लिये 1. टीकाकार का समय क्या है, 2. उस टीकाकार ने साम्प्रदायिक पाठ का अनुगमन किया है, 3. कितने पाठभेदों की चर्चा प्रस्तुत की है ? 4. टीकाकार के द्वारा स्वीकृत पाठ कैसे श्रद्धेय या मूलगामी प्रतीत होता है ? इन सब बिन्दुओं को ध्यान में लेना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए पाठालोचन की प्रक्रिया में पाठ्यग्रन्थ की पाण्डुलिपिओं के साथ-साथ उसी ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाओं का मूल्य भी सहायक-सामग्री के रूप में कुछ कम नहीं होता है। क्योंकि किसी भी ग्रन्थ की उपलब्ध होने वाली पाण्डुलिपि के रचनाकाल से यदि उसी ग्रन्थ का कोई टीकाकार प्राचीनतर होता है तो उसकी टीका का मूल्य निश्चित रूप से अधिक सिद्ध होता है। अत: 'मेघदूत' की समीक्षित आवृत्ति तैयार करनेवाले डॉ. सुशील कुमार दे ने लिखा है कि ......

... in the case of a small classical poem of wide popular appeal like the *Meghadūta* which has been so much studied and commented upon the peculiar circumstances of text – transmission make it clear that not the existing manuscripts; which are mostly later in date; but the commentaries are to be taken as our chief guide for textual study- (Sushil kumar, 1970) अर्थात् मेघदूत की पाठालोचना में उस काव्य की पाण्डुलिपियाँ नहीं, किन्तु उसके टीकाकार ही हमारा सही मार्गदर्शक बन सकते हैं।

अर्थात् पाठालोचन के सन्दर्भ में यह बात सर्वस्वीकृत है कि आज उपलब्ध होने वाली दो सौ या तीन सौ वर्ष पुरानी किसी भी पाण्डुलिपि की अपेक्षा सात सौ या हजार वर्ष पुरानी किसी भी टीका का मूल्य अधिकतर ही है। क्योंकि टीकाकारों ने अपनी टीका में उद्धृत किया हुआ मूल कृति का पाठ, तथा अन्वयपूर्वक या खण्डश: व्याख्यायित किया हुआ कृति का पाठ, एक पुरातन पाठपरम्परा का साक्ष्य भी प्रस्तुत करता है, जो पाण्डुलिपियों में संचरित हुए केवल कृति के मूल पाठ की अपेक्षा प्राय: अधिक श्रद्धेय होता है। कालिदास के जो भी टीकाकार आज उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें कश्मीर के टीकाकार वल्लभदेव का स्थान, समय की दृष्टि से सर्वप्रथम होने के कारण उनकी टीका अधिकतर मूल्यवती सिद्ध हो सकती है।

(3)

अब, महाकवि कालिदासकृत 'रघुवंश' महाकाव्य पर वल्लभदेव के द्वारा लिखी गई 'रघुपञ्चिका' नामक टीका पाठालोचना की दृष्टि से कितनी मूल्यवती है ? इस प्रश्न का परामर्श किया जायेगा। श्री गोपाल रघुनाथ नन्दरगीकर ने मल्लिनाथ की 'सञ्जीविनी' टीका एवं आंग्ल अनुवाद के साथ 'रघुवंश' का जो संस्करण संपादित किया है, उसमें वल्लभदेव के द्वारा स्वीकृत पाठ को पाठान्तरों के रूप में पादटिप्पणी में दिया गया है। (Nandargikar, 1971, Fourth edition) अलबत्ता, इस संस्करण की विस्तृत भूमिका में इन्होंने यह बात भी स्पष्ट रूप से कही है कि – Of these four leaders Vallabha and Hemadri seem to be the oldest- Now, making the necessary reservation we are of opinion that superiority can

unquestionably be detected in the generality of the reading adopted by Hemadri, Vallabha and Charitra vardhana.

परन्तु मूल काव्य के प्राचीनतर एवं श्रद्धेय पाठ के निर्धारण के लिए डा. नन्दरगीकरजी को पर्याप्त पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध न होने के कारण, तथा एक व्याख्या के रूप में मल्लिनाथ की टीका में गुणाधिक्य होने के कारण उन्होंने मल्लिनाथ के पाठ को ही मूलपाठ के रूप में स्वीकारा है। और वल्लभदेव और हेमाद्रि के द्वारा स्वीकृत पाठपरम्परा में अधिक सुन्दरता होते हुए भी उनके पाठ को पादटिप्पणी में 'पाठान्तर' के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। पण्डितमूर्धन्य डा. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदीजी ने जब 'कालिदास-ग्रन्थावली-2' का सम्पादन ई.स. 1986 में प्रकाशित किया तब श्री नन्दरगीकर जी ने जो पाठान्तर वल्लभदेव के नाम से अपने 'रघुवंश' में दिये थे, उसी को स्वीकार कर लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पं. श्री रेवाप्रसादजी ने ई. सं. 1986 तक वल्लभदेव की टीका वाले 'रघुवंश' की कोई भी पाण्डुलिपि देखी नहीं थी। ई.सं. 1986 की इस 'कालिदास-ग्रन्थावली-2' के बाद, ई.सं. 1993 में फिर से एक बार साहित्य अकादमी, दिल्ली के माध्यम से पण्डितवर्य श्री रेवाप्रसादजी को 'रघुवंश' का पुन: पाठसम्पादन करने का मौका मिला। परन्तु इस समय भी वल्लभदेव की रघुपञ्चिका (रघुपञ्जिका) टीका का साक्षात् अवलोकन करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। तथा पूर्ववत्, श्रीनन्दरगीकरजी के संस्करण से ही वल्लभदेव के पाठभेंदो को सीधे अपनाये गये हैं।

इस तरह कालिदासीय काव्यों के उपलब्ध टीकाकारों में से वल्लभदेव को 'प्रथम' होने का सौभाग्य जरूर मिला है, परन्तु 'रघुपञ्चिका' को अपने मूल रूप में, एवं पूर्ण रूप में प्रकाशित होने का तब तक सौभाग्य नहीं मिला था।

(4)

ई.सं. 1998 में, श्रीमती अर्पिता जी. पटेल के द्वारा गुजरात-विश्वविद्यालय, अहमदाबाद से पीएच्.डी. उपाधि हेतु जो शोधकार्य किया गया है, उसमें वल्लभदेवकृत 'रघुपञ्चिका' टीका का समीक्षित पाठसम्पादन तैयार किया गया। यहाँ पर जिन पाण्डुलिपियों की सामग्री का विनियोग किया गया है, वे सभी देवनागरी-लिपि में लिखित थी। यह शोधप्रबन्ध अद्यावधि अप्रकाशित है, दूसरी ओर नेदरलेण्ड से 2003 AD में 'रघुपञ्चिका' (VOL-1) का प्रकाशन हुआ है। इनके दो सम्पादक हैं- 1. Dominic Goodall और 2. Harunaga issacson। ये दो पाठसम्पादकों ने कुल मिला के 10 पाण्डुलिपियों का विनियोग किया है, ये सभी शारदालिपि में ही लिखी गई है। अब इन दोनों सम्पादनों का तुलनात्मक अभ्यास करने से कुछ आश्चर्यजनक एवं विचारप्रेरक बिन्दुएँ सामने आते हैं। जैसा कि- डोमीनीक गुडाल ने अपने 'रघुपञ्चिका' के सम्पादन की प्रस्तावना में लिखा है कि -

We have adverted briefly above to a fundamental split in the transmission of Vallabhadeva's *Raghupañcikā*, For all but one (Ratnākara's *Vakrokti-pañcāśikā*, of the extant commentaries by Vallabhadeva we know that the transmission is similarly divided For of each there are two entirely different editions, in both cases one based entirely on Kashmirian sources and one not.

अर्थात् रत्नाकर की 'वक्रोक्तिपञ्चाशिका' टीका को छोड़कर वल्लभदेव ने जिन काव्यों पर टीकायें लिखी हैं वे सभी पुरातन काल से ही, दो प्रकार की विभिन्न पाठपरम्पराओं में प्रवहमान दिखाई पडती हैं। एक शारदा परम्परा और दूसरी देवनागरी परम्परा। इन दोनों में से शारदा-परम्परा में प्रवाहित वल्लभदेव की टीका को 'रघुपञ्चिका' के नाम से पहचानी जाती है, और देवनागरी-परम्परा में जो टीका प्रवाहित हुई है

उसे 'रघुपञ्जिका' के नाम से पहचानी जाती है। परन्तु इन दोनों टीकाओं की तुलना करने से मालूम होता है कि दोनों परम्पराओं की टीका के पाठ का स्वरूप परस्पर में सर्वथा भिन्न ही है। तद्यथा-

देवनागरी परम्परा की 'रघुपञ्जिका' टीका में -

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते अग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।। (रघु. 1.10)

(टीका) तं सन्तः 0।। सन्तो महात्मानः। तं वंशं श्रोतुमर्हन्ति। किं भूताः सन्तः। सदसद्युक्तिहेतवः, शुभाशुभव्यक्ति (कारणां) हि निश्चितम्। हेम्नः सुवर्णस्य विशुद्धिः वा अथवा श्यामिकापि अग्नौ वैश्वानरविषये संलक्ष्यते। विमलता मलिनाँपि वह्नौ दृश्यते।।

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीभृतामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव।। (रघु. 1.11)

(टीका) वैवस्वतो 0।। विवस्वतः। मनुर्नाम राजा आसीत्, नृपो बभूव। किंभूतो राजा ? मनीषिणां माननीयः, विदूषां पूजनीयः। अपरं किंभूतो राजा ? महीभृताम् आद्यः, राज्ञामग्रणी यः। क इव ? प्रणव इव। यथा प्रणवकारः छन्दसामाद्यो भवति।।

यहाँ 'रघुपञ्जिका' में 'कथम्भूतिनी' प्रकार की टीका दिखाई दे रही है। तथा उसमें 'महीभृताम्' पाठ को स्वीकारा गया है।।

अब इन्हीं दो श्लोकों की शारदापरम्परावाली 'रघुपञ्चिका' में टीका का कैसा स्वरूप है, वह देखा जाय तो -

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्युक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।। (रघु. 1.10)

(टीका) साधवोन्वयमाकर्णयितुं योग्या भवन्ति, न त्वन्ये। यतः शोभनाशोभनयोः प्रकाशकारणभूताः। यस्मात् सुवर्णस्य नैर्मल्यमौज्ज्वल्यं मलश्च वह्नौ जनेन दृश्यते, न तु जलादिके। इह च वंशक्रमो हरिवंशपुराणाश्रितो, न तु रामायणाश्रितः।।

तमेव वंशं वर्णयितुमाह-
वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव।। (रघु.1.11)

(टीका) मनुः प्रसिद्धो रविजो भूमिं क्षिपन्ति फलनार्थं निवसन्तीति राजानस्तेषां प्रथमो बभूव। बुद्धिमतां पूज्यः। यथा वेदानां पूर्वम् ओङ्कारोऽभूत्। सोऽपि बुद्धिमतां पूज्यः। (पृ. 7-8)

यहाँ 'रघुपञ्चिका' टीका का स्वरूप 'कथंभूतिनी' प्रकार का नहीं है, तथा 'महीभृताम्' (1-11) के स्थान पर 'महीक्षिताम्' ऐसा पाठभेद स्वीकारा गया है।

अब इन दोनों परम्पराओं के पाठ की अनेक तरह से तुलना अपेक्षित है - (क) दोनों परम्परा में उद्धृत किया गया महाकवि कालिदास के श्लोक का पाठ क्या समान है ? तथा (ख) दोनों टीकाओं की वाक्यमाला पूर्णतः या आंशिक रूप से भी क्या समान है ? तो इन दोनों प्रश्न का उत्तर नकार में है। (ग) एक तीसरी तरह से भी तुलना करणीय है। क्या दोनों परम्परा में श्लोकसंख्या तथा श्लोकक्रम समान है ? तो इनका उत्तर भी निषेधात्मक है। और (घ) चौथी दृष्टि से तुलना की जाय तो देवनागरी परम्परावाली

रघुपञ्जिका-टीका को 'कथंभूतिनी' टीका कहनी चाहिए, जब कि शारदा-परम्परावाली ऐसी टीका नहीं है। अर्थात् शारदा-परम्परा की 'रघुपञ्चिका' में, तथा देवनागरी परम्परा की 'रघुपञ्जिका' में संचरित हुई टीकाओं में वल्लभदेव द्वारा उद्धृत कवि कालिदास का श्लोक, तथा दोनों में प्रस्तुत हुई टीकायें परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। अतः प्रश्न उठता है कि वल्लभदेव की टीका को शारदापरम्परा में संचरित करनेवाली 'रघुपञ्चिका' मौलिक (Original) होगी, या देवनागरी-परम्परा में संचरित होनेवाली 'रघुपञ्जिका' मौलिक होगी ? यदि दोनों परम्परा के श्लोकपाठ में, एवं टीकापाठ में सर्वथा विभिन्नता है तो, पाठालोचन की प्रक्रिया में सहायक-सामग्री के रूप में वल्लभदेवकृत मानी जाती 'रघुपञ्चिका' और 'रघुपञ्जिका' में से किसका विनियोग किया जाय? यह प्रश्न दुःसाध्य बन जाता है।

(5)

'रघुपञ्चिका' (शारदापरम्परा) द्वारा उद्धृत रघुवंश के श्लोकों का पाठ, तथा 'रघुपञ्जिका' (देवनागरीपरम्परा) द्वारा उद्धृत रघुवंश के श्लोकों का पाठ भी अनेक स्थान पर परस्पर से भिन्न है। इसके कतिपय अन्य उदाहरण देखेंगे-

(1)श्रीनन्दरगीकरजी ने वल्लभदेव के नाम से 'तदन्वये' इति रघुवंश (1-12) श्लोक का एक पाठान्तर 'राजेन्द्रः' दिया है। यह पाठान्तर रघुपञ्जिका टीका में दिखाई दे रहा है। और 'रघुपञ्चिका' टीका में 'राजेन्दुः' पाठ को स्वीकार किया गया है।

(2)श्रीनन्दरगीकरजी के द्वारा रघुवंश (प्रथमसर्ग के) मूलपाठ में 'संतानार्थाय..... (1-34)' श्लोक को अधिकृतपाठ के रूप में रखा गया है। परन्तु 'रघुपञ्चिका' में यह श्लोक ही नहीं है। दूसरी ओर रघुपञ्जिका टीका में यह श्लोक को उद्धृत करके, उस पर टीका भी लिखी गई है।

(3)श्रीनन्दरगीकरजी ने 'सेव्यमानौ....' इति (रघुवंश 1-38) श्लोक के पाठान्तरों में वल्लभदेव के नाम से 'उत्करैः' शब्द को दिया है। परन्तु 'रघुपञ्चिका' में 'उत्किरैः' ऐसे पाठभेद को माना गया है। जब कि 'रघुपञ्जिका' में तो 'उत्करैः' ऐसे पाठान्तर को मान्यता दी गई है।

(4)श्रीनन्दरगीकरजी ने 'रघुवंश' (1-49) में 'वनान्तराद्..' इति श्लोक का पाठान्तर 'स्कन्धसद्र समित्कुशैः' ऐसा पादटिप्पणी में वल्लभदेव के नाम से दिया है। जो 'रघुपञ्चिका' की टीका में स्वीकृत है। परन्तु 'रघुपञ्जिका' में तो 'समितिकुशफलाहारैः' ऐसे पाठ को मान्यता दी गई है।

(5)श्रीनन्दरगीकरजी ने रघुवंश (1-49) में वनान्तरादुपावृत्तैः इति श्लोक के उत्तरार्ध के पाठान्तर के रूप में, वल्लभदेव के नाम से 'अग्निप्रत्युद्गमात् पूतैः पूर्यमाणं तपस्विभिः।' को दिया है। यह पाठ शारदापरम्परावाली 'रघुपञ्चिका' टीका में है। परन्तु देवनागरीपरम्परावाली 'रघुपञ्जिका' टीका में तो - '*पूर्यमाणमखश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः*' ऐसा पाठ स्वीकारा गया है।

उपर्युक्त पाँच तुलनात्मक उदाहरणों से यह दिखाई दे रहा है कि श्रीनन्दरगीकरजीने वल्लभदेव के नाम से जो पाठान्तर पादटिप्पणी में रखें है उनमें से कतिपय 'रघुपञ्जिका' टीका में से लिये गये हैं, तो अन्तिम दो उदाहरण (4 एवं 5) ऐसा बता रहा है कि श्रीनन्दरगीकरजी ने वल्लभदेव के नाम से दिये हुए पाठान्तर शारदापरम्परावाली 'रघुपञ्चिका' टीका में से लिये हैं।

अतः, एक यक्ष-प्रश्न उठ खडा होता है कि 'रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' टीकाओं में से कौन सी टीका कश्मीरदेश-निवासी आनन्ददेवायनि वल्लभदेव ने लिखी थी ?

(6)

पूर्वनिर्दिष्ट डा. अर्पिता जी. पटेल के शोधप्रबन्ध में यद्यपि शारदालिपि में लिखी गई एक भी पाण्डुलिपि का विनियोग नहीं किया गया है, तथा उसकी परम्परा 'रघुपञ्चिका' से भिन्न है – यह बात ध्यान में ही नहीं आई थी। परन्तु उन्होंने यह बात जरूर बताई है कि (केवल) देवनागरी परम्परावाली 'रघुपञ्जिका' टीका (भी) दो स्वरूपों में प्रवाहित हुई है –

वल्लभदेव का स्वहस्तलेख :

'कुमारसम्भव' महाकाव्य पर वल्लभदेव ने जो टीका लिखी है, और डा. गौतम पटेल ने जिसका सम्पादन किया है वह भी तीन तरह की पाठपरम्परा में प्रवाहित हुई है – ऐसा डा. पटेल ने अनुमान किया है। जैसे कि 1. लघुटीका, 2. बृहट्टीका तथा 3. सारोद्धारा टीका। लेकिन एक ही टीकाकार के द्वारा लिखी गई एक ही टीका के तीन-तीन स्वरूप कैसे और क्यूँ बने ? ऐसा प्रश्न स्वाभाविक रूप से किसी को भी हो सकता है, लेकिन डा. गौतम पटेल ने यह प्रश्न नहीं उठाया है। अत: इस सम्पादन के विषय में भी दो-तीन नुक्ताचीनी करनी आवश्यक बन जाती है – (1) डा.पटेल शारदालिपि नहीं जानते थे, इसलिए पूणे स्थित श्री भावसारजी की साहाय्य से उन्होंने शारदा के केवल पाठान्तर उल्लिखित करके सन्तोष माना है। उन्होंने शारदालिपिवाले पाठ से देवनागरी पाठपरम्परा सर्वथा भिन्न है कि नहीं? इस प्रश्न पर विचारणा नहीं की थी। तथा (2) डा. पटेल जिसको 'भ' (भाण्डारकर ओ.रि.इन्स्टी. वाली) पाण्डुलिपि के पाठ को 'बृहट्टीका' वाली परम्परा कहते हैं, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि उनके सम्पादन में कहीं पर भी पादटिप्पणी में 'भ' का अधिकपाठ उल्लिखित नहीं किया है। वस्तुत: 'व' (विश्वेश्वरानंद), 'न' (नेवारी), एवं 'ब' (बरोडा), तथा 'शा.' (शारदा), एवं 'ल' (एल.डी.इण्डोलोजी) पाण्डुलिपियों के पाठ को ही 'बृहट्टीका' के रूप में घोषित करना चाहिए – ऐसी पादटिप्पणियाँ देखकर साफ प्रतीत होता है। (3) 'मु.शा.' (नारायण मूर्ति, सम्पादित और जर्मनी से प्रकाशित शारदापाठवाली वल्लभदेव की) टीका को भी 'वृहट्टीका' कहनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक श्लोक की टीका के अन्तिम भाग में व्याकरणविषयक चर्चा करनेवाला कुछ अधिकांश दिखाई पडता है, जो डा.पटेल ने पादटिप्पणी में रखा है। (3) सम्भवत: रघुवंश की तरह कुमारसम्भव पर वल्लभदेव के द्वारा जो टीका लिखी गई है वह भी दो-तीन परम्परा में प्रवाहित हुई है ऐसा यदि निश्चित होता है तो उनमें से कौन सी परम्परा का पाठ मौलिक होगा यह भी गवेषणीय था। लेकिन डा. गौतम पटेल ने ऐसे गम्भीरतम प्रश्न को उठाया ही नहीं है। सारभूत रूप से कहना होगा कि वल्लभदेव की टीका चाहे वह रघुवंश पर लिखी गई हो, या 'कुमारसम्भव' पर लिखी गई हो उसका मौलिक रूप न केवल प्रदूषित ही हुआ है, परन्तु सर्वथा बदल ही गया है, और उसका जो द्वैविध्य दिखाई दे रहा है, वह उस टीका की द्विकर्तृकता को ढूँढने के लिये हमें बाध्य करता है।

(7)

वल्लभदेव ने कालिदास के मेघदूत पर भी टीका लिखी है। इस टीका के भी दो तरह के संस्करण अद्यावधि प्रकाशित हुआ है। यदि इन दोनों का भी तुलनात्मक अभ्यास किया जाय तो

(8)

उपसंहार : रघुवंश के पाठसम्पादकों में से (1) श्री नन्दरगीकरजी ने टीकाकारों के पास संचरित हुए 'रघुवंश' के पाठ को द्विविध शाखाओं में विभक्त जरूर किया है। जिसमें वल्लभदेव, हेमाद्रि तथा चारित्रवर्द्धन की एक समान पाठपरम्परा, और दूसरी पाठपरम्परा जो मल्लिनाथ द्वारा अनुसृत है –वह दोनों को अलग

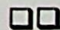
पहचानी गई है। परन्तु वल्लभदेवकृत मानी जानेवाली 'रघुपञ्चिका' और 'रघुपञ्जिका' में से कौन सी टीका को मौलिक मानी जाय? यह समस्या नहीं पहचानी है। (2) पण्डितमूर्धन्य श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदीजी भी वल्लभदेव की टीका के द्वैविध्य की समस्या से शायद अभिज्ञ नहीं है। ऐसी स्थिति में कहना होगा कि 'रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' के टीकाकार (आनन्द देवयानि) वल्लभदेव समय की दृष्टि से प्रथम टीकाकार हो तो भी, जब तक 'रघुपञ्चिका' या 'रघुपञ्जिका' की मौलिकता का संशय निरस्त नहीं किया जाता है तब तक पाठालोचन में वल्लभदेव की टीका का विनियोग नहीं किया जा सकता है।

सन्दर्भ-सूची

1. Works Cited kumar, D. S. (1970), The *Meghadūtam* of Kālidāsa, New Delhi: Sahitya Akademy.
2. Nandargikar, G. R. (1971, Fourth edition). The Raghuvaṃśa of Kālidāsa, Delhi: Motilal Banarasidass, सुभेदार. (1965). मेघदूतम् (वल्लभदेवस्य टीकया सहितम्), मुम्बई.
3. कालिदाससमारोह (9-15 Nov. 2008), विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जयिनी में प्रस्तुत शोध-आलेख।
4. Thus, on the strength of .... the first half of the 10th century may be laid down as the date of Vallbhadeva – *Meghadūta* with Vallabhadeva, (3rd edition), Published by L-M- Subhedar, Bombay, 1965, (p. 30)
5. The *Meghadūta* of kalidasa, Ed. Sushil kumar De, pub, Sahitya Akademi, New Delhi, IInd edition, 1970 (Introducation, P.16)
6. The *Raghuvaṃś* of kālidāsa, Ed. By Gopal Raghunath Nandargikar, Motilal Banarasidass, Delhi, Fourth edition, 1971 (Introduction, P-13)
7. For this very reason we have adopted the text and commentary of Mallinath in preference to those of the other commentators, Ibid, P. 13

   इस शोधप्रबन्ध में प्रयुक्त देवनागरी पाण्डुलिपियाँ निम्नोक्त हैं-(1) दवाशा का पाडा, रिलीफरोड, अहमदाबाद,
8. M.S. no. 3112(2), BORI पूणे से पाँच प्रतियाँ प्राप्त की गई थी:- क्रमांक-574/449/1887, 88, 89, 90, 91 (Vol. X AII, part II, पृ. 229-235), (3) ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, वडोदरा से MS. No. 11298, (4) सम्पूर्णानंद सं.वि.वि. ms. No. 42257, तथा (5) अड्यार लाइब्रेरी, चेन्नई से 287 XII, C&35 क्रमांक की एक प्रति (कुल मिला कर 18 प्रतियाँ थी, इनमें से जो पाँच पूर्ण थी उनका विनियोग किया गया है।)
9. (1) London, India Office ms. 3831a, (2) Ujjain, ms. 4513, (3) BORI, Poona, ms. 83 of 1883&4, (4) Oriental Institute Barodara, ms. 1837a, (5) Berlin, Janert collection, HS. Or. 11742, (6) British Museum, London, MS. Or. 11746, (7) Gottingen, MS. Sanscr. Vish- 109, (8) Rambir Skt- R&Insti, Jammu, MS- 492 (Kashmirian Nagari), (9) Bodleian Library, Oxford, MS. Stein Or- D- 74, (10) Gottingen, Ms. Mu I 58 (Catalogue no. & 818).

● निदेशक, भाषासाहित्यभवन, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद - ३८०००९



Lokanyāya and the theory of *śābdabodha*

B.K.Dalai

(अस्मिन् शोधपत्रे शाब्दबोधप्रसङ्गे लोकन्यायस्य भूमिका रेखाङ्किता वर्तते। केचन प्रतिनिधि-भूताः लोकन्यायाः विविधशास्त्रेभ्यः अत्र सङ्कलिताः सन्ति ये शाब्दबोधप्रक्रियायां प्रासङ्गिकाः वर्तन्ते। लोकन्यायमधिकृत्य यानि महत्त्वपूर्ण-प्रकाशनानि उपलभ्यन्ते अत्र तद्विषयेऽपि सूचना प्रदत्ता विदुषा लेखकेन। अपरञ्च अत्र लोकन्यायानामावश्यकताविषयेऽपि ऐतिहासिकं विश्लेषणं कृतमस्ति।)

It is proposed to present a critical review of the usefulness of *lokanyāya* along with an examination of the available literature on the subject in its historical perspectives. Elsewhere commenting on the earlier collections of *lokanyāyas,* the present author has mentioned that 'It will serve two important purposes' : it will acquaint us with the huge potentialities and significance of these *nyāyas*. It will also motivate young researchers to work more seriously on specific problems vis-a-vis *lokanyāyas*, i.e. use of *lokanyāyas* in interpreting śāstric texts, *lokanyāyas* and their utility in jurisprudence, *lokanyāyas* and problem of *śābdabodha* etc. (vide Dalai: 2001; *Laukikanyāyasāhashrī*, Introduction, p.xxiv). Through this paper a further case is made to justify this claim and to impress upon the scholars and the readers in general the fact that more serious attempts should be made to study the *lokanyāyas*. Before proceeding further let us record the meanings of *nyāya* here :

The word *Nyāya* in different context signifies different meanings. Apte V.S. in his Sanskrit Dictionary has recorded some fourteen meanings of the term, which I reproduce here :

1. Method, manner
2. Fitness, propriety
3. Law, justice, Virtue, equity, righteousness.
4. A law suit
5. Judicial sentence
6. A popular maxim
7. Policy, good government
8. An opposite illustration
9. Vedic account
10. A universal rule

11. System of Hindu philosophy founded by the sage Gautama
12. Syllogism
13. primarily the rules of exegesis
14. examining the nature of things.

Of these the most common and frequent meanings are logic, justice, reason .

The term *nyāya*, denoting some kind of reasoning, seems to be a word originally obtaining in the *Pūrva-Mīmāṃsā* school. In the older literature, *nyāya* is the designation of the *Pūrva-Mīmāṃsā* as is evident from two passages of the *Āpastamba-Dharmasūtra*[1]. It seems that primarily the rules of exegesis, propounded in the *Pūrva-Mīmāṃsā* school were called *nyāyas*. The term *nyāya*, as applied to popular maxims (*loka-nyāyas*), seems to be used in the sense of the word current in the *Pūrva-Mīmāṃsā* school, rather than in its latter meaning, viz, inference or syllogism of logic.

The principles of exegesis that were being developed in the *PūrvaMīmāṃsā*-school inferential reasoning occupied an important position of being a general nature, as distinguished from a particular metaphysical system. In the initial stage of its development, it seems that it was known as *ānvikṣikī* which was also an appellation of philosophy in general. It appropriated the name *Nyāya* for itself in place of the term *ānvikṣikī* in later period.

Besides, the adoption of the term *nyāya* from the *Pūrva-Mīmāṃsā* school and the fact that the Nyāya is allied to the *Vaiśeṣika* which originally grew in the *Pūrva-Mīmāṃsā*, there is a striking resemblance in the conception of the term *nyāya* in the two schools. In the *Nyāya-* school, the word *nyāya* primarily means *anumāna* which is of two kinds: *svārthānumāna* (simple inference for one's own sake) and *parārthānumāna* (full discussion in the form of a syllogisim of five constituents). In the *Pūrva*-Mīmā*ṃsā* school, it means either a simple exegetic rule or an *adhikaraṇa* (full topical discussion) which also consists of five parts. This is different from the commonly understood five members syllogism of *nyāya*, employed in the inference of others *pañcāvayava-vākya.* What all these suggest is : an unmistakable evidence of an early connection of the *Nyāya* with the *Pūrva-Mīmāṃsā* school.

Even the term *nyāya*, denoting some kind of reasoning, seems to be a word originally obtaining in the *Pūrva Mīmāṃsā* as well. In the older literature, *nyāya* is the designation of the *Pūrva-Mīmāṃsā* as recorded before.

But the use of the term *nyāya* continued in the *Pūrva*-Mīmā*ṃsā*- school even after its appropriation by the *Nyāya*-school. Many of the *PūrvaMīmāṃsā* works bear that word in their title. e. g., *Nyāya-kaṇikā, Nyāya-ratnākara, Nyāya-ratnamālā, Jaiminīya-nyāyamālā, Nyāya-bindu* (to be distinguished from the *Nyāya-bindu* of Dharmakīrti) and *Nyāya-sudhā* are some of the *Pūrva-Mīmāṃsā*-works which bear the word nyāya in their titles.

Coming to the *loka-Nyāya,* it is well-known as a group of words conveying some incidents or events, based on worldly dealings or experiences. Such group of words is also called a maxim or an *adage*. It also conveys some special type of

behaviour not only of the human being but also of the birds and animals. The maxim, thus formed, does not always directly indicate the pattern of behaviour, unless the pattern involved is expatiated. Thus, many *Nyāyas* are properly understood by the references to the context of the anecdotes or events.

There are many attempts to collect and study the *loka-Nyāya* by ancient as well as modern authorities. There are a number of independent collections with or without expositions which will be given in the following Paragraphs:

To begin with, Professor Bala shastri has explained only nine *nyāyas* in the most celebrated Journal in Sanskrit.[2] Pandit Satyavrat *Shastri* in 1875 published a small collection of 36 popular *Nyāyas* together with a farely large number of purely technical ones with at least one reference to each *nyāya*. *Vācaspatyam* of Taranatha Tarkavācaspati : ***Bṛhat Sanskṛtābhidhānam*** gives a collection of 151 nyāyas popular as well as technical and the reference to theire original sources are few and far between.[3] V S Apte's Dictionary gives a collection of some 30 *nyāyas* starting with *andha-caṭaka-nyāya* the last one being *sthūṇānikhananānyāya*. All these *nyāyas* occur in *Vācaspatyam* of Tārānātha. The *nyāyas* are explained in English without recording the sources (pp.573-575).

Colonel G.A.Jacob has collected one hundred *Nyāya*s and published under the title: A Handful of *Loka-nyāyas*. Again after two years in 1902 Colonel G.A.Jacob brought out one hundred more *Nyāya*s and published them in the same title: A Handful of *Loka-nyāyas.* This second volume is primarily based on Raghunatha Varma's *Laukikanyāyasaṃgraha*.

He, in 1905, collected a third lot of more than a hundred along with hundred *Nyāya*s and published with a title: A Handful of *Loka-nyāyas*, and subsequently two hundred more which are combined in one volume. *Mimāṃsākoṣa* of Yudhisthira Mimāṃsaka has included nyāyas particularly related to MĪmāṃsā with explanation and also often naming the source. *Nyāyako*ṣa of Bhimācārya Jhalkikar, the only Dictionary of *Nyāya* records very few *loka-nyāyas*. MM P.V. Kane in his magnum opus : History of *Dharmaśāstra* in five volumes has discussed some of the *lokanyāyas* particularly related to *Mīmāṃsā* and *Dharmaśāstra* in different places. In the appendix of the last volume of the series published from BORI in 1962. Some one hundred seventy one (171) *nyāyas* are given with explanation starting with *agnihotranyāya* and ending in *holākādhikaraṇanyāya.*[4] The author states : It would be helpful to the students of *PūrvaMīmāṃsā* and *Dharmaśāstra*. Several of the *nyāyas* mentioned here do occur in the *Lokanyāyāñjali* in three parts. In some cases his explanations are not accurate or satisfactory. But one must not forget that he wrote it about half a century ago (vide appendix, section VII.Cha.XXX.pp.1339-1351). MM Kane, however, has not only elaborated upon these *nyāyas* which are mostly technical used in interpreting *Mīmāṃsā* and *Dharmaśāstra* Texts, but also records more than a hundred *lokanyāyas* with explanations. Prof. Ranganath Sharma also contributes to this field in the form of his *Laukikanyāyagal*: a selection of some 212 *nyāyas* with brief explanation in Kannad language. No reference is made to these sources.

There is a collection of verses called *Laukika-nyāya-Śloka* explaining some popular maxim with suitable illustrations. It consists of 107 verses selected from an anonymous work called *Aṣṭottaraśata-nyāyaślokas*, a manuscript of which is preserved in the Library with a (No.70018).

Ramakishore Shukla, brought out a volume in Sanskrit : *Vyākaraṇaśāstre Laukikanyāyānāmupayogaḥ*, published from Varanasi in 1992. Some one hundred sixty-seven *nyāyas* are collected from the major texts of Grammar . Each *nyāya* is explained in Sanskrit. Chabinath Mishra in his *Nyāyoktikośa*[5] has collected some 406 nyāyas arranged in alphabetical order. The *nyāyas* are given in Sanskrit with translations in English and Hindi.

Mishra Rangeśvaranath and Mishra Ramachandra published a volume : *Laukikanyāyaratnākara* by an unknown author[6].Very recently in 2009 MM Pt. Sri Ramachandrudu has discussed some *lokanyāyas* occurring in *Mahābhāṣya* in a volume titled " The Nectar-Drops of Fine Statements in Patañjali' *Mahābhāṣya* published from Hydrabad. As the title suggests the volume was not meant for elaborating *lokanyāyas* but quite many *nyāyas* are explained indirectly. Prof. Dr.R.Srihari, Retired vice-chancellor, Dravidian University, Kuppam-a well-known Telgu-Sanskrit Scholar, has written a *Nyāyakośa* in Telugu. It was published by Surabharati Samiti, Hyderabad in 1993. Prof. P. G. Lalye with exposition in English and reference form the original, published by Bhāratīya Kalā Prakāśana, Delhi, 2006.

Recently the present writer has brought out a volume by Bhuvaneśa titled *Lauikīkanyāyasāhashrī* with an English introduction in 2011.[7]

In the present paper we will try to show as to how the *Loka-nyāyas* are important in philosophy of language, particularly, in the context of *śābdabodha*. We will first quote here a few selected *Loka-nyāyas* which are relevant in the context of verbal understanding and explain some of those as representatives to bring home the point :

अनन्यलाभः शब्दार्थ इति न्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 712)

आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिरसहकारिणीति न्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 233)

एकसबन्धिदर्शनमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 11)

रूढिर्योगमपहरतीति न्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 234)

कदम्बमुकुलन्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 230)

कदम्बकोरकन्यायः (*Nyāyasāhasrī*)

खलेकपोतन्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 184)

नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसंक्रामतीति न्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 462)

नागृहीते विशेषणे विशिष्टे बुद्धिरुदेति (*Nyāyasāhasrī*)

पदार्थः पदार्थेनान्वेति न पदार्थैकदेशेनेति न्यायः (*Nyāyasāhasrī*, 266)

प्रकरणाद्वाक्यं बलीय इति न्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 856)

प्रधाने गृहीतेऽप्रधानग्रहस्यान्याय्यत्वादिति न्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 538)

विशेषणे विशिष्टं केचन प्रत्येतुमर्हन्ति: (1.3.33, page 82)

व्यक्तिन्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 267)

यत्पर: शब्द: इति न्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 784)

युगपदेव विशेष्ये विशेषणं तत्रैव च विशेषणान्तमिति न्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 183)

वीचितरङ्गन्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 229)

सर्वं विशेषणसावधारणमिति न्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 96)

सर्ववाक्यं सावधारणमिति न्याय: (*Nyāyasāhasrī*, 97)

It is not possible to explain all the *nyāyas* quoted and this is not my intention to do so as well. However, I shall comment upon very few *nyāyas* which are interesting and at the same time significant.

Before that let me introduce the theory of *śābdabodha* in brief. We have elaborated discussion on this on several volumes for which reference may be made to any work on Indian Philosophy of language.[8]

In the most simplest term the *śābdabodha* involves the following process.

I. Articulation of the linguistic sound.

II. Listing or hearing the sound by the organ.

III. Remembering the sense or meaning through *vṛtti*

IV. Arriving at the sentence meaning

And here ends the process of *śābdabodha*. Let us now see how *lokanyāyas* are useful in this process. With regards to the first and second steps of the above mentioned process, a question is always asked : How do we hear or in other words, how the articulated sound reaches our organ of hearing. This is explained by the employment of two *nyāyas*, namely, वीचीतरङ्गन्याय and कदम्बमुकुलन्याय.

This is used by the author of the *Bhāṣāpariccheda*. (verses 165, 166) to account for the production of sound. He says:

सर्व: शब्दो नभोवृत्ति: श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते।
वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
कदम्बकोरकन्यायादुत्पत्ति: कस्यचिन्मते।।

Almost the same words are used by Vedantin Mahadeva in his comment on *Sāṅkhyasūtra* (V.103) : किन्तु शब्द एवं वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता। कदम्बमुकुलन्यायेन वा श्रोत्रदेशं गत: श्रोत्रेण गृह्यते'. But sound comes to the seat of hearing in the same manner as the undulating waves [of water], or as the anthers of a *Kadamba flower* and is, thus, apprehended by the ear.[9]

The commentary, *Sidhāntamuktāvali,* however, explains कदम्बगोलकन्यायात् and this is the form given to the maxim in the *Vācaspatyam* which explains it as follows : कदम्बगोलकस्य गोलकारकदम्बस्य सर्वावयवेषु यथा युगपत्पुष्पोद्गम एवं सर्वप्रदेशेषु युगपद्यत्र प्रसारस्यास्ति प्रवृत्तिः. In Vedāntin Mahadeva's comment on *Sāṅkhyaśāstra* (V. 103), we have a third form, namely, कदम्बमुकुलन्याय.

As regards the third step the *nyāya* : एकसम्बन्धिदर्शनमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्याय is employed. When one listens a word he remembers its meaning following this *nyāya*. But how can one remember the meaning or rather the intended meaning and if there are more than one meanings available or the meaning is ambiguous or there is scope of confusion, the *nyāyas* come to our aid and guide us as to the correct method. Thus, we elaborate here few *nyāyas* useful in deciding the word-meaning in a sentence.

(i) The sense attached to words by current usage prevails:

Śabara in the very opening sentence of his *Bhāṣya* enunciated this principle and points out the elaborateness of the syntactical construction if the principle is not strictly followed. Thus, in a case where a word may be taken either in the primary or in the secondary or etymological sense, it should be taken in the primary sense.

Jaimini devoted one *adhikaraṇa* (6.1.44-50) to illustrate this principle wherein it has been proved that the word *'rathakāra'* should be understood in the current or popular sense of a 'member of the caste known by that name, and not in the sense of a 'chariot-builder' which is arrived at an elaborate process of etymology.

Similarly in JS 3.2.1-2, it has been concluded that the word *'barhis'* should be understood in the (primary) sense of *kuśa* (grass) and not in the (secondary) sense of other similar kinds of weed. This canon is found employed in *Mahābhāṣya* 1.1.15, 6.3.46 and also in *Śāṅkarabhāṣya* 4.3.12.

(ii) Aryan usage of a word *prevails* as against *Mleccha* or foreign usage of the same word :

Śabara proves under JS 1.3.8-9 that words, which are used in the religious texts, ought to be taken in the sense attached to them by Aryan usages. To take an instance, the word *'yava'* has two meanings. It means 'barely' and also a kind of corn of the same species called *'priyaṅgu'*. Now, since the *Āryan* texts define the word *'yava'* to mean 'barely'. It must be taken in that sense alone and not in the other sense.

(iii) Foreign words to be taken in their foreign sense:

Words that are definitely foreign but are in vague in Sanskrit are to be taken in the sense, which they bear, in the foreign language. No attempt with the help of Sanskrit etymology etc. should be made to arrive at a meaning other than the popular one. Śabara points out in JS 1.3.10 that the foreign word *'tamarasa'* means a lily flower with the foreigners. It should, therefore, be taken in that sense though such a sense of the word is not to be met within the Vedic vocabulary.

(iv) A word is to be understood in the sense suitable for the act concerned:

'Sruvenāvadyati, svadhitināvadyati, hastenāvadyati'. In this passage, the same word *'avadyati'* occurs thrice. It should, however, be taken in three slightly different senses so as to suit the performances of the action. Thus, in the first clause *'avadyati'* means taking out a portion from liquid substance, in the second, it refers to the apportioning with the help of an edged instrument, while in the third, it indicates the simple sense if 'taking out a portion of' (JS 1.4.25). Similarly, JS 3.1.11 points out that words like *'sphyā', kapāla'* are to be taken in their slightly modified sense so as to suit special use at a sacrificial performance.

(v) Word used in a qualified sense:

If the literal interpretation of a word would make another word meaningless the former should be interpreted in a qualified sense. There is a text: *viśvajiti sarvasvam dadāti, dvādaśaśatam dadāti* (Aps). In this text, if we construe the word *'sarvasva'* (whole property) there whould be no meaning in the expression : "He offers the whole property as well as one hundred and twelve (coins) as *'dakṣiṇā'*. Therefore, the meaning of *'sarvasva'* is land and valuables excluding minor articles (JS 6.7.1-2 and *Adhikaraṇa kaumudī*, para 4).

(vi) One word must not have several senses:

One word must be uniformly taken in one and the same sense to avoide ambiguity (JS 3.2.1-2). However, where a word would be unmeaning except in a figurative sense, it should be taken in a figurative sense. Thus, in *'āditya yūpaḥ,' 'yajamānaḥ prastaraḥ'*, the word *'āditya'* means bright and *'yajamāna'* means 'capable of bringing the desired fruit like the *yajamāna* himself' (JS 1.4.23).

(vii) The peculiar feature of one leading object belonging to a class may give name to the whole class:

This is a principle which is often made use of in the common paralance. The technical illustration that JS given is as foillows : *'Prāṇabhṛt'* (lit. 'inspiring lie') denotes a kind of brick in the context of TS 5.2.10. But other bricks used in the same rite along with the *'Prāṇabhṛt bricks'* are also indicated by the same expression '*Prāṇa-bhṝt*' (JS 1.4.23f).

Nanda Pandit in his *Dattaka-Candrikā* refers to this maxim to establish that although the word 'substitute' (*pratinidhi*) was primarily applied only to six descriptions of sons, it acquired an extended, secondary sense, according to which it includes all the twelve descriptions of sons.

(viii) Sense of a vague word to be determined from what follows:

When a word is left vague, its meaning should be made definite by reading it with the passage or passages that follow. They often throw some hints regarding the meaning of the word, and thus, go a long way in determining the exact meaning of the word. In the passage *'aktaḥ sarkara upadadhāti'* (TB 3.1.2.5) the question is that what are they to be besmeared with. The following passage, *'tejo vai ghṛtam'* indicates beyond doubt that it is ghee that is to be used for this purpose (JS 1.4.24))[10].

(ix) An action having more than one adjective must be taken to refer to the same one

When a word indicating an action has got more than one adjective used in the text, all these adjective must be taken to refer to the same one action and not to separate implied actions. Jaimini illustrates this maxim by the passage, *'aruṇayā piṅgākṣyā ekahāyanyā somaṃ kriṇāti'*. Here all the three adjectives *'aruṇayā'* etc. must be taken to refer to one object viz. the animal cow. They should not be taken to refer to different objects such as a piece of cloth (red coloured), a cow (one year old) and so on; for, that would violate the action of *'lāghava'* (simplicity). All these adjectives go together to describe an animal that possesses a reasonable purchasing power (JS 3.1.12).

(x) Popular usage overpowers etymological meaning

We met with an illustration of this in the *Vivaraṇaprameyasaṅgraha* 3. (p.p. 134, 135) where Bādarāyaṇa's first *sūtra* is under discussion: ननु जिज्ञासाशब्दो विचारे रूढः। भाष्यकारादिभिस्तत्र विचारविवक्षया प्रयुक्तत्वात्। अतो रूढिर्योगमपहरतीति न्यायेनावयवार्थस्वीकारो न युक्तस्ततोऽर्थशब्दोऽप्यधिकारर्यो भविष्यतीति विचारयन् प्रारब्धुं शक्यत्वादिति चैन्मैवम्। रूढिर्योगमपहरतीति न्यायस्यात्राप्रसारात्। .... तत्र यः शब्द एकत्रार्थे रूढोऽपरत्र यौगिको यथा च्छागे रूढोऽजशब्द आत्मनि यौगिकस्तत्राजं पश्येत्युक्ते रूढिर्योगमपहरतीत्यत्र न्यायः प्रसरति। इह तु जिज्ञासाशब्दो न विचारे रूढः. The following verse is quoted in the *Nyāyapradīpa,* a commentary on *Tarkabhāṣā* :

लब्धात्मिका सती रूढिर्भवेद्योगापहारिणी।
कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगबाधतः।।[11]

(xi) Particular [or distinguishing] knowledge does not arise until that which particularises

Particular [or distinguishing] knowledge does not arise until that which particularises [or defines, the object in quesation] has been grasped. It is in this form that the *nyāya* is found in *Kusumāñjali-* iii 21 (p. 527), but in *Tantravārttika* (p. 258) it appears in the contracted form नागृहीतविशेषणेति न्यायेन and, on page 287, as अगृहीतविशेष्यबुद्धिर्न दृष्टा:. In Madhava's *Nyāyamālāvistara* 3.1.6 it is quoted as, and in *Saptapadārthi*, p. 2, line 6, as नागृहीतविशेषणाविशेष्यबुद्धि:. In his commentary on *Tārkikarakṣā*, Mallinātha twice (namely, on p. 47 and 107) cites the maxim in the contracted form adopted by *Kumārila,* whilst *Raghunathavarma's* version of it is नाज्ञातविशेषणा विशेषबुद्धिर्विशेष्यं संक्रामति. In *Nyāyasūtravṛtti* ii. 126 (=2.2.58) it appears as नागृहीतविशेषणान्याय and Dr. Ballantyne renders it, cognition which does not apprehend the distinction, cannot infer [the nature of] what is to be distinguished. The *nyāya* occurs five times in *Nyāyamañjarī* [12]. In Sir Monier Williams Sanskrit Dictionary विशिष्टबुद्धि is defined as differenced or distinguishing knowlege (e.g.the knowledge of a man carrying a staff which distinguishes him from an ordinary man) of an object distinguished or characterised by something (whether a property or an accident) standing out in some speciality.

I conclude this small paper with the observations that it will instigate and generate interests in young researchers to investigate more seriously on the *lokanyāyas* particularly in the area of sentence- interpretation, grammar and philosophical literature.

References

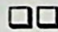
1. *Āpastamba-Dharmasūtra* - II.4.8.13 &II.6.14.13
2. The Pandit, October and December, 1867
3. Vācaspatyam,Vol.V,1962
4. History of *Dharmaśāstra* Vol.V., Part-II. BORI, 1962
5. Ajanta Publications, New Delhi, 1978, also see Singh, Bijai, Sanskrit maxims and Proverbs, Nag Publishers, Delhi 19
6. Darbhanga Sanskrit University Publication, Darbhanga, 1982
7. *Laukikanyāyasāhashrī* ed. B K Dalai, Pratibha Prakāśan, Delhi, 2011
8. Indian Theory of Language, ed.B. K. Dalai, CASS, University of Pune, 2008 *Nyāyasiddhāntadipa,* Tr. By B K Dalai, Pratibhā prakāśan, Delhi, 2005
9. Also c.f. कदम्बकोरकन्याय: The maxim of the buds of the *Kadamba* tree. They are said to burst forth simultaneously. As per example, in Hemacandra's *Pariśiṣṭaparvan* i. 241 :

   पित्रा स्वपाणिपद्मेन स्पृश्यमानोऽवनीपति:।
   उत्कोरककदम्ब भो वभूव पुलकाङ्कुरै:।।

   In the *Nyāyamañjarī*, page 214 and 228, this *nyāya* is given as an illustration of the way in which sound is produced :

   वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
   कदम्बकोरकन्यायादुत्पत्ति: कस्यचिन्मते।। (*Bhāṣāparichchheda*, verse No. 166)
10. See Concept of *Vākyaśeṣa*, Dalai B. K., Journal of Intellectual Tradition, ed. by Dalai B K., CASS, University of Pune, 2006. pp.109-118
11. See also *Pañcapādikāvivaraṇa*, pp. 132-3; *Vedāntakalpataru*, p. 207 ; and Ānandagiri on *Brahmasūtrabhāṣya* 1.3.42
12. *Nyāyamañjarī*, p. 320, line 19; 433, l-4 ; p.499, l-3; p.538, 6; and p.543, l7

• **CASS, University of Pune, Pune - 411007 (Maharashtra)**



अलङ्कारशास्त्रे मिथिलायाः योगदानम्

उदयनाथ झा

(The paper deals with the contribution of Mithilā to the field of poetries. The contribution includes all the works either in the form of original works or in the form of commentaries. The study is based on the works published so far or available in various manuscript-libraries. The paper can pacify the querries of the scholars and studuents on this particular issue.)

विदितमेव तत्रभवतां सहृदयानामाचार्याणां यत् संस्कृतवाङ्मये साहित्यशास्त्रस्यास्ति विशिष्टं महत्त्वमिति। विषयेऽस्मिन् मैथिलाचार्याणामपि ग्रन्थकाराणां बहूनि नामानि प्राप्यन्ते [1]। बहवः कवयः काव्यानुशासनकाराश्च मिथिलायां सञ्जाताः, येषु बहूनां नामानि 'मिथिलाङ्के'[2] कविशेखर-बदरीनाथझा- पं.त्रिलोकनाथमिश्राभ्यां प्रस्तुतानि। जयन्तीस्मारकग्रन्थेऽपि [3] पं.जनार्दनझा जनसीदनेन एका सूची प्रदत्ता। अन्यत्रापि कतिपयेषां नामानि प्राप्यन्ते।

भरतसूत्रव्याख्याकारेषु नान्यदेवः सुन्दरमिश्रश्च यत्रोल्लेखनीयौ, तत्रैव काव्यालङ्कारकार- दामोदरमिश्रः शृङ्गारतिलककारो नरहरिः, शृङ्गारहारकारः केशवात्मज-बलदेव-मिश्रः, अलङ्कारसारकारो बालकृष्णः, अलङ्कारमालासाहित्यालङ्कारयोः कर्ता भवानीदत्तः, रसविहारकारो माधवोपाध्यायः, शृङ्गारमञ्जरीकारो रतिकरः इत्येतेषां नामानि मुख्यानि सन्ति। अन्यासु रचनासु शङ्करोपाध्यायस्य रसचन्द्रिका, कुलपति-मिश्रस्य रसरहस्यं, गणपतिमिश्रस्य रसरत्नप्रदीपिकालङ्कारसुधाकरौ, जयदेवोपाध्यायस्यालङ्कारशतकम्, झोपाख्यस्य जीवनशर्मणः शृङ्गारसागरः, जीवनाथमिश्रस्यालङ्कारशेखरः, श्रीपतिठक्कुरस्य चित्रकाव्यविवेकः, यज्ञेश्वरसुत-लक्ष्मी धरस्यालङ्कारमुक्तावली, रामदेवमिश्रस्य रसविलासः, सुखदेवमिश्रस्य शृङ्गारलता, अपरशङ्करमिश्रस्य साहित्यकलिकादय उल्लेखनीया वर्तन्ते। व्याख्यानेष्वपि देवपाणिबहुरूपमिश्रयोः दशरूपकव्याख्ये, भगीरथमिश्रस्य काव्यादर्शव्याख्या, क्षोणीधरमिश्रस्य दशरूपकव्याख्या च वस्तुतोऽविस्मरणीयाः सन्ति।

मिथिलायां न केवलं नाट्यशास्त्र-काव्यप्रकाश-काव्यादर्श- काव्यालङ्कार- रसगङ्गाधर- ध्वन्यालोक-दशरूपक- साहित्यदर्पण-कुवलयानन्द-चन्द्रालोकादिषु ग्रन्थेषु व्याख्या कृता विद्वद्भिः, अपितु स्वातन्त्र्येण मौलिकतया वा ग्रन्थानामपि रचना कृता। साहित्यशास्त्र-जगति एतेषामाचार्याणां स्वतन्त्राणि तत्त्वानि, मौलिकोद्भावना, स्वकीयः सुष्ठु विचारश्चापि विद्यन्ते। परन्तु एतेषां विदुषामितिहासकारैरपि उपेक्षा प्राचुर्येण कृतेति चिन्तनीयम्।

पञ्चदशशतके विद्यमानस्य मैथिलपण्डितप्रवरस्य गोविन्दठक्कुरस्य घुसौतय-नगवारवंशावतंसस्य काव्यप्रदीपनाम्नी काव्यप्रकाशस्य व्याख्यापि स्वतन्त्रग्रन्थरूपैवेति मनीषिणः मन्यन्ते। यत्र च काव्यप्रकाशेऽपि निगूढं रहस्यं काव्यप्रदीपेनैव प्रकटितं भवति। एकमेवास्य श्लोकदीपिकापि काव्यप्रकाशं समुद्दीपयतितराम्।

गोविन्दठक्कुरात्मजेन देवनाथतर्कपञ्चाननेनापि काव्यप्रकाशस्योपरि एका सुमनोहरा व्याख्या काव्यकौमुदीति विरचिता, या च काव्यप्रदीपस्य अनुकरणे समर्थने च रचितेति मन्यन्ते मनीषिणः। काव्यप्रकाशस्य 'नरसिंहमनीषा' - व्याख्याकारः महो.नरसिंहठक्कुरः, 'मधुमती'-व्याख्याकारः रविठक्कुरः, 'काव्यदर्पण'-व्याख्याकारः रत्नपाणिठक्कुरः, भीमसेनदीक्षितस्य सुधासागरे चर्चितः काव्यप्रकाश-व्याख्याकारः अच्युतठक्कुरः इत्यादयोऽपि अस्मिन्नेव वंशे बभूवुः। अत्रैव गोविन्दठक्कुरस्य पौत्रः कण्टकोद्धारकारकस्य मधुसूदनठक्कुरस्य पुत्रः अलङ्कार-परिशिष्टकारः कृष्णानन्दोऽप्यविस्मरणीय आलङ्कारिकोऽस्ति।

काव्यप्रकाशस्य व्याख्याकारेषु यत्रान्यतमाः भवन्ति कल्याणोपाध्याय-गोकुलनाथ-जगन्नाथ-रुचिदत्तोपाध्यायाः, पद्मनाभ-भास्कर-मधुसूदन-शिवदत्तमिश्राः, पक्षधर-शङ्कर-रुचिदत्तोपाध्यायाः, रायरघुनन्दनरघुदेवमिश्र-श्रीधरठक्कुराश्च तत्रैव रसगङ्गाधरव्याख्याकारेषु शङ्करोपाध्याय-दीनबन्धुझा-कृष्णमाधवझा-प्रभृतीनां विदुषां नामानि नूनमुल्लेख्यानि वर्तन्ते। को वा न जानाति चन्द्रालोकशारदागमव्याख्याकारं सकलशास्त्रारविन्दाचार्यप्रद्योत-नाभिधं पद्मनाभमिश्रम् अथवा काव्यप्रकाश-काव्यादर्शयोस्सुधामधुव्याख्याकारमपर-वाचस्पतिमिश्रम् ? मिथिलानरेशकंसनारायणलक्ष्मीनाथस्य सभापण्डितः रामनाथोपाध्यायः काव्यप्रकाशस्योपरि 'रहस्यप्रकाश' - नाम्नीं व्याख्यां कृतवान्। एवञ्च राघवोपाध्यायेनापि वाग्भटालङ्कारकाव्यप्रकाशयोरवचूरिव्याख्या विरचिता। सरस्वतीकण्ठाभरणस्य व्याख्याकारेषु विवरणकारः जगद्धरठक्कुरः, रत्नदर्पणकारः, रत्नेश्वरमिश्रः, मार्जनाकारः विश्वेश्वरसुत- हरिनाथोपाध्यायस्त्वन्यतमास्सन्त्येव विभाकरोप्यविस्मरणीयो वर्तते। कुवलयानन्दोपरि यत्र देवीदत्तेन लघ्वलङ्कारचन्द्रिका विरचिता, तत्रैव धरस्य रसिकरञ्जिनी व्याख्यापि उल्लेखनीया वर्तते।

महादेवमिश्रेण विरचितां रसमञ्जरीव्याख्यां भानुभावप्रकाशिनीं रसतरङ्गिणीव्याख्यां रसोदधिनाम्नीं विद्वांसः प्रायेण जानते एव। सुखदेवमिश्रस्य शृङ्गारलता, भावमिश्रस्य शृङ्गारसरसी, श्रीकरमिश्रस्य अलङ्कारतिलकः, भास्करमिश्रस्य साहित्यदीपिका, सुबुद्धिमिश्रस्य तत्त्वपरीक्षा, साहित्यसर्वस्वनामिका काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिव्याख्या च अध्ययनाध्यापनादावप्रचलिता अपि प्रेक्षावतां समालोचकानां समक्षं प्रत्यक्षायमाणा एव। इमानि च ग्रन्थरत्नानि मैथिलमनीषिभिर्विरचितानि खिष्टीयोनविंशशतकान्तात्पूर्वमेव भारतभुवं विभूषयाञ्चक्रुः।

वर्तमानशताब्द्याञ्च दिवमुपयातानामनल्पगुणगणशालिनां विरचितकाव्यानुशासनग्रन्थानां सुविहित-साहित्यशास्त्रव्याख्यानां मैथिलविपश्चितां व्यञ्जनावादकृद् यदुनाथमिश्रः, काव्यप्रकाश-व्याख्याकारः रसविलासाख्यमौलिकरचनायाः प्रणेता खुद्दीझाशर्मा, 'नागेश्वरी'-व्याख्याकारः हरिशङ्करझा शर्मा, काव्यप्रकाशाङ्ग्लभाषाव्याख्याकारः म.म.डॉ.सर गंगानाथझाः इत्येतत्- प्रभृतिमहाभागानां नामानि एतत्प्रसङ्गे समुल्लेख्यानि सन्ति। अस्यामेव कोटौ आगच्छतः रसचन्द्रिकाकारः लेखनाथशर्मा, रसविलासकारो लुट्टीझा (लूटनझा) शर्मा च।

अधुनातनेषु लब्धसाहित्य-शास्त्र-विषय-रचनाप्रतिष्ठितेषु ध्वन्यालोकरसमञ्जरीरसगङ्गाधरादि-व्याख्याकृत् कविशेखर पं. बदरीनाथझा, ध्वनिसाहस्रीकार वेदानन्दझा, रसगङ्गाधर-हिन्दी-व्याख्याकारः मदनमोहनझा, काव्यालङ्कारहिन्दीभाषाव्याख्याकारः देवेन्द्रनाथशर्मा, काव्यालंकारसूत्रव्याख्याकारः बेचनझा, काव्यात्ममीमांसा-काव्यस्वरूपमीमांसाकारः जयमन्तमिश्रः, काव्यादर्शरुद्रटालङ्कार-कुवलयानन्दादिग्रन्थव्याख्याकारः रामचन्द्रमिश्रः, साहित्य-दर्पणस्य लक्ष्मीव्याख्याकारः कृष्णमोहनठक्कुरः, ध्वनिकल्लोलिनीकारः आनन्दझा, काव्यात्मविमर्शकारः खड्गनाथमिश्रः, अलङ्कारकुसुमकारः गिरिजानन्दन झा, रसमीमांसा-काव्यकौमुदीग्रन्थद्वयप्रणेता आचार्य शोभाकान्तजयदेवझा इत्यादिविदुषां नामानि प्रसङ्गेऽस्मिन् समुल्लेख्यान्येव।

'चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती' इत्यनेन चन्द्रालोक-सन्दर्भांशेन पीयूषवर्षा-परनामधेयोऽयमिति निर्विवादम्। चन्द्रालोकावलोकनादिदं निश्चीयते यदस्य मूलनाम जयदेव आसीत्। एवं च

प्रत्येकमयूखान्ते स्वयमेवायमात्मानं सुकविमपि कथयति .... सुकविजयदेवेन रचिते ....इति। जयदेवोऽयं यज्ञविद्यानिपुणस्य परमयाज्ञिकस्य साक्षान्महादेवस्येव महादेवस्य पुत्र आसीत्। पतिमहादेवभक्तिप्रणिहितमतिः सुमित्राऽस्य माताऽऽसीत्। यथाऽनेनैवोक्तम्-

'महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।'' [4] इति।

महादेवोऽयमासीत् सोदरपुरसरिसवकुलसम्भूतस्य शाण्डिल्यगोत्रस्य भवनाथस्यात्मजः इति केचित्कथयन्ति, केचिच्चामुं सोदरपुरभौआलमूलकस्य 'गुणी' प्रसिद्ध-महादेवस्यात्मजं दरिहरे-मूलकस्य महादेवाख्यस्य दौहित्रञ्च स्वीकुर्वन्ति। म.म.हरिमिश्रस्य भ्रातृजः शिष्यश्चायं जयदेवमिश्रः तत्त्वचिन्तामणि-आलोकादिकतिपयप्रकृष्टग्रन्थानां रचयिता, प्रतिभाभासाकृष्टविद्वच्चेता, विद्वत्परिषदि 'पक्षधर' इति प्रतिष्ठोपाधिप्राप्तः प्रसिद्धतमः आचार्यः आसीदिति निश्चीयते। 'मण्यालोक' इति भिन्नग्रन्थाभिधानसाम्यात्, 'चन्द्रालोक' इति मन्वाना बहवो विद्वांसोऽस्मिन्नपि पीयूषवर्षजयदेवाभिन्नं पश्यन्ति। न केवलं ग्रन्थैकदेशनाम्नोः साम्यमपितु विलक्षणकवित्वतार्किकत्वयोरैकाधिकरण्यमपि दर्शं दर्शं सूरयोऽपि समबुद्धिमेव धारयन्तो दृश्यन्ते। यद्यपि चन्द्रालोके तर्कस्य प्रतिष्ठा न दृश्यते, किन्तु स तार्किको नासीदिति प्रामाण्यमपि न भजते, अपितु पीयूषवर्षो जयदेवः स्वकीये ग्रन्थान्तरे प्रसन्नराघवनाटके आत्मनः प्रमाणप्रवणत्वमुपन्यस्तवानेवेति जानन्त्येव विद्वांसः।

पीयूषवर्षिणो महाकवेर्जयदेवस्य चन्द्रालोको नाम काव्यविद्यापरिचायकोऽपूर्वो ग्रन्थः काव्यालङ्काराध्येतृणां कृते स्वसरलललितवर्णनपद्धत्याऽतीवोपयोगीति प्रथितम् एव। ग्रन्थेऽस्मिन् काव्यप्रकाशवद्दशमयूखाः विद्यन्ते, किन्तु असौ मम्मटस्योपरि कटुशब्देन आक्षेपमपि करोति-

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती।।' [5]

अर्थात् यः अनलङ्कृती शब्दार्थौ काव्यमिति अङ्गीकरोति, असौ कृती अनलमनुष्णमिति कथं न स्वीकरोति। चन्द्रालोककारेण जयदेवेन काव्यत्वस्य कृतेऽलङ्कारो रसश्च स्वीकृतौ स्तः- ''निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा। सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।।'' काव्यप्रयोजनविषयेऽपि महाकविर्जयदेवश्चन्द्रालोके वाग्देवतायाः विशेषणत्वेन सुमनसां मानसे उल्लासिनी इति पर्युङ्क्ते-

'उच्चैरस्यति मन्दतामरसतां जाग्रत्कलङ्कैरव-
ध्वंसं हस्तयते च या सुमनसामुल्लासिनी मानसे।' [6] इति।

एवमेवायं सहृदयहृदयोल्लासः, प्रत्येकमयूखस्य पुष्पिकायाम्-

'चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः।
इति स्पष्टतः सहृदयानां चिरकालिकं सुखं काव्यप्रयोजनत्वेन प्रतिपादयति स्म।

ग्रन्थस्य महतीयं विशेषता वर्तते यदेकस्यामेव कारिकायां लक्षणोदाहणे स्तः उपन्यस्ते। तत्र प्रथमे मयूखे काव्यलक्षणरूढ्यादिशब्दाः, द्वितीये काव्यदोषपरिहारौ, तृतीये लक्षणानि, चतुर्थे गुणभूषणादीनि, पञ्चमे अलङ्काराः, षष्ठे रसरीतिवृत्तयः, सप्तमे व्यञ्जनाध्वनयः, अष्टमे गुणीभूतव्यङ्ग्याः, नवमे लक्षणावृत्तिः, दशमे च मयूखे अभिधावृत्तिश्च निरूपितानि वर्तन्ते। एकमाभाणकमपि मिथिलायामाचार्यस्यास्य प्रसङ्गे प्रचलितं वर्तते-

''शङ्करवाचस्पत्योः शङ्करवाचस्पती सदृशौ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्ष्यीभूतो न च क्वापि।।'' [7] इति

रसमञ्जरी-अलङ्कारतिलकादिभिः ग्रन्थैः प्रतीयते, अथ पञ्जीप्रबन्धेनापि निश्चीयते यद्भानुदत्तस्य जन्मप्रदेशो जनकजाजन्मभूमिर्मिथिलाऽऽसीत्। अतो जन्मस्थान-विषये शङ्काङ्कुरस्यावसर एव न दृश्यते। स्वकीयेपु ग्रन्थेपु भानुदत्तेन पितृपादानां नामोल्लेखः चतुर्धा विहितः- 'गणेश्वरः' 'गणनाथः' 'गणपतिः' 'गणेश'श्चेति। अयमेव गणेश्वरः आसीत् पञ्जीप्रबन्धस्य ढक्काकविगणपतिः। गणेश्वरोऽयमासीत् भवनाथमिश्रस्य पौत्रः, महादेवस्य पुत्रः दार्शनिकप्रवरस्य शङ्करमिश्रस्य भ्रातृजश्च। सोदरपुरकुलसम्भूतोऽयमाचार्यः शाण्डिल्यगोत्रीयः श्रोत्रियः आसीत्।

भानुदत्तस्य पिता गणपतिरपि संस्कृतभाषाया रससिद्धः काव्यकलाकुशलः कविरासीत्। अनेन स्वपितुः काव्यस्य चर्चा रसपारिजातग्रन्थे एकस्मिन् श्लोके कृता-

'यथा गणपतेः काव्यं काव्यं भानुकवेस्तथा।
अनयोः सङ्गमःश्लाघ्यःशर्कराक्षीरयोरिव।।'[8]

गणपतिविरचिताः सरसाः सहृदयहृदयहारिणो बहवः श्लोकाः ग्रन्थकारेण सादरं रसपारिजाते, रसतरङ्गिण्यां रसमञ्जर्यां चोदाहृताः। यथा पितुर्गणपतेरनेकानि नामानि आसन् तथा भानुदत्तस्यापि नामान्तराणि आसन्-भानुकविः, भानुकरः भानुदत्तश्चेति। रसमञ्जरी-रसतरङ्गिणी-रसपारिजात-गीतगौरीपति-कुमारभार्गवीय-अलङ्कारतिलक -मुहूर्त्तसारश्रृङ्गारदीपिकाप्रभृतयः प्रभूता भानुकविप्रणीताः प्रबन्धाः श्रूयन्ते, किन्तु नैवाद्यत्वे ते साकल्येनोपलभ्यन्ते। महाकविरयं भानुदत्तः खैष्टषोडशशताब्द्यां विद्यमानः समुत्पन्नश्चासीत्।

रसमञ्जर्यां प्राधान्येन नायिकाया विभिन्नभेदा वर्णितास्सन्ति, तत्प्रसङ्गे नायकस्य शृङ्गाररसस्यापि च समासेन विवेचनं वरीवर्ति। ग्रन्थोऽयमत्यन्तलोकप्रिय आसीत्सहृदयसुधीसमाजे, अतएव ग्रन्थस्यास्योपरि बहुभिः पण्डितैः नैकाष्टीका निरमायिषत। हिन्दीभाषायां रीतिकालिकाः ये ये ग्रन्थाः सन्ति तेषां सर्वेषां ग्रन्थानामुपजीव्योऽयमेव ग्रन्थो भाति। भानुदत्तस्य द्वितीया कृतिः सुप्रथिता 'रसतरङ्गिणी' रसविवेचनात्मिकापि विद्वद्वर्गे अतीवादारास्पदां वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् अष्टतरङ्गा विलसन्ति, तेषु सप्तमे तरङ्गे एव ग्रन्थकारेण रसस्य व्यभिचारिस्थायिभावानाञ्च पाण्डित्यपूर्णविश्लेषणं विवेचनञ्च कृतं वर्तते। अस्मिन्नेव तरङ्गे नवरसेभ्योऽतिरिक्तो मौलिकः दशमो मायारसोऽपि भवतीति स्पष्टतया प्रतिपादितम्। अस्यापि ग्रन्थस्य बह्व्यष्टीकाः पण्डितरत्नैर्विनिर्मिताः। यथा नाम्नैव ज्ञायते भानुदत्तस्य पञ्चपरिच्छेदात्मकोऽङ्कारतिलकोऽलङ्कारविवेचनात्मकः ग्रन्थः। ग्रन्थेऽस्मिन् भानुदत्तेन गद्यस्यापि प्रयोगः संविहितः। अलङ्कारतिलकस्यावलोकनेन ज्ञायते यन्महाकविना भानुदत्तेनापि कतिपयानां नवीनानामलंकाराणामुद्भावना कृता, प्राचीनाचार्याणामभिमतानां खण्डनं स्वकल्पितानां नवीनानामलङ्काराणां च मण्डनं विशदनिरूपणञ्च कृतम्। अतएव कविवरोऽयं भानुदत्तः न केवलं नवीनरसोद्भावकः मायारसोत्थापकः, अपितु एकः स्वतन्त्रालङ्कारिकोऽपि नवीनालङ्कारोत्थापकोऽपि आसीदिति वक्तुं शक्यते सुतराम्। रसपारिजातग्रन्थे यद्यपि ग्रन्थकारेण पितुः गणपतेः पद्यरत्नानां स्वकीयश्लोकानाञ्च संकलनं कृतं तथाप्ययं ग्रन्थः दशपल्लवेपु विभक्तः, परन्तु अलङ्कारतिलके चर्चिता 'चित्रचन्द्रिका' अनुपलब्धा चेयं कृतिः चित्रकाव्यविवेचनात्मिका आसीदिति प्रतिभाति नाम्ना। रसपारिजाते ग्रन्थे क्रमशः देववर्णनं, राजकीयकीर्त्त्यादिवर्णनं, नृपादिवर्णनं, नायिका-वर्णनं, क्रीडावर्णनं-प्रातरादिवर्णनं, ऋतुवर्णनं, रसवर्णनम्, अन्यापदेशवर्णनञ्च राजन्ते।

श्रीमन्महाराज-माणिक्यचन्द्राज्ञया तत्प्रेरणया वा आचार्यप्रवरेण श्रीकेशवमिश्रेण अयम् 'अलङ्कारशेखरो' नाम शौद्धोदनिकृतालङ्कारसूत्रव्याख्यानरूपः अलङ्कारशास्त्रीयः प्रबन्धः विरचितः। अत्र च काव्यस्वरूपरीतिदोषगुणालङ्कारादिकं नातिसंक्षिप्तं नातिविस्तृतं समुचितरूपेण सरलया भाषया वर्णितं वृत्तिकारेण। सूत्रकारप्रसङ्गे स्वयं वृत्तिकारः कथयति-" अलङ्कारविद्यासूत्रकारो भगवान् शौद्धादनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्त्तयिष्यन् प्रथमं काव्यस्वरूपमाह .....।" अथ चालङ्कारशेखरे श्रीपादनामधेयं बहुवारमुल्लिखितं दृश्यते, अन्येष्वलङ्कारग्रन्थेपु प्रायो नास्य नामोपलभ्यते, अतः शौद्धोदनेरेवादरबोधकोऽयं सङ्केतः स्यादिति अनुमीयते।

अलङ्कारशेखरेऽस्मिन् रत्नान्यष्टौ विलसन्ति। तत्रोपक्रमरत्नं, दोषरत्नं, गुणरत्नम्, अलङ्काररत्नं, वर्णकरत्नं, कविसम्प्रदायरत्नं कविसामर्थ्यरत्नं, विश्रमरत्नञ्चेति तेषां नामानि। प्रत्येके च रत्ने न्यूनातिन्यूने द्वे मरीची, अधिकतमाश्च चतस्रः मरीचयः विद्यन्ते। काव्यस्वरूपप्रसंगे केशवमिश्रस्याभिमतमिदं वर्तते यत्-'रसालङ्कारभूषितं, शब्दश्रवणाव्यवहितोत्तर कालावच्छिन्नसुखविशेष-साधनं वा काव्यमि''ति। वस्तुतः काव्यलक्षणं बह्वंशेन साहित्यदर्पणोक्तं तल्लक्षणमनुसरति। काव्यकारणानि च निरूपितानि वैशिष्ट्यं दर्शयन्ति। तिस्रो रीतयो, दोषाश्च अष्टाविंशतिः गुणा नव, अलङ्कारसहस्रेषु सत्स्वपि 'अपरेऽत्रैवान्तर्भवितुमर्हन्ति' इत्यपरान्निषिध्य चतुर्दशैव अत्यावश्यका अर्थालङ्काराः प्राधान्येन तेषूपमाया दश प्रभेदाश्च निरूपिता दृश्यन्ते। उपमोत्प्रेक्षयो स्तावत्सर्वालङ्कारेभ्यः साधितमुत्कृष्टतमत्वं केशवमिश्रेण। स्त्रीपुंसयोश्च वर्णनौपयिकाः प्रकाराश्च भूयांसः संगृहीताः सन्ति। अलङ्कारशेखरस्य प्रस्तावनाकारः सत्यमेवोक्तवान्, यत् ''अत्राल्पीयस्यपि गुरुगौरवेण श्लाघनीये अलङ्कारशेखरप्रबन्धे कविना चातुर्येण सर्वे विषयास्तथा समावेशिताः, यथाऽसौ ग्रन्थः सहृदयानामुपकाराय भूयसे मनोविनोदाय च प्रभवेत्''।

ग्रन्थकारस्यास्य केशवमिश्रस्य न केवलमलङ्कारशास्त्रे अपितु वेदान्तन्यायादिशास्त्रेष्वपि परमं प्रावीण्यमासीदिति ग्रन्थारम्भे 'वेदान्तन्यायविद्यापरिचयचतुरं केशवं सन्नियुज्ये'तिलेखतः प्रतीयते। तर्कविषयोन्मिश्रकाव्य ग्रन्थनिर्माणकौशलमेवामुष्य काव्यन्यायविद्यानैपुण्ये प्रमाणमुपलभ्यते। अस्य समयो निर्णेतुं स्वातन्त्र्येण न शक्यः, आश्रयदातुः समय एव एतदीयं समयं निर्णाययति। काङ्गडानरेशस्य माणिक्यचन्द्रस्य राज्यारोहणकालस्तु 1563 मित-खीष्टाब्दः, अतस्तदाश्रितस्य केशवमिश्रस्यापि समयस्तत्कृत-ग्रन्थनिर्माणकालश्च षोडशशताब्द्या उत्तरार्धस्तृतीयभागो वा निःसंशयं निश्चेतुं शक्यते।

अलङ्कारसर्वस्वं काव्यरत्नञ्चेति ग्रन्थद्वयं स्वकीयकृतित्वेन निरदिक्षत्केशवमिश्रः अलङ्कारशेखरे। सः कथयति पुनः ग्रन्थारम्भे-'' ग्रन्थाः काव्यकृतां हिताय विहिता ये सप्त पूर्वं मया'' इति। कदाचिदिदं ग्रन्थद्वयं तत्प्रणीतसप्तग्रन्थान्तर्गतमेव स्यादिति कल्प्यते, परं न निश्चीयते, तयोर्ग्रन्थयोरनुपलम्भात्। अलङ्कारशेखरस्तु नयनगोचरीभवति। परन्तु अन्ये ग्रन्था वस्तुतो नामतोऽपि नोपलब्धुं शक्यन्ते। भवतु नाम, ग्रन्थकारोऽयं सोदरपुरकटकामूलक-विशोमिश्र-नाम-प्रसिद्ध-विश्वधरशर्मणः पुत्रः उमापतिशर्मणश्चानुजः आसीत्। गौतमीयसूत्रप्रकाशे यथाऽनेन भणितम्-

''उमापति सगर्भस्य श्रीविश्वधर जन्मनः।
श्रीमत्केशवमिश्रस्य कृतिर्विजयतेतराम्।।''[9]

संख्यापरिमाणमपि अनेनैव प्रणीतम्। तद्यथा -

'कटकावासि-सोदरपुरकमलदिवाकरमिश्र-श्रीकेशवकृतं संख्यापरिमाणपुस्तकं समाप्तम्''। इति।

यथा कविशेखरो बदरीनाथ झा शर्म्मा कथयति, तदनुसारं भर्तृहरिनिर्वेदनाटक-हरिहरसुभाषितप्रभृति-श्रव्यकाव्यानां प्रणेतुर्हरिहरोपाध्यायस्य श्रोत्रियोचितविद्यासदाचार - चारुणि वात्सकरमहाकुले विष्वग्विश्रुतवैदुष्याज्जगन्नाथोपाध्यायादुद्भूतः स्वस्रीयस्य मिथिलामहीमहेन्द्रश्रीमाधवसिंहस्य सभास्तारो महाकविर्भगवद्भक्तो वेणीदत्तशर्मा स्वान्तःसुखाय सहृदयसमुदयामोदनाय च रसनिरूपणात्मकं प्राग् रसकौस्तुभं पश्चादलङ्कार-निरूपणात्मिकालङ्कारमञ्जरीमिमां सरलसरलेन क्रमेण प्राणैषीत्। विरुदावल्यादि-ग्रन्थोऽप्यनेन विरचितः यश्चालङ्कारमञ्जरीपर्यालोचनयाऽवगम्यते।

रसकौस्तुभरचनायामनेन नूनं महाकवेर्भानुदत्तस्य रसमञ्जरी-रसतरङ्गिणीं चादर्शतया परिकल्पयता विलक्षणं लक्ष्यलक्षणनिर्माणकलाकौशलमात्मनो दर्शितमिति तत्त्रितयालोचकैः सुविभाव्यम्। तत्र रसनिरूपणं, विभावादिवर्णनं, नायिकानायकयोः भेदोदाहरणपुरस्सरं निरूपणं च वर्णितानि सन्ति। अलङ्कारमंञ्जर्यां द्वाषष्टेः अलङ्काराणां

लक्षणानि उदाहरणानि च मनोहररीत्या प्रस्तुतानि सन्ति। इयमलङ्कारमञ्जरी नालङ्काराणां प्रकारभूयस्त्वकरी कुवलयानन्दादिवत्, नच प्रचुरपरिष्कारभूः रसगङ्गाधरादिवत्, न वा निगूढशब्दार्थनिधिः काव्यप्रकाशादिवत्, किन्तु विषमतमाऽलङ्कारदर्शन-सानुमन्तं समारुरुक्षूणां सरला निश्रेणी श्रेणीव तावत् परमामुपकृतिं विदध्यादिति सम्भावयामि।

महाकविरयं सुकविजयकृष्णस्य पौत्रः भवानीदत्तनारायणदत्तयोः अनुजः रमादत्तस्याग्रजश्चासीत्। 'कर्महा-बेहट' - वंशीयोऽयं मिथिलादेशीय-'बिट्ठो'-ग्रामवास्तव्य आसीत्। अस्मिन्नेव वंशे ग्रामे चाभूत् महामहोपाध्यायः इन्द्रपत्युपाध्यायः। अयमिन्द्रपतिः आसीद्विष्णुसिंह-(1725-1743)-नृपतेः समसामयिकः मीमांसक आलङ्कारिकश्च। अलङ्कारविवेचनपरकः अलङ्कारसमुद्गोऽस्यालंकारशास्त्रे कृतिर्वर्तते। काव्यशास्त्र एवास्य द्वितीया कृतिरपि वर्तते 'रसमार्त्तण्ड' इति। रसमार्त्तण्डोऽयं रसनिरूपणात्मकः विद्यते, यस्मिन् द्वादशानां रसानां विवेचना ग्रन्थकारेण कृता। एतेषु द्वादशरसेषु विद्यन्ते शृङ्गारादि अष्टौ रसाः, शान्तो, वत्सलो-माया-भक्तिश्च। एतदरिक्तानामपि ऊर्जस्वि-प्रेयान्- आदिरसानामिन्द्रपतिना चर्चा विहिता। परन्तु ग्रन्थेऽस्मिन् द्वादशानामेव रसानां मुख्यतया निरूपणं विद्यते। अलङ्कारसमुद्गे च पञ्चानां शब्दालङ्काराणां द्वाषष्टिरर्थालङ्काराणां च विवेचनं लक्षणोदाहरणपुरस्सरं विद्यते, तथापि ग्रन्थोऽयमपूर्ण एव प्राप्यते। मीमांसाशास्त्रेऽसौ मीमांसारसपल्वलं विधिविवेकप्रकाशं च प्रणीतवान्। इन्द्रपतेः पिता ज्योतिर्विद्रुचिपतिः माता च रुक्मिणीदेवी आस्ताम्। रुक्मिणीदेवीयं माण्डरसिहौलकुलसम्भूतस्य नैयायिकबलदेवस्यात्मजा आसीत्। मीमांसारसपल्वलेऽनेन लिखितम् -

''यं लेभे रुक्मिणीदेवी सुरे रुचिपतेस्सुतम्।
स तनोति शिवं नत्वा मीमांसारसपल्वलम्।।''[10]

म.म.इन्द्रपतिः मूलतः मीमांसक एव आसीत्, काव्यशास्त्रे तु भागिनेयस्य नन्दीपत्युः मनस्तोषाय प्रविष्टम् अनेन। यथाऽलङ्कारसमुद्गे कथयत्यपि -

'नन्दीपतेरपरबादरिनामकस्य
सम्मानितस्य मिथिलाधिपविष्णुसिंहैः।
भाषाकवेर्मनसि तोषसुवृद्धिहेतो-
रेनं निबन्धमयमिन्द्रपतिस्तनोति।।'[11]

दरिहरा-राजनपुरामूले प.पीताम्बर झा शर्म्मणः वंशे बभूव म.म. चित्रधरोपाध्यायः। चित्रधरस्य पिता म. म.वंशधरः मेधूपनामकेनासीत्प्रसिद्धः। चित्रधरस्य पुत्रो नाऽभूत्, पुत्री आसीदेका प.रामझा शर्मणः पत्नी। चित्रधरस्य निवासस्थानं मंगरौनीति ग्रामः आसीत्, समयश्च अष्टादशशतकः। गोकुलनाथोपाध्यायस्य समकालिकः मेधूझा मैलाम-ग्रामतः स्वमातृकं मंगरौनीग्रामं प्रत्यागतवानासीदिति परम्परया श्रूयते। प्रमाणप्रमोद-चित्रमीमांसा-वीरतरङ्गिणी-शृङ्गारसारिणी प्रभृतयो ग्रन्था अनेन चित्रधरेण विरचिताः। तत्र चित्रमीमांसा अप्रकाशिता वर्तते, प्रमाणप्रमोदस्य प्रकाशनं दिल्लीस्थित-लालबहादुरविद्यापीठपक्षतः जातम् अपि च दरभंगातोऽवशिष्टौ ग्रन्थौ प्रकाशितौ स्तः।

भारतीय-साहित्यशास्त्रस्य सुप्रसिद्ध- षट्समीक्षासिद्धान्तेष्वाद्यो रससिद्धान्त एव सकलसिद्धान्तशीर्षभूतः। सहृदयनिष्ठो मनोवैज्ञानिकोऽयं रसो यद्यपि मानवभावाधृतो भावानां स्थायितानिर्धारणवशाच्चाष्टौ नव दश दशाधिको वा विवेचितः, परं रसशब्दस्य आनन्दार्थकत्वादानन्दस्यैकरूपत्वादानन्दानुभवे विगलितवेद्यान्तनुवाच्चरससंख्येयं नियन्त्रिता, रसैकरूपता च सुस्थापिता। रससिद्धान्तप्रवर्तकेन भरतमुनिनादौ रसा वर्गद्वये विभक्ताः- शृङ्गाररौद्रवीरवीभत्साः प्रकृतिरसाः हास्यकरुणाद्भुतभयानकाश्च विकृतिरसाः इति। सर्जनायामेकस्यां त्वेक एवाङ्गीभावो रसो वोररीक्रियते। अवशिष्टैरितैरङ्गभूतैरसावुपक्रियेते परिपुष्यते च। विषयेऽस्मिन् साहित्यशास्त्रिणामियमप्यवधारणा यद्रसेष्वेतेषु

शृङ्गारस्य वा वीरस्य वा प्राधान्यमेव विज्ञातव्यम्। प्रहसनेषु हास्यरसस्य प्रमुखता बोभूयते। अन्यत्र केचन साहित्यशास्त्रिणः शान्तरसं, नैके च शृङ्गाररसं, परे च करुणरसं तथैव चापरे वीररसं श्रेष्ठं मूलञ्च मन्यन्ते। अस्माकमाचार्यैः चित्रधरोपाध्यायैर्बलीयसाभिनिवेशेन वीरतरङ्गिण्यां वीररसस्यैव प्रमुखता प्रतिपादिता। एवं हि शृङ्गार-सारिण्यां नायक-नायिकाविवेचना सुविस्तृता कृतेति।

महामहोपाध्यायेन गोकुलनाथोपाध्यायेन निर्मितासु परश्शतासु रचनास्वन्यतमा चमत्क्रियातिरेकेण धन्यतमा रसमहार्णवाभिधेया कृतिः कस्य कृतिनो न चेतश्चमत्करोतितमाम्। लक्षणावृत्तिनिरूपणात्मकेऽस्मिन्नि-बन्धे चमत्कारिव्यङ्ग्यार्थ-समुल्लासाधिक्येनास्य निबन्धस्य 'रसमहार्णव' इत्यभिधानमन्वर्थतामञ्चति यत्स्वयमेव ग्रन्थकारेणोक्तं ग्रन्थोपसंहारे-

''रसिकैः काव्यमीमांसाप्रस्थाने यद्विविच्यते।
निर्मितस्तत्प्रपञ्चाय मया रसमहार्णवः॥'' [12] इति

रसमहार्णवसम्पादकेन सत्यमेवोक्तं यन्निबन्धेऽस्मिन् लक्षणास्वरूपप्रकारकारण- प्रयोजनानां सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वनिरूपणमन्यत्रादृष्टपूर्वं प्रौढपण्डितकुलास्वाद्यरसं विजयते। वस्तुतो ग्रन्थकृतो वस्तुनिरूपणरीतिरीदृशी, यया निरूपितानां वस्तूनामनायासेनैव अप्रामाण्यानानास्कन्दितो निश्चयो जायते। सर्वासु विद्यासु प्रकृतप्रबन्ध -कृन्निर्मितनिबन्धानां प्रगल्भविवेचनोदञ्चितत्वं तदध्ययनभावनाभ्यामेवानुभवितुं शक्यते। . . . ग्रन्थकृत इतिवृत्तकृतीनाम्परिचयो वाराणसेयसम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयतः प्रकाशितानामेतन्निर्मित पदवाक्यरत्नाकर-काव्यप्रकाश- विवरणादीनामुपोद्घातेभ्यो जिज्ञासुभिः सुलभ इति नेह उपन्यस्यतः।

षोडशखीस्तीयशताब्द्यामुत्पन्नेन गङ्गानन्दकवीन्द्रेण काव्यडाकिनीति विलिखितम्। तत्र खल्वियमेकैव न वर्तते रचना, अपितु 1902 खिस्तीये संवत्सरे 'कर्णभूषणं' प. भगवद्दत्तमहोदयैः के.पी.परब महोदयैश्च सम्पाद्य काव्यमालायां मुम्बईतः प्रकाशितं, तथा च 'शृङ्गारवनमाला' के.पी.जायसवाल-महोदयेन मिथिला-पाण्डुलिपिसूच्यां चर्चिता। गङ्गानन्दोऽयं महाराजमिथिलेशस्य महेशठक्कुरस्यान्तेवासिनः बलियासयमाडरमूलकस्य पण्डितरायरघुनन्दनस्य भ्रातुष्पुत्रः रामपुराख्यग्रामवासी आसीत्। रसमञ्जरीकारस्य भानुदत्तस्य पुत्रः जानुदत्तः अस्य मातामहः आसीत्, यथा अनेनैव शृङ्गारवनमालायां प्रोक्तम्-

''भानुपौत्रीतनूजेन मिथिलादेशवासिना।
शृङ्गारवनमालेयं गङ्गानन्देन तन्यते॥'' [13] इति

बीकानेरप्रान्तस्याधिपतेः नृपतेः कर्णसिंहस्य (संवत् 1688) आश्रितो भूत्वानेन कर्णभूषणस्य रचना कृता तथा काव्यदोषविवेचनात्मिका 'काव्यडाकिनी' अपि विरचिता। काव्यडाकिन्यां पञ्च दृष्टयः सन्ति, तत्र प्रथमदृष्टौ दोषप्रकारः पददोषविवेचनञ्च, द्वितीयदृष्टौ पदभागदोष-पदैकदेशदोषवर्णनं, तृतीयदृष्टौ वाक्य-दोषनिरूपणं, चतुर्थदृष्टौ अर्थदोषनिरूपणं, पञ्चमीदृष्टौ रसदोषनिरूपणं च विद्यन्ते। ग्रन्थेऽस्मिन् भागत्रयं वर्तते- कारिकाभागः वृत्तिभागः, उदाहरणभागश्च। सर्वाः दृष्टीराहत्य ग्रन्थेऽस्मिन् सप्त-सप्ततिः कारिकाः (77) विद्यन्ते। तथाऽस्य प्रथमं प्रकाशनं 1924 खीष्टाब्दे म.म.डा.गोपीनाथकविराजस्य सम्पादकत्वे वाराणसेय-राजकीयसंस्कृतपुस्तकालयतः जातम्।

एतेषामाचार्याणां गङ्गानन्दकवीन्द्राणामेव पितृव्यपुत्रः आसीत् कविवर- चतुर्भुजः, यः खलु मिथिलायां चतुर-चतुर्भुजेति प्रसिद्धोऽस्ति। मैथिलीपंजी प्रबन्धेऽपि एतेषां सम्बन्धो निर्दिष्टमस्ति, यत्- ''बलियाससं. पण्डितरायपदाङ्कितमहामहो. रघुनन्दनसुतौ रायचतुर्भुज रायशुभङ्करौ बलायनि-पालीसं छीतूदौ'' इति। अर्थात् बलियासय संभूत-पण्डितराज- रघुनन्दनस्य द्वौ पुत्रौ आस्ताम्, रायचतुर्भुजः रायशुभङ्करश्च। बलायनिपालीकुलसंभूतस्य छीतूशर्मणः दौहित्रावमू आस्तामिति। स्वयं रघुनन्दनोऽपि आलङ्कारिकः आसीत्, येन काव्यप्रकाशस्य व्याख्या

कृता। चतुर्भुजरायस्य रचनासु अन्यतमोऽयं ग्रन्थः रसकल्पद्रुमः विद्यते। यस्मिन् ग्रन्थे पञ्चषष्टिः (65) प्रस्तावाः एकसहस्रं पद्यानि च विद्यन्ते। ग्रन्थेऽस्मिन् चतुर्भुज-समसामयिकानां पूर्ववर्तिनाञ्चाचार्याणां पद्यानि यथास्थाने वर्तन्ते। चतुर्भुजस्यापि पद्यं मनोहरं भावपूर्णञ्च विद्यते, तत्रावलोकनीयमिदम्-

'यन्नादृतस्त्वमलिना मलिनाशयेन
किं तेन चम्पक! विषादमुरीकरोषि।
विश्वाभिरामनवनीरदनीलवेषाः
केशाः कुशेशयदृशां कुशलीभवन्तु।।'[14]

भानुनाथोपाध्यायोपाख्यः झोपाह्वः भानाशर्म्मा खौआलवंशीयः काश्यपगोत्रीयो मैथिलभूसुरः आसीत्। महानुभावोऽयं मधुबनीमण्डलान्तःपाति-पिलखवाराभिधे ग्रामे ऊनविंशतिशताब्द्यामुदपद्यत। नेननोपाध्यायप्रसिद्ध-महामहोपाध्यायः दीनबन्धुरस्य पिता, भ्राता च काव्यशतकप्रणेता बबुजनशर्म्मा आस्ताम्। बबुजनझाशर्म्मा नेननोपाध्यायस्य सप्तपुत्रेषु पण्डितप्रकाण्डेष्वन्यतमः विभूतिरासीत्। म.म.चुम्बेझा अस्यैव भानुनाथ-दैवज्ञस्य भ्रातुष्पुत्र आसीत्, यः तत्कालीनस्य पण्डितसमाजस्य अद्वितीयः विपश्चिदासीत्। मिथिलेशमहेश्वरसिंहाश्रितेन प्रभावतीहरणनाटककारेण भानुनाथेन यत्र ज्योतिषशास्त्रे 'व्यवहाररत्नं' प्रणीतम्, तत्रैव एतस्य साहित्येऽपि शृङ्गारमञ्जरीति उपलभ्यते। न केवलमनेन लक्षणग्रन्थस्य प्रणयनं कृतम्, अपितु लक्ष्यग्रन्थस्यापि रचना कृता। काव्यरचनायामपि अस्य स्वारसिकी प्रवृत्तिरासीदिति प्रभावतीहरणाख्यत्रैभाषिकनाटकेन संस्कृतप्राकृतमैथिलीमयेन स्पष्टम्भवति।

भानुनाथप्रणीतायां शृङ्गारमञ्जार्यां द्वावुल्लासौ विद्येते। प्रथमोल्लासे रसानां संख्या, शृङ्गाररसभावाः, शृङ्गारनायकाः, शृङ्गारनायिकाः अभिसारिकादयश्च वर्णितास्सन्ति। द्वितीयोल्लासे च नायिकायाश्चिकुरसिन्दूर-विन्यासयोर्वर्णनं, भ्रुवोर्मुखनयनयोः, भ्रूकज्जलयोः, कपोलतातङ्कयोः, दन्तौष्ठाध रनासाविभूषणानां, स्तनबाह्वोस्त्रिवलीरोमावल्योः, ऊरुद्वयकट्योः, भूषणसहितपादयोः वचन-जघनगमनपृष्ठदेशादीनां वर्णनानि, नायिकाजातिवर्णनं, पद्मिनीचित्रणीहस्तिनीप्रभृतीनां लक्षणानि च विद्यन्ते। स्वयं ग्रन्थकारेण ग्रन्थारम्भे शृङ्गारमञ्जरी-प्रसङ्गे कथितमस्ति, यत्-

''रसानां नायकानान्तु नायिकानां विवेचनम्।
किञ्चित्किञ्चित्प्रवक्ष्यामि नारीणां वर्णनन्तथा।।'' [15]इति

नायिकानिरूपणात्मिका 'रसतरङ्गिणी' महामहोपाध्यायेन रामानन्दठक्कुरेण प्राणायि। ग्रन्थोऽयं कविशेखर पं.बदरीनाथ शर्मणा सम्पादितः मिथिलाविद्यापीठेन प्रकाशितश्च। ग्रन्थकारोऽयं रामानन्दः घुसौतयनगवारवंशावतंसस्य वत्सगोत्रीयस्य काव्यप्रदीपोदाहरणदीपिकाग्रन्थप्रणेतुः महामहोपाध्यायस्य गोविन्दस्य पौत्रः काव्यकौमुदी-प्रभृतिकौमुदीसप्तकस्य प्रणेतुः तर्कपञ्चाननेतिविरुदविभूषितस्य महामहोपाध्यायस्य देवनाथठक्कुरस्यात्मजः सावित्रीदेव्याः गर्भजश्चासीत्। तदिदं सकलं वृत्तान्तं रसतरङ्गिणीभूमिकायां कविशेखरजीमहाभागेनोपवर्णितम्। तत्रैव ग्रन्थविषयप्रसङ्गे तेन कथितमस्ति- ''अन्वर्थाभिधाना चेयं रसतरङ्गिणी सप्तभिस्तरङ्गैरापूरि। तत्र प्रथमे तरङ्गे स्वकीय-निरूपणं, द्वितीये परकीय-निरूपणं, तृतीये नायिकायाः षोडशप्रकारनिरूपणं, तुरीये नायिका-प्रभेदाष्टकनिरूपणं, पञ्चमे सखीदूतीनिरूपणं, षष्ठे नायकतत्सहायकनिरूपणं, सप्तमे चोद्दीपनविभावनिरूपणं व्यधायि।'' देवनाथठक्कुरस्य रचनादीनां प्रसङ्गे सः कथयति- ''अनेनैव हि कविना गीतगोपीश्वरं , शृङ्गारशतकम्, मदनमञ्जरी, कृष्णरहस्यचन्द्रिका चापि व्यरचीति रसतरङ्गिणीपर्यालोचना-न्निश्चीयते। न तु दैवविपर्यासात्। तत्रैकमपि साम्प्रतमुपलभ्यते, तत्केवलमाशास्यते कदाचन कस्याप्यर्वाचीनस्य विदुषः सत्प्रयासेन तेषामपि प्रकाशः।'' इति।

आन्वीक्षिकीरीत्या पदार्थविवेचनगरिष्ठाः सूक्ष्मेक्षिकया शास्त्रसिद्धान्त- समीक्षणशिष्टा अदुष्यवैदूष्यविशिष्टाः सहृदयधुरन्धराः तार्किकवराः श्रीकृष्णमाधवझा-शर्माणः अपि साहित्यगगनाङ्गणे विद्योतन्तेतराम्। एतैर्विरचिता ग्रन्थाः न केवलं न्यायव्याकरण-वेदान्तधर्मशास्त्रादिषु, साहित्यजगत्यपि शारदशर्वरीशवत् समुल्लासयन्ति विदग्ध जनमनांसि। तेष्वन्यतमोऽस्ति अलङ्कारविद्योतनमिति। तत्रैतेषां मौलिकानि-उद्भावनान्यनेकत्र लक्ष्यन्ते। यथाऽलङ्कारलक्षणोदाहरण-प्रतिपादनशैल्यादिषु, आत्मतुष्टिप्रमाण-लिङ्गालङ्कारयोर्विवेचनं यत्र-यत्र दृष्टिर्याति, सर्वत्राऽपूर्वता, नवीनता मौलिकता वा दृष्टिपथमवतरति। महा महाध्यापकेन आचार्य शोभाकान्त-जयदेवझा शर्मणा एतेषां कृति-समीक्षाप्रबन्धे सत्यमेव प्रोक्तम्- "पदवाक्यप्रमाणशास्त्रमर्मज्ञः प. कृष्णमाधवझा-शर्मा अलङ्कारविद्योतनं विनिर्माय पण्डितराजजगन्नाथ-दार्शनिक-मूर्द्धन्याप्पयदीक्षितप्रभृतिभ्यः अवशिष्टमलङ्कारपरिष्कारकार्य-निर्दुष्टालङ्कारलक्षणं कृत्वा अस्मदादीन् आलङ्कारिकिनिभान् दार्शनिकजनांश्च नितान्तं समुपाकार्षीत्। नैयायिकवर्यस्य कृष्णमाधवझा-शर्मणः 124 अलङ्काराणां निर्दुष्टलक्षण-निर्माणशैली शोभना प्रसादगुणगुम्फिता च वर्तते। तत एव चावशिष्टानामपि अलङ्काराणां निर्दुष्टलक्षणानि अनयैव शैल्या निर्मातुं शक्यन्ते इत्यहो धन्यवादार्हा अलङ्कारविद्योतनग्रन्थप्रणेतारो झा-महाशयाः।"

अलङ्कारमीमांसायां तावत् कृष्णमाधवोपाध्यायेनालङ्कार-प्रकरणे तत्तदलङ्काराणां मूलभूता अंशाः प्रत्यपादिषत। प्रत्येकमलङ्कारस्य प्रकरणे ते नोपलक्ष्यन्ते, परन्तु कस्यचनालङ्कारस्य विशेषभूता अंशा अन्यस्मिन्नलङ्कारप्रकरणे उद्घोषिताः, तेषां पर्यालोचनेन ग्रन्थकारस्यालङ्कारविवेचन-नैपुण्यं प्रकटीभवत्येव, अपिच प्रत्येकमलङ्कारस्य वास्तविकी स्थितिरपि स्फुटीभवति। तर्कन्यायमूलकेष्वलङ्कारेष्वेकतमोऽर्थान्तरन्यासः, तत्र स्वरूप-विवर्त्तनमस्य नितरां वैचित्र्यावहम्। अन्योऽर्थोऽर्थान्तरं तस्य न्यास इति व्युत्पत्त्या प्रकृतार्थव्यतिरिक्तस्यार्थान्तरस्य न्यास इत्येवं रूपे सामान्यस्वरूपे यद्यप्यालङ्कारिकाणाम् ऐकमत्यं तथापि द्वयोरनयोरर्थयोः कीदृशः सम्बन्धः किं वा प्रयोजनं द्वितीयस्यार्थस्य न्यासे-इति विषयद्वितये दृग्भेदमवलम्ब्य प्राचीनानामालङ्कारिकाणां मतवैचित्र्यमालोक्यते। द्वयोरर्थयोः सम्बन्धः सामान्यविशेषभावः प्रयोजनं प्रकृतार्थस्य समर्थनमिति विषयद्वितयमुक्तम्। किञ्च साधर्म्यवैधर्म्य-निबन्धनो भेदोऽप्यनेनालङ्कारमीमांसायां प्रतिपादितः। ग्रन्थेऽस्मिन् वैधर्म्यमूलकानां कतिपयानां नवीनालङ्काराणां समीक्षा, अलङ्काराणां वर्गीकरणं, प्रत्येकमलङ्कारस्य आदिस्रोतो, वैधर्म्यतत्त्वम्, अन्यैरलङ्कारैः सम्बन्धः इत्यादिकं ग्रन्थस्यास्य वैशिष्ट्यं वर्तते।

आचार्योऽयं विद्यमान-मधुवनीमण्डलान्तर्गत 'बिट्ठो'-ग्रामवास्तव्यः कर्म्हाहाबेहट-कुलसम्भवः मैथिल-श्रोत्रियभूसुर आसीत्। अस्य पितुर्नाम गोवर्द्धनापरनामक-बुद्धिनाथशर्मा, मातुश्च नाम भागेश्वरीति आसीत्। आचार्यवरेणानेन न केवलमलङ्कारशास्त्रे अलङ्कारमीमांसाऽलङ्कारविद्योतनमिति ग्रन्थद्वयमेव विरचितम्, अपितु रसगङ्गाधरस्योपरि तारिण्याख्या व्याख्याऽपि कृता। तथा चान्येषु शास्त्रेषु अपि महानुभावोऽयं बहूनि ग्रन्थरत्नानि विरचितवानिति शम्।[16]

सन्दर्भ

1. संस्कृत काव्यशास्त्र और मिथिला, डा.उदयनाथ झा, जयश्रीप्रकाशनम्, पुरी, 2061, संवत्, प्रथम-संस्करणम्।
2. मिथिलामिहिर, दरभंगा, सम्पा. पं.सुरेन्द्र झा, 1936 ई.
3. जयन्तीस्मारक ग्रन्थ-सम्पा. प्रो.शिवपूजन सहायः ...., विद्यापति प्रेस, लहेरिया सराय, 1942
4. चन्द्रालोकः 10/7 - डा.त्रिलोकी नाथ द्विवेदी-भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, प्र.संस्क.1992
5. तत्रैव 1.8
6. तत्रैव 1.1

7. मिथिलातत्त्वविमर्श- म.म.परमेश्वर झा, मैथिली अकादमी, पटना, 1977, पृ. 123
8. सम्पा. बदरीनाथ झा, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, 1932, प्र. संस्करणम्
9. गौ. सू. प्र., सम्पा.डा.किशोरनाथ झा, गं.ना.झा. के.सं.विद्यापीठम्, प्रयागः, 1978, पृ. 124
10. मी.र.प.-सम्पा.डा. किशोरनाथ झा गं.ना.झा. के.सं.विद्यापीठम्, प्रयागः, 1977, पृ. 1
11. अलङ्कारसमुद्गः- सम्पा.प्रमोदझा, दीप (मधुबनी), श्लोक-2
12. र.म.- का.द.सं. विश्ववि.दरभंगा
13. MM II 62
14. सं.का. और मिथिला, पृ. श., जयश्रीप्रका. पुरी, 2004 ई.
15. तन्त्रनाथझा अभिनन्दनग्रन्थ, दरभंगा, 1980, डा. त्रिलोकनाथझा
16. विशेष द्रष्टव्य- संस्कृत काव्य शास्त्र और मिथिला- डा.उदयनाथ झा जय श्री प्रकाशनम्, पुरी- 2004

सन्दर्भ-ग्रन्थाः

1. संस्कृत काव्यशास्त्र और मिथिला-डा.उदयनाथ झा 'अशोक', जयश्री प्रकाशनम्, पुरी, 2061 संवत्, प्रथम संस्करणम्।
2. मिथिलमिहिर (मिथिलाङ्क) - राजप्रेस, दरभंगा, 1936, सम्पादकः पं. सुरेन्द्र नाथ झा 'सुमन'
3. जयन्ती, स्मारिका-ग्रन्थः - विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय, 1942, सम्पादक- प्रो.शिवपूजन सहाय
4. चन्द्रालोकः- जयदेवप्रणीतः, व्याख्याकारः - डॉ. त्रिलोकी नाथ द्विवेदी, भारतीयविद्याप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम् - 1992
5. मिथिलातत्त्वविमर्श - म.म.परमेश्वर झा, मैथिली अकादमी, पटना, 1977
6. गौतमीयसूत्रप्रकाशः - केशवमिश्रप्रणीतः- सम्पा. डॉ.किशोरनाथ झा, गंगानाथ झा के.सं. विद्यापीठम्, इलाहाबाद, प्रथमसंस्करणम् 1977
7. मीमांसारसपल्वलम् - इन्द्रपतिप्रणीतम्, सम्पा. डॉ. किशोर नाथ झा, गंगानाथ के.सं.विद्यापीठम्, इलाहाबाद, प्रथम संस्क.1977
8. रसमहार्णव -गोकुलनाथोपाध्यायप्रणीतः- सम्पा. धर्मनाथ झा कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत वि.वि., दरभंगा, प्रथम-संस्क. 1976
9. अलङ्कारसमुद्गः - इन्द्रपतिप्रणीतः- व्याख्याकारः प्रमोद झा, प्रका.- पं. शशिनाथ झा, दीप, मधुबनी, प्रथम संस्क.1995
10. तन्त्रनाथ-झा-अभिनन्दनग्रन्थः- सम्पा. डॉ. दुर्गानाथ झा, अभिनन्दनग्रन्थ-समितिः दरभंगा, 1980

● **राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय), गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद**



शुल्वसूत्र एवं उनके प्रकरण

गीता त्रिपाठी

(The small paper defines and explains the term शुल्व or शुल्ब and itroduces शुल्वसूत्र alongawith its प्रकरण used in diffirent contexts in diffirent texts. The importance of शुल्वसूत्र in the sacrificial rites is highlighted. The paper also deals with the structural procedure of यज्ञशाला and यज्ञवेदी etc. The etymology of the word शुल्ब is also specified in this paper.)

जिस प्रकार श्रौतसूत्रों में यज्ञानुष्ठानों की प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध विवेचन सूत्रशैली में करते हुए यागानुष्ठान के काल, प्रकार, विषयवस्तु एवं प्रक्रिया आदि को सुव्यस्थित रूप में उपस्थित किया गया है। उसी प्रकार शुल्वसूत्रों के अन्तर्गत यज्ञ-वेदियों के निर्माण, चितियों के निर्माण की दिशाएँ, देश, आकार-प्रकार, विमान, यान, संख्या, परिमाण और विनिर्माण-प्रविधियों को विस्तृत रूप में विहित किया गया है।

प्रसङ्गतः सर्वप्रथम शुल्वसूत्र का तात्पर्य स्पष्ट करना अपेक्षित है। यद्यपि सामान्यतः शुल्व तथा सूत्र ये दोनों पद समवेत रूप में रज्जु रूप के द्योतक हैं। शुल्व धातु मानार्थक है।[1] जो परस्मैपदी और चुरादिगण में पठित है। इसी अर्थ में टीकाकार ने भी शुल्ब शब्द को माना है और *शुल्वनं शुल्वः* का प्रयोग किया है।[2] यह शब्द, जिससे मापन किया जाय-इसका बोधक है। वस्तुतः प्राचीन काल के मापन-उपकरणों के अन्तर्गत मुख्यतः सूत्र 'धागा', रज्जु और दण्ड ही विहित रहे। बेवर ने भी कात्यायन-श्रोतसूत्र के अन्तर्गत- '*त्रिधातु वचधातु वा शुल्वं करोति*' इस वाक्य के शुल्ब पद का अर्थ '*शुल्बं रज्जुमित्यर्थः*' किया है।[3] वास्तविकता तो यह है कि शुल्ब-साहित्य में भी यत्र-तत्र शुल्व पद का दण्ड अथवा रज्जु के ही अर्थ में प्रयोग विहित है। संहिताओं में आए हुए शुल्व शब्द का पर्याय पाठ ''सन्नहनं'' भी रज्जु के अर्थ का द्योतक सिद्ध होता है।[4] इस अर्थ के अतिरिक्त शुल्व-धातु सर्जनात्मक अर्थ वाली है जिससे शुल्व को निर्माणार्थक माना गया है[5] और जो सर्जन अर्थ का द्योतक है। यह वेद एवं चितियों के निर्माण की निर्मिति हेतु उपयुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि अन्य स्थलों में शुल्व शब्द का अर्थ 'ताम्रम्' तथा 'जल की समीपता' से भी लिया गया है[6] किन्तु वह अर्थ उपयुक्त नहीं है। वास्तव में शुल्ब एवं शुल्व दोनों पदों का प्रयोग सूत्र-साहित्य में उपलब्ध होता है किन्तु इनमें कोई अर्थभेद नहीं है।[7] अधिकतर शुल्बशब्द ही प्रयुक्त किया जाता रहा है। उक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि शुल्ब पद का अर्थ रज्जु अथवा मापन है। सूत्र पद सूत्र-धातु से बना है जिसका उभयात्मक अर्थ वेस्टन तथा ग्रन्थन है।[8] व्युत्पत्तिपरक अर्थ में शुल्ब 'मापना' या नापने की क्रिया है। अस्तु 'नापी हुई वस्तु' अथवा 'एक रेखा' या 'सतह' तथा 'नापने का यन्त्र' या 'नापने की ईकाई' के अर्थ हेतु रज्जु पद आया है। रज्जु और शुल्ब इन दोनों पदों से परवर्ती काल में निम्नलिखित चार अर्थों की अभिव्यक्ति ग्रहण की गयी है -

1. एक मापविशेष अथवा मापने का उपकरण,

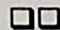
2. रेखा अथवा सतह, जो नापने का परिणाम हो
3. क्षेत्रमिति या नापने की क्रिया-प्रक्रिया तथा
4. ज्यामिति अथवा नापने की कला अथवा विज्ञान।

वस्तुतः ज्यामिति-विधा के अन्तर्गत रेखाओं के सतह के और आयतन के रूप में तीन प्रकार का पैमाना प्रयुक्तव्य है। इन तीनों अर्थों के लिए रज्जु पद शुल्ब-साहित्य में प्रयुक्त है। रेखा तथा फीता इन दो अर्थों में विशेष रूप से रज्जु का अर्थ ग्रहणीय रहा है। पाँच प्रकार की रज्जुओं 'करणी', 'तत्करणी', 'तिर्यङ्मानी', 'पार्श्वमानी' तथा 'अक्ष्णया' को शुल्व-सूत्रों में विहित किया गया है।[9] कतिपय शुल्बसूत्रकारों ने ज्यामिति-विज्ञान की शुल्ब-विज्ञान अभियान किया है। अतः शुल्ब-सूत्र शब्द संक्षिप्त वाक्य-विन्यासों से मण्डित ऐसे ग्रन्थविशेष का अभिधायक है जिसमें यज्ञ-वेदिकाओं के और अग्नि-चितियों के मापन एवं निर्माण-विधा का विवेचन सूत्र-शैली में उपनिबद्ध हुआ है। शुल्बसूत्रों के अपर नाम भी प्राप्त होते हैं जिन्हें शुल्बप्रश्न एवं विहार-प्रश्न कहा गया है।[10] विहार पद का अर्थ टीकाकार ने परिमाण विशेष किया है।[11] जिसमें अग्नियों का विहरण कराया जाता है यथा प्राग्वंशशाला 'मण्डप' और गार्हपत्यादि यज्ञ-वेदियाँ। यज्ञ-वेदियाँ एवं यजनशाला के निर्माण को ही विहार कहा जाता है। विहरण का अर्थ इन्हीं अग्नियों एवं वेदियों की चतुरसादि रूपों में स्थापना और चयन करना है। सत्माषाढ ऋषि एवं आपस्तम्ब का यह कथन ''विहारयोगान् व्याख्यास्यामः''[12]। अर्थात् ''विहार-योगों'' की अब हम व्याख्या करेंगे, प्रसङ्गतः उचित प्रतीत होता है। जिसकी व्याख्या टीकाकार ने विमान किया है।[13] वस्तुतः विहार पद प्राग्वंश तथा गार्हपत्यादि यज्ञमण्डप और अग्न्यायतनों के अर्थ में प्रसिद्ध है। योगपद रज्जु-विशेष तथा शास्त्रप्रतिपादक सूत्र के अर्थ में प्रयुक्त है। जो उपाय अथवा साधन का बोधक है। शुल्बसूत्र को आचार्य बोधायन ने रज्जु-समास की संज्ञा प्रदान की है।[14] इस प्रकार सुस्पष्ट होता है कि शुल्वसूत्र वह ग्रन्थविशेष है जिसमें यज्ञशाला तथा वेदियों एवं चितियों के मापन, चयन और उनके विनिर्माण की ज्यामितिक व्यवस्था सूत्रशैली में विहित है।[15]

सन्दर्भ

1 माधवीया धातु-वृत्ति, पृ. 545
2 द्र.का.शु.-7.39 विद्याधर शर्मा कृताटीका
3 का.श्रौ., पृ. 52 पर उद्धृत 'आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र 1.4-10 का वाक्य' वेबर सम्पादित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1972
4 मै.सं. 4.1.13, दक्षिणतः सन्नहनं स्तृणाति काठ.सं.-31.10, कठ.सं.-47.10 एवं अन्य
5 वैदिकपदानुक्रमकोश, भाग-4, पृ. 2417, द्र. ओत्तो.वोटलिंग का पाणिनीज ग्रामाटीक की टिप्पणी
6 भोज- उणादिसूत्र, 2.2.221, टी.आर.चिन्तामणि, मद्रास, वि.वि., 1934 तथा सर मोनियर विलियम्स, सं. इ.डिक्शनरी
7 सन्दर्भ हेतु द्र.- आप.श्रौ. 1.4.10-आर. गार्वे सम्पादित, का.श्रौ. पृ. 52, बेवर सम्पादित शुल्व-प्रयोग तथा काठ.श्रोत-संकलनम्, वशिष्ठ सम्पादित, ओरियण्टल कालेज मैगजीन, लाहौर, अगस्त, 1928
8 मा.धातुवृत्ति-चु.धा.सं.-290
9 का.शु.-2.7
10 द्र. आप.श्रौ.-एवं स.श्रौ.के प्रारम्भिक भाग, बौधा.शु.1.2-विहारान्व्याख्यात्याम:
11 बौधा.शु. 1.2, द्वारकानाथ राज्वा कृत टीका, 'परिमाणविशेषान्विहारान्'। विहरणंनाम चतुरसादिरूपेण भूमेः करणम्।
12 सं.शु.-1 तथा आप.शु.-1.1
13 आप.शु.1.1. गोपालयज्वा कृताटीका, विहारीविमानः तेन योगो सम्बन्धी येषामर्थानां ते विहारयोगा विमानोपयादयः
14 बौधा.शु.- 1.1-रज्जुसमासं वक्ष्यामः

● संस्कृत विभाग, गनपत सहाय पी.जी. कालेज, सुलतानपुर (उ.प्र.)



Nomenclature in the Metalanguage of Pāṇini

Satyapal Singh

(अस्मिन् शोधपत्रे पाणिनेः कृत्रिमभाषाविषये, पारिभाषिक-भाषाविषये वा सोदाहरणं विवेचनं प्रस्तुतमस्ति विदुषा लेखकेन। संक्षिप्तता पाणिनीय-व्याकरणस्य प्राणाः वर्तन्ते। संक्षिप्ततायै तेन नैके सिद्धान्ताः अङ्गीकृताः, तद्यथा आगम-आदेश-अनुबन्ध-अनुवृत्ति-कृत्रिमाकृत्रिमा- संज्ञादयश्च तेन स्वशास्त्रं वैज्ञानिकरीत्योपस्थापयितुं प्रयुक्ताः। एतत् सर्वमुदाहरणमुखेन सुष्ठु प्रतिपादितं वर्तते आलेखेऽस्मिन्।)

Language is one of the most precious gift rendered by nature to human beings. It is not only the most effective means of communication but also the means to transmit or hand over the legacy to next generation. Thousands of languages are in use in the world today, where Sanskrit is considered the oldest language and its literature in the form of *Ṛgveda*, the oldest one. We have a long tradition of grammarians who have created various grammars to analyse Sanskrit language. At present only pāṇinian grammar is studied everywhere. Pāṇini has written *Aṣṭādhyāyī* as a main text and four others i.e. *dhātupāṭha, gaṇapāṭha, uṇādikoṣa* and *liṅgānuśāsana* to complement it.

Creating Sanskrit grammar Pāṇini has used laconic style or *sūtraśailī* for the purpose of precision, accuracy and economy of expression. The language of Pāṇinian grammar looks like Sanskrit, but as a matter of fact, it is not Sanskrit. It is an artificial language, where the Sanskrit has been used as its base language. Pāṇini has used the elements of Sanskrit language i.e. phonetics, phonology, affixes, verbs, nomenclature, case-endings, etc. He also has developed and applied some new techniques and terminology which are useful for his grammar only, not for the common-parlance. For example we can see *pratyāhāra* or abbreviations of alphabates, *pribhāṣā-sūtra* or metarules, *pūrvatrāsiddham,* ābhīya *asiddha*, and nomenclature such as *'ṭi', 'ghu', 'gha', 'bha', it* etc. which are of no use in the common parlance.

Thus, the language created or developed for the sake of analysis of a language, which cannot be used in common-parlance, is known as metalanguage.

The metalanguage of Pāṇini in many respects is different from Sanskrit language. And the differences can be listed as follows :

(i) Pāṇini has not used the common-man's style of language either prose or poetry while creating the grammatical text *Aṣṭādhyāyī* and others. He has used laconic style or *sūtra-śailī* where a very few words are used to communicate.

(ii) For the economy of expression or *lāghava* he has dropped all the verbal elements like *asti, bhavati* etc.

(iii) He has used the technique of *anuvṛtti*, so he never repeats a word in the following aphorisms, unless and untill it becomes indispensible.

(iv) He has used *anubandha* or markers like *ṭit, kit, mit* etc. for different derivational processes and purposes which are not used in common-parlance.

(v) He has used various *pratyāhāra* or abbreviations created out of the particularly ordered alphabets, which are not used in general language of common people; such as : *'ik', 'yaṇ', 'ac'* etc.

(vi) He has created his own interpretive rules called metarules or *paribhāṣā-sūtra*, e.g. *sthānivadādesonalvidhau*[1], *midaco'ntyātpraḥ*[2], *sthānentara-tamaḥ*[3] etc. All these metarules are of no use in common Sanskrit language.

(vii) Pāṇini has created his own techniques and principles such as *pūrvatrāsiddham*[4] or rule of suspension, where he divides *Aṣṭādhyāyī* into two major sections. First section consists of seven chapters and a quarter of eighth chapter, which is called *sapādasaptādhyāyī* in the tradition. Second section comprises three quarters of the eighth chapter, which is called *tripādī*. By this rule of suspension *pūrvatrāsiddham* the application of an aphorism from *trīpādī* can be treated as suspended with reference to another rule or aphorism from *sapādasaptādhyāyī*. Ofcourse this technique is also of no use in common Sanskrit language.

(viii)In the domain of '*asiddhvadatrābhāt*'[5] all the aphorisms are mutually suspended.

(ix) Pāṇini has used same case-endings as are used in common Sanskrit language but assigns some of them entirely different meaning, such as in common Sanskrit language ablative (*apādāna*) is used to denote a fixed item or boundary-point from where an other article gets separated, whereas in the metalanguage of Pāṇini it has been assigned entirely different meaning by the aphorism '*tasmādityuttrasya*'[6], which states that if an ablative case is used in *Aṣṭādhyāyī* with any of the *prātipadika*. In the same way Pāṇini has also assigned different meanings to genitive and locative cases as well by the aphorisms '*ṣaṣṭhī sthāne, yogā*'[7] and '*tasminniti nirdiṣṭe pūrvasya*'.[8]

(x) He has also created new nomenclature, such as '*ṭi*', '*ghu*', '*bha*' etc. and assigns a specific meaning. This point will be discussed in detail in this paper as its main theme.

Purpose of Nomenclature : The purpose of nomenclature in general is to differentiate things or elements with each-other or *vyāvartana* and practical dealing or *vyavahāra*. Without naming the things in our day-to-day life dealing will not be possible.

Pāṇini has also these two purposes in his mind creating nomenclature. Beside these two he has added one more element namely brevity or *lāghava* which is foremost to him. He has created new lexicons, which are minimal in size. He has created and used monosyllabic nomenclature in his *Aṣṭādhyāyī* which we will discuss under various sub-headings in this paper. Generally Pāṇini refrains from

the use of long-words as nomenclature. Wherever he has used long words as a nomenclature he has some specific purpose, such as some subtle message or etymological meaning *(anvartha saṃjṇā)* behind it. For example we can take the nomenclature '*vṛddhi*' - Pāṇini starts his text *Aṣṭādhyāyī* by the word '*vṛddhi*' in the aphorism '*vṛddhirādaic*'[9], as he considers it auspicious. That is why he has used the word '*vṛddhi*' in the initial aphorism, as has been stated by *Patañjali* in the *Mahābhāṣya* - '*vṛddhiḥ ṣabdaḥ maṅgalārtham prayujyate maṅgalādīni maṅgalamdhyāni maṅgalāntāni ca śāstrāṇi prathante vīrapuruṣakāṇi ca bhavanti*'.[10]

We can take another long naming word '*saṃyoga*', which refers to the consonents joined with each other without interruption of vowels. Here etimological meaning of the nomenclature '*saṃyoga*' is the same as it has been used by Pāṇini in the same sense i.e. '*saṃyujyante varṇā asminniti*'. To show the importance of brevity in the grammatical tradition it is stated like a maxim that half of a short vowel brevity gives them pleasure like a birth of a male child or son.[11]

Types of Nomenclature: We can have two broader division of the nomenclatures in the Pāṇinian metalanguage, namely *defined nomenclature* and *undefined nomenclature*.

Defined nomenclature: There are nomenclatures which have been defined by Pāṇini himself. He starts his scripture (śāstra) with the nomenclature '*vṛddhiḥ*', which he defines as '*ādaic*' i.e. '*ā*', '*ai*' and '*au*'.[12] It also reflects upon the importance of nomenclature in the scripture. The defined nomenclature may be categorized further into two categories. *First*, the new lexicons created by Pāṇini himself as nomenclature for the sake of his grammar, which are of no use in common Sanskrit language. The nomenclatures like '*upadhā*', '*ṭi*', '*ghu*' etc. fall in this category which we are going to discuss thereon.

(i) *upadhā* - '*alo'ntyātpūrva upadhā*'[13] the letter, enumerated in the *pratyāhāra* or abbreviation '*al*', which precedes the final letter of an item is called '*upadhā*'. In other words the penultimate letter of any word is called '*upadhā*'.

(ii) *ṭi* - '*acontyādi ṭi*'[14] - The part of an item which begins with the last vowel is termed '*ṭi*'.

(iii) *ghu* - '*dādhāgvadāpa*'[15] - The roots or *dhātu* of the form '*dā*' and '*dhā*', except '*dāp*' and '*daip*' are termed '*ghu*'.

(iv) *gha* - '*taraptampau ghaḥ*'[16] The affixes '*tarap*' and '*tamap*' are named '*gha*'.

Second, the nomenclature generally used in common Sanskrit language as well as in the Pāṇinian metalanguage, but does not bear the same meaning. Pāṇini has redefined that kind of nomenclatures to assign some entirely new meaning or import to them. From which we are going to discuss a few such nomenclatures here.

(i) *vṛddhiī* - in common language '*vṛddhi*' means 'to grow', whereas in Pāṇinian metalanguage '*vṛddhiī*' means '*ā*', '*ai*' and '*au*', which has been defined by the aphorism '*vṛddhirādaic*'.[17]

(ii) guṇa - The term '*guṇa*' means qualities in common Sanskrit language. In philosophical discourse it means *'sattva', 'rajas'* and *'tamas'*. In *āyurveda* or Indian medical science it means '*vāta*', '*pitta*' and '*kapha*'. But in the Pāṇinian grammar the '*guṇa*' word has been assigned an entirely different meaning by aphorism '*adeṅ guṇaḥ*'[18], which means the letters 'a', 'e' and 'o' are known as '*guṇa*'.

(iii) Nadī - In the general Sanskrit language term '*nadī*' means 'stream of water' or river, but in the metalanguage of Pāṇini term 'nadī' means the feminine forms of a word which terminates with long vowels *'ī'* or *'ū'*. Pāṇini has defined the term *'nadī'* by the aphorism '*yūstryākhyau nadī*'.[19]

Here in the cited examples, words are the same in general Sanskrit language and Pāṇinian metalanguage, but the meanings or imports of those words are entirely different.

Undefined nomenclature : Pāṇini has borrowed many nomenclatures from his predecessors and from the tradition, and has used them in his grammatical literature without defining them. We will discuss in the following elaboration, a few of those nomenclatures, namely '*kāraka*', '*prathamā'*, *'auṅ', 'āṅ'* etc. Pāṇini has used the nomenclature *'kāraka'* in the aphorisms *'kārake'*[20], *'akartari ca kārake saṃjñāyāṃ'*[21] etc. for all the case-endings as a common nomenclature, but has nowhere defined it. He has also used '*auṅ*' for dual numbers of first and second cases i.e. '*au*' and *'au—'* without defining it. In the same way he has also used the nomenclature '*āṅ*' in the aphorism '*āṅo nā', striyām*'[22] to signify the singular number of instrumental case i.e. '*ṭā*', but has never defined.

It appears by these illustrations that these technical terms were already in use in the grammatical tradition. Pāṇini has borrowed these technical terms and uses in the same sense as has been used in the tradition by his predecessors. That is why Pāṇini had not defined these nomenclatures. Thus, the tendency towards the economy of expression can be seen everywhere in the use of nomenclature in the metalanguage of Pāṇini.

Categorization on the basis of import or meaning: We can also categorize the nomenclature, used in the Pāṇinian metalanguage, on the basis of meaning or import or *saṃjñā*. We can make following categories of referents to categorize them i.e. (i) letter (*varṇa*), (ii) *group of letters* (*varṇasamūha*), (iii) word (*śabda*), (iv) group of words (*śabdasamūha*) and (v) concept (*artha*). In the following illustration using '*sthālipulākanyāya*' we are going to discuss a few examples of each category.

(i)Letter *(varṇa)*

vṛddhi - Pāṇini defines the term '*vṛddhi*' as *'ā'*, '*ai*' and *'au'* by the aphorism '*vṛddhirādaic*'. It means all the above mentioned three letters long vowels *'ā'*, *'ai'* and *'au'* are, individually, referents of nomenclature *'vṛddhi'*.

Guṇa - The nomenclature '*guṇa*' has also been used to refer to the letters individually *'a', 'e'* and *'o'* by the aphorism *'adeṅ guṇaḥ'*.[23]

Upadhā - The nomenclature '*upadhā'* has been used to refer to penultimate letter or *'al'* of an item by the aphorism *'alo'ntyāt pūrva upadhā*.[24]

There are many other nomenclatures, which also refer to a single letter as there referents or *saṃjñī*, in the Pāṇinian grammar.

(ii) Group of letters

varṇasamūha : Now a few examples of nomenclatures, which refer to the group of letters, will be discussed here.

ṭī - Pāṇini has defined the nomenclature '*ṭi*' by the aphorism '*aco'ntyādi ṭi*'.[25] It says - the last vowel of an item along with the following consonant is called '*ṭi*'. e.g. '*manas+ī-ā*' here '*as*' portion of the word '*manas*' is called '*ṭi*'.

Saṃyoga - In the Pāṇinian grammar *'saṃyoga'* has been used to refer to a sequenced group of consonants or *'hal'* uninterrupted by a vowel or *ac*, by the aphorism '*halo'nantrāḥ saṃyogaḥ'*[26], e.g. in the word '*indra*' the consonants '*n*', *'d'* and *'r'* are in a sequence and not interrupted by a vowel or *ac* so *n, d, r* = '*ndr'* are called *saṃyoga*.

(iii) **Word (*śabda*) as a referent or *saṃjñā*** - Pāṇini has defined and used some nomenclatures which denote individual words as their referents or *saṃjñā*. We can see a few of them in the following examples.

Dhātu - The nomenclature '*dhātu*' refers to the words which denote action and enlisted in the text *dhātupāṭha* that begins with the word *'bhū = sattāyām'*. This has been defined by the aphorism '*bhūvādayo dhātavaḥ*'.[27]

Prātipadika - Pāṇini defines *'prātipadika'* as a meaningful word or an item which is neither an affix *(pratyaya)* nor a verb *(dhātu)* by the aphorism *'atharvadadhāturapratyayaḥ prātipadikam'*.[28]

(iv) **Group of words (*śabdasamūha*) as a referent or *saṃjñā*** - Pāṇini has also used some of the nomenclatures which denote a group of words' (*śabdasamūha*) as their referent or *saṃjñā*. We can see the following nomenclatures:

Abhyasta - The aphorism '*ubhe'bhyastam*'[29] defines the nomenclature '*abhyasta*'. The aphorism states - 'where a word gets reduplicated or doubled, in that case both the words jointly are named '*abhyasta*.

(v) **Concept or *artha* as a referent or *saṃjñā*** - Pāṇini has used in some cases the meaning or concept as a referent of a nomenclature, we will discuss a few of them in the following discussion :

Saṃhitā - The nomenclature '*saṃhitā*' has been used to denote the juxtaposition of letters in a word or in a sentence. Pāṇini has defined *'saṃhitā'* by the aphorism '*paraḥ sannikarașaḥ saṃhitā.*'[30]

Lopa - The nomenclature '*lopa'* has been used by Pāṇini to denote the meaning of the word *'adarśana'*, i.e. omition or not to be visible. The aphorism *'adarśanaṃ lopaḥ'*[31] defines the nomenclature *'lopa'*.

Classification of nomenclature on the basis of nature: The nomenclature used in the Pāṇinian metalanguage can also be classified, on the basis of nature, into two groups namely (a) universal *(sārvatrika)* (b) sectorial (*ekadeśaḥ*).

(a) Universal (*sārvatrika*) - Some of the nomenclatures are universal (*sārvatrika*) in nature. These nomenclatures are universally applicable to whole of

Aṣṭādhyāyī or even to whole of Pāṇinian grammatical literature, e.g. *pratyaya, dhātu, upadhā, ṭi* etc. All these nomenclatures are not restricted to any specific area.

(b) Sectorial *(ekadeśaḥ)* - Some of the nomenclatures are sectorial *(ekadeśaḥ)* in nature, and applicable to a specific area not to the whole of *Aṣṭādhyāyī*. We will explicate it in the subsequent examples.

(i) Upapada - The nomenclature '*upapada*' is applicable to the domain of the aphorism '*dhātu*' which starts from '*dhātoḥ*'[32] and goes upto the end of third chapter of *Aṣṭādhyāyī*. Pāṇini defines the term '*upapada*' by the aphorism '*tatropapadaṃ saptamistham*'[33], which states that - an item cited in the locative in the domain of '*dhātoḥ*' is called '*upapada*'. Application of this sectorial nomenclature '*upapada*' can be seen in the aphorism '*karmaṇyaṇ*'[34] where the word '*karmaṇi*' has been cited in locative, therefore, '*karman*' is named '*upapada*'.

(ii) Sārvadhātuka* and *ārdhadhātuka - Both of these nomenclatures are also sectorial in nature. These two nomenclatures have been attributed to the affixes which are also within the domain of '*dhātu*'. These two nomenclatures have been defined by the aphorisms '*tiṅśit sārvadhātukam*'[35] and '*ārdhadhātukam śeṣaḥ*'.[36]

We can, thus, conclude that the nomenclatures in the metalanguage of Pāṇini are well designed and have been assigned specific meanings to serve the greatest purpose of brevity. Therefore, nomenclatures in the metalanguage of Pāṇini have become an instrument to bring precision, accuracy and brevity to his Sanskrit grammar.

References

1 *Aṣṭādhyāyī* = (Aṣṭa.) 1.1.56.
2 *Ibid.*, 1.1.47.
3 *Ibid.*, 1.1.50.
4 *Ibid.*, 8.2.1.
5 *Aṣṭa.*, 6.4.22.
6 *Ibid.*, 1.1.67.
7 *Ibid.*, 1.1.49.
8 *Ibid.*, 1.2.66.
9 *Aṣṭa.*, 1.1.1
10 Mahābhāṣya = (M.b.) 1.1.1
11 *Arddhamātrālāghavaṃ putrotsavavat manyante vaiyākaraṇāḥ.*
12 *Aṣṭa.*, 1.1.1.
13 *Ibid.*, 1.1.65.
14 *Ibid.*, 1.1.64.
15 *Ibid.*, 1.1.20.
16 *Ibid.*, 1.1.22.
17 *Aṣṭa.*, 1.1.1.
18 *Ibid.*, 1.1.2.
19 *Ibid.*, 1.4.2.
20 *Ibid.*, 1.4.23.
21 *Ibid.*, 3.3.19.
22 *Aṣṭa.*, 1.4.23.
23 *Ibid.*, 1.1.2.
24 *Ibid.*, 1.1.65.
25 *Aṣṭa.*, 1.1.64.
26 *Ibid.*, 1.1.7.
27 *Ibid.*, 1.3.2.
28 *Ibid.*, 1.2.45.
29 *Aṣṭa.*, 6.1.5.
30 *Ibid.*, 1.4.109.
31 *Ibid.*, 1.1.60.
32 *Aṣṭa.*, 3.1.91.
33 *Ibid.*, 3.1.92.
34 *Ibid.*, 3.4.113.
35 *Ibid.*, 3.4.113.
36 *Ibid.*, 3.4.114.

● **Sanskrit Department, Zakir Husain Delhi College, University of Delhi, Delhi.**



Divine *śaktis* in the *Mārkaṇḍeya-Purāṇa*

Narasingha Ch. Panda

(मार्कण्डेयपुराणे देव्याः शक्तेः किं स्वरूपं वर्णितं वर्तते इति पत्रेऽस्मिन् विवेचितमस्ति। तत्र च बिशिष्य महाविद्यायाः किं स्वरूपं वर्तते इति सुष्ठु प्रदर्शितं विदुषा लेखकेन। मार्कण्डेय-पुराणे काली-तारा-षोडशी-भुवनेश्वरी-छिन्नमस्ता-त्रिपुरा-भैरवी-धूमावती-बगलामुखी- मातङ्गी-कमला-प्रभृतीनां दश महाविद्यानां कीदृशं स्वरूपमासीदिति सुष्ठु अन्वेषितं वर्णितं च वर्तते लेखेऽस्मिन्।)

Purāṇas are known as the fifth *Veda*[1] in Indian culture. The aim of *Purāṇas* is to acquaint the general mass with the teachings and philosophy of the *Veda* which are to be adopted as the principle and thus to achieve the goal of life. As Vedavyāsa says: "*itihāsa-purāṇābhyāṃ vedaṃ samupabṛṃhayet*."[2] So, for the complete study of the *Vedas, Purāṇas* are indispensable. Vedic study was confined to a limited intellectual group. But, the *Purāṇas* were open to all. Various *Purāṇas* provide us valuable information about the social religious and cultural life of ancient and medieval India. It is noteworthy that despite exaggerations, myths and legends, some of these works throw considerable light on the early political history of India.

The Eighteen *MahāPurāṇas*[3] enunciate the meaning and the implication of vice and virtues in our life in various ways. They elaborately describe the aim of our life with a view to making our life more virtuous and fit to achieve the goal of four *Puruṣārthas*, i.e. *dharma*, *artha, kāma* and *mokṣa*. Hence, the *Purāṇas* explain the real truth and value of life and thus serve the purpose of welfare of mankind in their own way.

The *Purāṇas* are a sort of encyclopedia endeavouring to deal with the histories of five independent subjects, viz. creation and recreation of the universe, gods, reigns of fourteen manus, and the kings of the solar race as Rāma and others, and of the lunar race as Pāṇḍavas and others. Similarly, the dynasties of the Nandas, Mauryas, Guptas and others are mentioned. In no other country or civilization such gigantic attempt was ever made to threat of so many subjects in such single volumes.

Besides, the *Purāṇas* are a vast store- house of authentic materials supplying themes or many works of classical Sanskrit, prose, poetry, and drama. They also contain useful geographical information and also mention different cult of worship, *vratas* and *tīrthas*. In addition to these, *Purāṇas* also contain the knowledge of various branches of science, viz. Medical science, Astronomy, Botany, Chemistry,

Vāstu, and Architecture.

Among the Eighteen *Mahāpurāṇas*, ten are termed as śaiva-Purāṇas, four Brahma-Purāṇas, two śākta-Purāṇas and four *Vaiṣṇava Purāṇas* as mentioned in the *Kedārakhaṇḍa* of *Skandapurāṇa*. The *śaiva , Bhaviṣya, Mārkaṇḍeya, Liṅga, Varāha, Skanda, Matsya, Kīrma, Vāmana, Brahamāṇḍa* are the ten śaiva Purāṇas; Viṣṇu, Bhāgavata, Nāradīya and Garūḍa are four *Vaiṣṇva Purāṇas;* whereas *Brahma* and *Padma* describe the glory of lord *Brahmā* and hence are called the *Brahma-Purāṇas.*

The *Mārkaṇḍeya Purāṇa*[4] is one of the oldest *Purāṇas*. It is a very popular and most important work of the Indian tradition. This *Purāṇa* has 137 chapters. A study of the treatise reveals three stages of its developments. Chapters 1-44 are represented as narrated by four wise birds living Vindhya Mountain. Chapters 45 to 80; nominally a dialogue between Jaimini and Dharma-birds, but in reality the interlocutors are *Mārkaṇḍeya* and his pupil *Krauṣṭuki* who starts the real discussion on the Purāṇic contents. Chapters 81 to 93 constitute the *Durgā-saptaśatī* or *Devī Māhātmya*, popularly known as *'Caṇḍī'* or *'Durgā Saptaśatī'*. Presently, *Durgā-saptaśatī* is well-recognized as a separate sacred text like *Bhagavad-Gītā* and it is being Chanted everyday by a number Hindus, i.e. the worshippers of *Devī Durgā*. In order to satisfy the Supreme Goddess Durgā the devotees used to chant the sacred verses of this holy text.

It is known that *Devī Durgā* is the Divine Supreme Power. She is the mother who creates the world and all creatures. *Śakti* is symbolized as a women or the mother. In the *Mahānirvāṇa Tantra*[5], *śakti* has been addressed as *Kālī, Tāriṇī, Durgā, ṣoḍaśī, Bhuvaneśvarī, Dhūmāvatī, Bagalā, Bhairavī, Chinnamastā, Annapūrṇā, Vāgdevī, Kamalālayā and śivā*. In the *saundaryalaharī*[6], śakti has been called Aruṇā, Pārvatī, Caṇḍī, Umā, Bhavānī, Satī, Samayā, besides Jananī, Mātā, Devī and Ambā. In the LalitāSahasranāma, śakti has been named as Kālī, Karālī, Kalāvatī, Kamalā and Kalidarpaghnī. These names have occured due to their various functions, qualities and forms.

Lord śiva is commonly said to be the male principle and *śakti* is the female principle. As a matter of fact they are neither male nor female, nor are they neuter. The person, who worships the wisdom (*jñāna*) aspect of reality commonly called the male principle, is an śaiva; and he worships the power aspects, or the female principle, is called *śākta*. When Lord śiva is worshipped, his consort is also worshipped, as these two are inseparable. For the same reason when *śakti* is worshipped, śiva is also worshipped. śakti is an immanent principle of śiva[7]. Without śakti, śiva is inactive. Devoid of *śakti*, śiva would be insentient (*jaṇa*) and, consequently, as good as dead (*śava*). Śiva knows Himself only through his śakti. But śakti also depends upon śiva for its functioning. Both are essentially dependent upon each other.[8] Śakti is symbolically represented as the spouse of Śiva and hence she is the immanent principle of Śiva.

The forms of śakti are numerous. A number of them are classed as the *Mahāvidyās* - or Vidyās and the Nityās. The Tantrasāra quotes two lists of Mahāvidyās from the *Mālinivijaya* and the *Muṇḍamālā-Tantra*, of which the following ones

giving ten names are very popular in eastern India : (1) *Mahākalī*, (2) Tārā, (3) ṣoḍaśī, (4) Bhuvaneśvarī, (5) Chinnamastā, (6) Bhairavī, (7) Dhūmāvatī, (8) Bagalāmukhi, (9) Mātaṅgī, (10) Kamalā. These ten *Mahāvidyās* or *śakti's* are worshipped in their respective *yantras*. The *yantras* of these ten *Mahāvidyās* are also very famous in the Tāntric rirtual.

1. Devī Kālī :

Devī Kālī is considered to be the most important and popular of the śakti deities in eastern India. She is worshipped on different occasions under different names and forms, all fearful and ferocious, manifesting the spirit of destruction which she represents.

Regarding the origin of Kālī, which is described in the *Tantras* as the chief of all the *Mahāvidyās*, different accounts are available. According to the *Svatantra Tantra*, quoted in the Prāṇatoṣinī, she appeared in the city of Avanti on the day of Mahārātrī, i.e. on the dark eleventh of the month of Phālguna. She is often identified with Satī, the daughter of Dakṣa and with Pārvatī, the daughter of Menakā. The Muṇḍamālā-Tantra identifies Kālī with Kṛṣṇa and ṣoḍaśī. It is not proper to enter here into a detailed study of the very close relation existing, from the cultural view point, between Kṛṣṇa and ṣoḍaśī. What concern us here is that the Vidyās Kālī and ṣoḍaśī too are similarly connected. The *Prāṇatoṣinī Tantra* gives a vision of the story of Kālī 's conversion into Sundarī or ṣoḍaśī.

There are several varieties of this Goddess. In the *Puraścaryārṇava,* we find mention of nine types, viz. Dakṣīṇā, Bhadrā, Smaśāna, Kāla, Guhyā, Kāmakalā, Dhanā, Siddhi and Chaṇḍī. The Jayadratha Yāmala refers to Ḍambara, Kālī, Gahanesvarī, Ekatārā, Chaṇḍaśābarī, Vajravatī, Rakṣākālī, Indīvarī Kālī, Dhandā, Ramaṇyā, Īśānakālī and Mantramātā. The Saṣmohana Tantra speaks of ten varieties, but actually mentions seven, viz. Sparśamaṇi, Chintāmaṇi, Siddhakālī, Vidyārājñī, Kāmakalā, HaṃsaKālī and GuhyaKālī. Of these varieties Dakṣiṇā and Bhadra- Kālī belong to the Southern Āmnāya, while Guhya Kālī, Kāmakalā, Mahākālī and Mahāśmaśāna Kālī belong to the northern Āmnāya. Guhya Kālī, generally worshipped in Nepal, is often described as the best of all types, and it was of this goddess that Brahmā, Vasiṣṭha, Rāma, Kuvera, Yama, Bharata, Rāvaṇa, Bali, Indra and others were the worshippers. The number of her faces is said to vary with various Sādhakas. The type which Bharata worshipped has ten faces and her *mantra* consists of sixteen syllables. The external features of the types of which Rāmacandra was a votary are exactly the same, but her *mantra* consists of seventeen syllables rather than sixteen. *Hārīta* and Cyavana both worshipped this seventeen syllable *vidyā*, but Hārīta obstructed it with a Kīla, so that until this is removed, which is practically a very difficult matter, it cannot reveal itself and become effective. The Cyavana type is still in use. The *MahākālaSaṃhitā* explicitly says that the ten faced type of Guhyakālī[9] is the fundamental type of which the other varieties are modifications. There are seven varieties of Guhyakālī and five of Daṣhiṇā Kālī. The worshippers of Kāmakalā Kālī are named in the *Mahākāla Saṃhitā*, viz. Indra, Varuṇa, Vivasvān, Chandra and the seers. The eighteen syllabled type of this Vidyā is supposed to be

the best among others.

Goddess Kālī is called Kālasaṇkarṣiṇī, because she destroys time and death. Abhinavagupta describes three forms of Kālī, viz. Sṛṣṭi-Kālī, Rakta-Kālī, Sthitināśa-Kālī, Yama-Kālī, Mṛtyu-Kālī, Bhadra-Kālī, Mārtaṇḍa-Kālī, Paramārka- Kālī, Kālāgnirudra-Kālī, Mahākāla- Kālī and Mahābhairava- ghora- Caṇḍakālī.

It is observed that goddess Kālī manifests powers of (1) *Sṛṣṭi* or manifestation, (2) Sthiti or maintenance, (3) *Saṃhāra* or withdrawal, (4) *Anākhyā* or the indefinable aspect in relation to *pramātā*, *pramāṇa* and *prameya*. So, Kālī assumes twelve forms.

In the *Muṇḍaka-Upainṣad* Goddess Kālī is described as black in colour and terrible in Nature :

Kālī Karālī-ca manojavā ca sulohitā yā ca sudhśmravarṇā.[10]

2. Devī Tārā :

Goddess Tārā is the second Mahāvidyā in the list. She is regarded as the Devī of knowledge. She is variously named as: Ugra Tārā, Nīla Sarasvatī, Ekajaṅā, Mahā Tārā, Vidyārājñī, Vāgīśvarī and Sarasvatī. The Tantracūḍāmaṇī and Tantrārṇava describe it as Kuchchhukā and call it a secret Vidyā. In the *Tārārahasya-vṛtti*, the mention of several kinds of Tārā is also to be noted as : Tārā, Ugrā, Mahogrā, Vajrakālī, Sarasvatī, Kāmeśvarī and Bhadrakālī.

According to the Indian Tantric tradition, different *mantras* of this goddess were worshipped by different persons for different purposes. Thus, for instance the *mantras* which Brahmā had resorted to while conferring boons on Tārakāsura and Hiraṇyakaśipu were twelve syllables and seven syllables respectively. Rāma's *mantra* was seven syllables. There is a seven syllabled *mantra* of the Goddess associated with the name of Brahmā, but it is somewhat different. Nārāyaṇa, for subjugating the *daityas*, worshipped the five syllabled form of the *mantra*. Lord Viṣṇu, in the form of Buddha, is said to have worshipped the twelve syllabled *mantras* for preaching of Buddhism. The *mantra* which *Mahādeva* gave to Paraśurāma, and incarnation of Viṣṇu, for bringing to an end the Kṣatriyas in the land was five syllable *mantra* of Goddess Tārā.

The different forms of Tārā of which the exact number cannot be determined, are arranged in some *Tantras*, according to the Āmnāya to which each is affiliated. So, *Sparśatārā*, Candravarṇā, Candraghṇṭā, Ghaṇṭikā and Trailokyavijayā belong to the last; Cintāmaṇi, Siddhajaṭā, Trijaṭā, Krūra-mālikā, Krūracaṇḍā, Vajratārā, Brahmatārā Maṇitārā, etc. belong to South; Ugratārā and eighty-four types of Haṃsatārā, Mahānīlā Sarasvatī, Nilasundarī and Mahānīla-sundarī to the Upper Āmnāya.

In connection with the origin of the Goddess Tārā is known that She is came forth from the upper mouth of Lord śiva in the form of bright flame and fall into the Chola lake to the west of mount meru on the day of kālarātrī, i.e., on the day of Dīpāvalī. Rising out of the lake she assumed a blue hue and became known as Nīla-sarasvatī. It is to be noted that for a long time the Tārā-mantra, owing to the cause

of Vasiṣṭha, remained subsequently, so as to remove its barrenness. In some places it is noted that the effect of the curse was till the advent of the Kṛṣṇa incarnation.

However, it is a fact that Tārā is the only one goddess who is venerated not only in the Hindu Tantric tradition, but also in the Buddhist Tantric tradition by a large number of devotees in this country. According to the ancient tradition, Goddess Tārā is said to symbolise the parāvāk in embodied form. She is held to be of the nature of *Pūrṇa-ahaṣtā* , i.e. The pure' I experience' in absolute form. This way, goddess Tārā is now popularized in both Hindu and Buddhist Tantric tradition as a goddess of Nila Sarasvatī.

3. Devī ṣoḍaśī :

Devī ṣoḍaśī is the third Mahāvidyā. She represents the power of perfection and sustenance. In the Tantric tradition she is known by the names of śrīvidyā and Tripurasundarī. Kāma is the main aspect in worshiping Tripurasundarī. She is the main Devī of śrīvidyā form of worship and is invoked either in the śrīyantra or in her own Yantra. [11]

It is known that Śrī śaṇkarācārya was a follower of the śrīvidyā tradition for his spiritual practices, which is evident from the fact that he installed a śrīcakra in all the *maṭhas* he established. This also fortifies our contention that worship of *śrīvidyā* was in the beginning common to both the Vedic and Tantric traditions. [12] Besides these, Devī ṣoḍaśī was said to be worshipped at twelve different places in different forms, e.g. as Kāmākṣī at Kāñcipuram, as Bhrāmarī in the region called Malayagiri, as Kaumārī at Kanyākumārī, as Ambā at Anarta in Gujrat state, as Devī Mahālakṣmī at Karabīra, as Kālikā in Malwa, as Lalitā at Prayag. She is also worshipped as Vindhyavāsinī in Vindhyācala in U.P., as Viśālākṣī at Kashi(Varanasi), as Maṇgalācaṇḍī at Gaya, (Bihar) as Sundarī in Bengal and Devī Guhyeśvarī in Nepal.[13] However, Devī ṣoḍaśī is being worshipped by the different Tāntric worshippers in various parts of the world to obtain worldly material as well as spiritual happiness in life.

4. Devī Bhuvaneśvarī :

Goddess Bhuvaneśvarī is the fourth of the ten Mahāvidyās. She appears in her *yantra* seated on a star hexagon, which is associated with the transcendent immensity of both the male and female principle as one. In the *Bhuvaneśvarī yantra* she is described as :

uddyadinadyutimindukirīṅāḥ tuṅgakucāḥ nayanatrayayuktām /
smeramukhīḥ varadāṅkuśapāśā-bhītikarāḥ prabhaje bhuvaneśīm //[14]

At present, the worship of the goddess Bhuvaneśvarī remained confined to isolated pockets with a limited number of Tāntric devotees. Śākta Pramoda, Bhuvaneśvarī-Tantra, Bhuvaneśvarī-Rahasya, Bhuvaneśvarī-stotra and Bhuvaneśvarī Pārijāta are the few texts in which the nature and form of the goddess and the Tāntric rituals connected with her worship are described.

5. Devī Chinnamastā :

Goddess Chinnamastā is also known as Pracaṇḍa Caṇḍikā. The Chinnamastā-Tantra, *śaktisaṅgama Tantra* and *śākta Pramoda* describe her real form (svarūpa), quality (*guṇa*), *yantra, mantra* and the procedure of worship. The *śaktisaṅgama Tantra* in its section named Chinnamastā throws some light on her nature. However, due to Her terrible form, she has very few devotees.

6. Devī Tripurā Bhairavī :

Goddess Tripurā Bhairavī is being worshipped in different forms and names, such as: *Kamaleśvarī-Bhairavī, Siddhi-Bhairavī, Caitanya-Bhairavī, Nityā-Bhairavī,* etc. Her devotees worship her with great devotion. Her nature and mode of worship can be known from the *Bhairavī-Tantra, Bhairavī-Saparyāsiddhi, Bhairavī-Rahasya,* etc. Her *yantra* is a hexagon placed within a circle of lotuses. The *śāradātilaka Tantra* describes Tripurā Bhairavī as:

udyatbhānusahasrakāntimaruṇakṭaumāḥ śiromālinīm.
raktāliptapayodharāḥ japavaṭiḥ vidyāmabhītiḥ varā.
hastābjairdadhatīḥ trinetravilasad vaktrāravindaśriyam.
devīḥ baddhahimāṃśuratnamukuṭām vande samandasmitām.[15]

7. Devī Dhūmāvatī :

Goddess Dhūmāvatī is known as the goddess of *Uttarāmnāya*, i.e. belonging to northern region who moves in a chariot having the flag marked by a crow. [16] She is represented wearing a white dress and holding a winnowing instrument is one of her hands. Besides, she is depicted as an emaciated witch -like goddess. She is invoked by her devotees for vanquishing their enemies. In the *Mantramahodadhi*, the nature and importance of the Devī are described. Her *bīja-mantra* is *'dhūm'*. Goddess *Dhūmāvatī* should be worshipped by the following *mantra* :

"dhanahṛṣṭā dhanapuṣṅā dānādhyayanakāriṇī.
dhanarakṣhā dhanaprāṇā dhanānandakarī sadā.
śatrugrīvācchidācchāyā śatrupadhatikhaṇḍinī.
śatruprāṇaharāhāryyā śatrūnmūlanakāriṇī.
madirāmodayukto vai devīdhyānaparāyaṇaḥ.
tasya śatruḥ kṣayaṃ yāti yadi śakrasamo'pi vai.[17]

8. Devī Bagalāmukhī :

Goddess Bagalāmukhī is the eighth Mahāvidyā. She is always invoked by the devotees for paralyzing the activities of enemies in all the three spheres of creation. Besides, She is meditated upon as holding the tongue of the enemy with one hand, and thrashing him with a club. By the grace of the Devī the adept becomes powerful enough to enchant the world. [18] Datia in Madhya-pradesh is well-known for sheltering a temple dedicated for her worship.

9. Devī Mātaṅgī :

The ninth Mahāvidyā is Devī Mātaṅgī. She is depicted as having a fierce look. According to Brahmayāmala, the goddess, placed with the austerities performed

by sage Mātaṅga, incarnated in the family of the sage as his daughter, therefore she bears the name Mātaṅgī. The *Mātaṅgī krama* and *Mātaṅgī Paddhati* are two well-known Tantric texts shedding light on her nature and various ways of worship. Besides, Mātaṅgī is known by various names, viz. Sumukhī, Ucchiṣṭacāṇḍālinī and Mahā- piśācinī. She also appears in various forms and names, such as: *Rāja-Mātaṅgī*, *Vaśya-Mātaṅgī, Karaṇa-Mātaṅgī,* etc. *Devī Mātaṅgī* represents the power of domination, dispels evil and dispenses justice to all.

10. Devī Kamlā :

Goddess Kamalā is the tenth of the Mahāvidyās. She is a very adorable goddess on account of her fair complexion and charming face. She is bedecked with garlands made from priceless gems and wears a beautiful crown on her head. Four white elephants from the snow-clad Himalayan peaks are depicted as continuously pouring holy waters from four golden jars which they hold with their trunks. She sits on a beautiful lotus. From the name and the description it appears that Lakṣmī, the goddess of wealth and fortune of the Purāṇas is identical with the goddess Kamalā. The *śāradā-tilaka, śāktapramoda* and *Tantra-sāra* etc. describe her form and mode of worship in a positive way. The *śāradātilaka* describes goddess Kamalā as:

> *kāntyā kāñcanasannibhāḥ himagiriprakhyaiścaturbhirgajai -*
> *rhastotkḥiptahiraṇmayāmṛtaghaṭairāsicyamānāḥ śriyam.*
> *vibhrāṇāḥ varamabjayugmamabhayaḥ hastaiṙ kiriṭojjvalāḥ-*
> *kṣaumābaddhanitambalalitāḥ vande'ravindasthitām.*[19]

This way, the above ten Mahāvidyās have a great significance in the Indian Tāntric tradition. These goddesses are being worshipped in their respective *yantras* by their devotees to obtain the four *puruṣārthas*, i.e., *dharma, artha, kāma* and *mokṣa* in life.

Durgā Saptaśatī or *Devī Māhātmya* depicts Devī in her universal form as śakti. Goddess Durgā, represents the lethal energy of Divine Anger when turned against evil. According to the text the world was under attack by the furious demon *Mahīṣāsura*, who took various forms including that of a buffalo. The gods, fearing total annihilation endowed *Devī Durgā* with their heavenly powers. Riding a lion into battle, goddess Durgā slew the buffalo by cutting of its head and then she destroyed the spirit of the demon *Mahiṣa* as it emerged from the buffalo's severed neck. It is through this Divine Act, that order was established in the world. She is the Great Mother who controls and regulates both the universal and the individual manifestations.

The metaphysical exposition of the manifold manifestations of the one Supreme Energy or Devī is found in its best poetical form in a rare *stotra* in the present text presenting the invocation of the goddess by the assembly of the devas when the demons *śumbha* and *Niśumbha* followed the death of Mahiṣa by a fresh demonstration of the Āsuric forces in the world-wide riotous disruption. In this *stotra* the great goddess is invoked as Viṣṇu-māyā, i.e. the Supreme *śakti* of Lord Viṣṇu. It should be observed here that the goddess conceived of as Viṣṇu-māyā is no other than

Nārāyaṇī, and the great *Bhāgavata* teachers who were pledged to the doctrine of an all comprehensive synthesis of the Vedic and Purāṇic thoughts and definitions propounded the essential identity of Kātyāyanī and Nārāyaṇī. There is a reason why the goddess is called Kātyāyanī. The root meaning of Kātyāyanī is Supreme mystery. She is the supreme goddess a mystery for ever. Whatever be the name and form, whether Gaurī, Pārvatī, Mahiṣāsuramardinī, śrī, Lakṣmī, Nārāyaṇī, Vāk, Sarasvatī, Sāvitrī, Svāhā, Svadhā, etc. all defy the orbit of words and meaning. The goddess is the Divine Light that has descended to the plane of matter. Matter is āsuric or darkness-in-form, and the goddess rules Supreme over all the asuras (demons). When once the Devī is conceived of as cetanā, all the faculties of the soul and the forms engendered in matter become identified with her power.[20]

The aim of this text is to preach the ancient truth of the Vedas, which says: God is one; sages call him by various names. [21] In this all contradictory and philosophical views are reconciled. By the proper study of the scripture with devotion and with an eye of security one will find that two streams are flowing concurrently in it namely a man's relation with the Divine Mother and the Divine Grace working for redemption of humanity with the profundity of thought and practicability of its discipline *Durgā-Saptaśatī* is really a wonderful scripture in which Hinduism in all its highest aspects is developed. It fulfills all requirements of religion. It is an appeal to the entire humanity covering the whole ground of religious life.

In the end it can be said that the various forms of the Goddesses really mysterious. Without having proper knowledge of the Tantric texts it is very difficult to understand & know the real form of the Goddess. Besides, after obtaining the various *Siddhis* one can truly realize the real form of the Devī or Goddess. Hence, *Mārkaṇḍeya-Purāṇa*, especially *Durgā-Saptaśatī* or *Devī-Māhātmya* definitely helps a person to know and understand the true mystery or the Goddess or śakti.

References

1. Itihāsapurāṇāni pañcamaṃ vedamīśvaraṃ *(Bhāgavata-Purāṇa*, III.12.39)
2. Mahābhārata, 1.1.68.
3. Brāhmaṃ pādmaṃ vaiṣṇavañca śaivaṃ laiṅgaṃ sagāruḍam.
   nāradīyaṃ bhāgavatamāgneyaṃ skāndasaṃjñitam.
   bhaviṣyaṃ brahmavaivartaṃ mārkaṇḍeyaṃ savāmanam.
   Vārāhaṃ mātsyaṃ kaurmam brahmāṇḍākyāmiti triṣaṭ.
   (Bhāgavata-Purāṇa, XII.7.23-24)
4. aṣṭādaśapurāṇāṇāni yānī prāha pitāmah/
   teṣām tu saptamaṃ jñeyaṃ mārkaṇḍeyaṃ suviśrutam//
   (MārkaṇḍeyaPurāṇa, Chapter, 137.7-8)
5. tvaṃ kālī tāriṇī durgā ṣoḍaśī bhuvaneśvarī.
   dhūmāvatī tvaṃ bagglā bhairavī chinnamastakā.
   tvamannapūrṇā vāgdevī tvaṃ devī kamalālayā/

sarvaśaktisvarūpā tvaṃ sarvadevamayī tanuḥ.

(Mahānirvāṇa-Tantra, IV.13-14)

6. See verses 17 to 55
7. Śakti sā śivasya śakti, Ānandasūtra, 2.
8. Na śivaḥ śaktirahito na śaktivyatirekiṇī (śivadṛṣṭi, III. 2cd.) Cf. śaktiśca śaktimadrūpād vyatirekaḥ na vāñchati — Bodhapañcadaśikā,3

   Also cf. śivaḥ śaktyā yukto yadi bhavati śaktaḥ prabhavitum na cedevaṃ devaḥ na khalu kuśalaḥ spanditumapi (Saundaryalaharī, 1)
9. This is the sakala form of the goddess, which has three distinct aspects, viz. gentle (*saumyā*), rough (*ugrā*) and extremely fierce (*mahākrūrā*)
10. Muṇḍaka-Upaniṣad, 1.2.4.
11. For details, see *Mantramahodadhi*, IV, 83-88.
12. Aspect of Tantra Yoga, D.B. Sen sharma, Ch. I, P.45
13. *Bhahma-Purāṇa*, IV.3
14. Vide, *śākta-pramoda*, *Bhuvaneśvarī Tantra* . p.197.
15. *Śāradātilaka*, XIII.31
16. kākadhvajarathārūḍhā kevalā kaṭhinā kuhuḥ - (*śāktapramoda*, *Dhūmāvatī-Tantram*, p.292)
17. Quoted in Perspectives of Indian Thought by N.C. Panda, p.157
18. banglāmukhīṃ trijagatāṃ sanstambhinīṃ cintayet (Mantra-Mahodadhi, X.5cd)
19. Śāradātilaka, VIII.4
20. Agrawala, V.S., The Glorification of the Great goddesses, p.24
21. ekaṃ sad viprā bahudhā vadanti (Ṛgveda, I.164.46)

Bibliography

1. Aspects of Tantra Yoga, D.B. Sen Sharma, published by Indica Books, Godwolia, Varanasi, 2007
2. ŚāktaPramoda, published by Kshemaraj Press, Bombay, 1982.
3. Perspective of Indian Thought, Narasingha Charan Panda, published by Bhartiya Kala Prakashan, Trinagar, Delhi, 2007
4. The Glorification of the great Goddesses, V.S.Agrawala, published by Prithvi Prakashan, Nagwa, Varanasi-5, 1972

● **Deptt. of Sanskrit (VVBIS& IS), Panjab University, Sadhu Ashram, Hoshiarpur, Punjab—146021**



प्राचीन भारतीय नगर-वास्तु का प्रमुख अङ्ग 'परिखा'

पीयूषकान्त शर्मा

(The paper describes the importance of *parikhās* in the context of the construction of ancient cities with sufficient evidences. The construction of ditches was meant for atleast three principal reasons, such as security, filling up water and drainage of water. References to *parikhās* are available in वायुपुराण, देवीपुराण and *Brahmāṇḍapurāṇa*. These परिखाs are of three kinds, namely, watery, dried and muddy. The examples are still available in UttarPradesh, Madhya pradesh, Gujarat, Maharashtra, Andhrapradesh, Orissa and Bihar. The sturctural method is mathmetical.The ratio also has been described there. In *Mahābhārata* and Kauṭilya's *Arthaśāstra* also it is said that *parikhās* are important from security point of view.)

परिखा प्राचीन भारतीय नगरविन्यास का प्रमुख अंग थी। बाह्य शत्रुओं से नगर एवं नागरिकों की सुरक्षा के लिये नगर के चतुर्दिक् परिखाओं का उत्खनन किया जाता था। उत्खनन से निकली मृदा से वप्र या प्राकार का निर्माण किया जाता था। तदुपरान्त परिखा को जल से पूरित कर दिया जाता था। अर्थशास्त्र एवं समराङ्गण-सूत्रधार में परिखा के खनन से निकली मृदा से वप्र बनाने का विधान किया गया है।[1]

परिखा का विचार प्रथम नागरीय सभ्यता सैन्धव काल से ही मिलना शुरु हो जाता है। हरियाणा में स्थित हडप्पीय नगर कुनाल के उत्खनन में सुरक्षा-प्राचीर के बाहर एक परिखा खोजी गयी है।[2] ताम्र-पाषाणिक काल में भी इस व्यवस्था के दर्शन होते हैं। महाराष्ट्र के एक ताम्र -पाषाणिक पुरास्थल इनामगांव में प्रारम्भिक जोर्वेकाल (1400-1000 ई.पू.) में उत्खनित एक परिखा का पता चलता है जो कि 195 मी. लम्बी एवं 20 मी. चौड़ी थी। यह पूर्व-पश्चिम विस्तृत मुख्य टीले के उत्तरी भाग में ठोस पथरीले धरातल को उत्खनित कर बनायी गयी है, जिसे जल की आपूर्ति घोंड नदी से होती थी। कतिपय विद्वानों के अनुसार सुरक्षा के साथ इसका उद्देश्य सिञ्चनार्थ भी रहा होगा।[3] इसी तरह गुजरात के सूरत जिले में स्थित ताम्र पाषाणिक पुरास्थल मालवण से भी परिखा-निर्माण के साक्ष्य मिलते हैं। प्राकृतिक मृदा को काटकर बनायी गयी यह परिखा 1. 50 मी.चौड़ी एवं 1.1 मी. गहरी है। उत्खनित मृदा का प्रयोग बंध बनाने के लिये किया गया है।[4]

प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में आकर अधिकांश प्रमुख नगरों में परिखा का साक्ष्य मिलता है। कौशाम्बी, राजघाट, चम्पा, श्रावस्ती, राजगीर, वैशाली, पाटलिपुत्र, मथुरा, उज्जैन, एरण आदि अनेक ऐसे नगर हैं जहाँ से परिखाओं के प्रमाण पुरातात्त्विक उत्खननों में प्राप्त हुये हैं।

पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में भी नगरों के चतुर्दिक् एक या एक से अधिक परिखाओं के होने का उल्लेख है। महाउग्मग जातक में मिथला नगर के चतुर्दिक् तीन परिखाओं के विद्यमान

होने का उल्लेख है। ये परिखाएं जल-परिखा, पङ्क-परिखा एवं रिक्त- परिखा थीं।[5] उदयजातक में भी तीन तरह की परिखाओं का उल्लेख मिलता है। उदकद्दम, सुख या जल परिखा, पङ्क-परिखा, शुष्क-परिखा।[6] ब्रह्मवैवर्त-पुराण में सात परिखाओं का उल्लेख है जबकि देवीपुराण में सुरक्षात्मक आवश्यकता एवं नगर के परिमाण के अनुसार दो, तीन, चार, आठ परिखाओं के निर्माण करने का उल्लेख मिलता है।[7] समरांगण-सूत्रधार में परिखा को सुरक्षा के 5 प्रमुख तत्त्वों - प्राकार, परिखा, द्वार, अट्टालक, रथ्य (सडक) में द्वितीय स्थान पर परिगणित किया गया है, जो इसके सुरक्षात्मक महत्त्व को द्योतित करता है।[8] संघोल, पंजाब में स्थित पुरास्थल पर उत्खनन में तीन परिखायें प्राप्त हुयी हैं जिनमें एक प्राचीर के बाहर एवं दो प्राचीर के अन्दर थी।[9] महाभारत में उल्लेख मिलता है कि व्यास की उपस्थिति में इन्द्रप्रस्थ नगर को माप कर योजना तैयार की गयी। ऊंची प्राचीर-युक्त इमारतें अनेक द्वारों एवं बुर्जों सहित बनवाये गये, जिन्हें परिखाओं की एक श्रृंखला खुदवाकर आवेष्टित किया गया।[10] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगरों के चतुर्दिक् तीन परिखाओं के निर्माण का विधान किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि ये परिखाएं एक दूसरे से एक दंड (चार हाथ) की दूरी पर होनी चाहिये।[11] परिखाओं को सुदृढ़ करने के लिये उसके तल भाग एवं किनारों में ईंट की चिनाई कर दी जाती थी अथवा पाषाण खण्डों को लगा दिया जाता था।[12] मेगास्थनीज ने उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र की परिखा में पकाई हुयी ईंटे लगाई गयी थीं।[13]

अर्थशास्त्र में परिखाओं के परिमाण का भी उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार पहली परिखा चौदह दंड, दूसरी बारह दंड तथा तीसरी दस दंड विस्तीर्ण होनी चाहिये।[14] परन्तु परिखाओं की गहराई उनकी चौड़ाई से कम होती थी। अर्थशास्त्र में ही वर्णित है कि परिखाएं अपने चौड़ाई की चौथाई, तिहाई या आधी गहरी होती थी।[15] शुक्रनीति में कहा गया है कि परिखा ऐसी होनी चाहिए जिसकी चौड़ाई उसकी गहराई से दुगुनी हो और जो प्राकार के अत्यन्त समीप न हो तथा अगाध जल से परिपूर्ण हो।[16] महाभारत[17] एवं हरिवंश-पुराण[18] में भी परिखाओं के अधिक चौड़ी होने का उल्लेख मिलता है।

कौटिल्य लिखते हैं कि परिखा में कहीं पर जल के प्रविष्टि के लिये मार्ग होना चाहिये जिससे परिखा सदैव जल से पूर्ण रह सके। अतिरिक्त जल के निकलने का भी मार्ग होना चाहिये।[19] नदियों के किनारे बसे हुये नगर की परिखाओं को प्रायः जल से भरी रहने के लिये एक चौड़ी खाई के द्वारा नदियों से जोड़ दिया जाता था। वायु-पुराण एवं ब्रह्मपुराण में परिखा को नदी से सम्बद्ध करने का उल्लेख है।[20] देवीपुराण के अनुसार प्राचीन पुरों की परिखायें दुर्गों की रक्षा के साथ जलप्रवाह-प्रणाली के लिए उपयोगी थी। राजघाट के उत्खनन से पता चलता है कि यहाँ की परिखा एक तरफ वरुणा नदी एवं दूसरी तरफ गंगा नदी से जोड़ी गयी थी।[21]

परिखा का कलात्मक महत्त्व भी था। यह नगर विन्यास की कलात्मक दृष्टि से गुणात्मक वृद्धि करती थी। जलयुक्त परिखा से घिरा नगर बिल्कुल जल-दुर्ग जैसा दिखाई पड़ता था। शुक्रनीति में इस प्रकार के दुर्ग को 'पारिख-दुर्ग' की संज्ञा दी गयी है।[22] अर्थशास्त्र में उल्लिखित है कि परिखा के जल में कमल पुष्प आदि लगाये जाने चाहिए।[23] सांची स्तूप पर अंकित कुशीनगर की परिखा में कमल पुष्पों की पंक्तियां दृष्टिगोचर होती हैं।[24] सम्भवतः सौन्दर्यीकरण की दृष्टि से परिखाओं में कमल पुष्प आदि लगाये जाते थे।

परिखा नगर की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण साधन थी-यह मनु के इस निर्देश से ज्ञात होता है कि वो एक राजा को अपने शत्रु को विजित करने के लिये सबसे पहले नगर की जलापूर्ति के समस्त साधनों तड़ाग आदि को सुरक्षा प्राचीर एवं परिखा के साथ नष्ट करने का आदेश देते हैं।[25] शत्रुदल परिखाओं का पार न कर सके इसलिये जल-परिखाओ में भयानक जन्तु छोड़ दिये जाते थे। कौटिल्य ने परिखाओं में घड़ियालों के छोड़ने का उल्लेख किया है। महाभारत में भी घड़ियाल तथा नक्र जैसे भयंकर जल-जन्तुओं को परिखाओं के जल

में छोड़ने के लिये कहा गया है।[26]

परिखायें प्राय: जल से भरी रहती थी, इस कारण सम्भवत: कभी-कभी इनका उपयोग जलापूर्ति के लिये किया जाता रहा होगा। सांची स्तूप के एक दृश्य में स्त्रियाँ परिखा से जल लेने के लिये जाते हुये अंकित की गयी हैं।[27] परिखा के सुरक्षात्मक उपयोग के साथ-साथ परिखा का एक अन्य उपयोग जल-स्तर का स्थिर रहना है। परिखा में बड़ी मात्रा में जल का संग्रह किया जाता था। यहाँ तक कि नगर की नालियों का जल निस्तारण भी परिखा में किया जाता था, जिससे परिखा में वर्षपर्यन्त जल विद्यमान रहता था। इससे भूगर्भीय जल की सुवृद्धि होने से नगर के कुँओं का जलस्तर ग्रीष्म-ऋतु में भी नहीं गिरता रहा होगा एवं निर्बाध जलापूर्ति सुनिश्चित होती होगी।

प्रमुख प्राचीन भारतीय नगरों में परिखा का उल्लेख इस प्रकार है-

चरसद्दा (पुष्कलावती)- नगर की सुरक्षा के लिये एक प्राचीर एवं परिखा बनायी गयी थी। परिखा लगभग 15 फीट चौड़ी तथा 10 फीट गहरी थी।[28]

मथुरा (उ.प्र.)- यहाँ नगर की सुरक्षा प्राचीर अर्द्धवृत्ताकार बुर्जों वाली थी जिसके पश्चिमी तथा उत्तरी पश्चिमी भाग में एक परिखा बनायी गयी थी। इसके अवशेषों की स्थिति अभी भी कटरा टीले के उत्तरी भाग में देखी जा सकती है।[29]

कौशाम्बी (उ.प्र.)- यहाँ सुरक्षा प्राचीर के वाह्यभाग में गहरी परिखा के स्पष्ट साक्ष्य हैं, जो ईंटों से बनी पूरी प्राचीर को पूर्व, उत्तर तथा पश्चिम में घेरती है। दक्षिण की ओर यमुना नदी प्राकृतिक रूप से सुरक्षा प्रदान करती थी। तीन भागों में बँटी परिखा की अधिकतम चौड़ाई 480 फीट थी।[30]

अयोध्या (उ.प्र.)- यहाँ ईंटों की एक बड़ी दीवार बनायी गयी थी जिसे सुरक्षा- प्राचीर कहा गया है। यह निर्माण तीसरी शती ई.पू. में हुआ था। इसके नजदीक एक गहरी परिखा थी।[31]

तिलौराकोट (प्राचीन कपिलवस्तु)- वर्तमान में नेपाल की तराई में स्थित इस नगर को ईट निर्मित सुरक्षा प्राचीर एवं उसके चारों तरफ गहरी परिखा बनाकर सुरक्षित किया गया था। इसके बाद एक मिट्टी की प्राचीर बनायी गयी थी एवं उसे भी अधिक चौड़ी परिखा से घेरा गया था।[32]

पाञ्चों सिद्ध (प्रतापगढ़, उ.प्र.) - पौराणिक नदी स्यन्दिका (सई) एवं सकर्णी के संगम पर स्थित कुषाण से पूर्व मध्यकाल तक आबाद रहने वाला यह पुरास्थल प्रतापगढ़ के सर्वाधिक विस्तार एवं जमाव वाले पुरास्थलों में एक है। इसकी बसाव स्थिति भी इसके महत्त्व की ओर संकेत करती है कि यह जलमार्ग से भी जुड़ा रहा होगा। यह पुरास्थल दक्षिण में सकर्णी एवं पश्चिम में सई द्वारा प्राकृतिक रूप से सुरक्षित है। उत्तर एवं पूर्व की ओर एक गहरी परिखा निर्मित की गयी है जो कि एक तरफ सई एवं दूसरी तरफ सकर्णी से सम्बद्ध हैं। इन दोनों नदियों के जल से यह परिखा भरी जाती रही होगी। यद्यपि यह परिखा आज-कल काफी पूरित हो गयी है फिर भी इसके चिन्ह स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।[33]

पाटलिपुत्र (पटना, बिहार)- मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर के चतुर्दिक् 600 फीट चौड़ी तथा 45 फीट गहरी एक परिखा होने का उल्लेख किया है।[34] बुकानन अन्वेषण के आधार पर लिखते हैं कि किला प्राचीर के साथ परिखा से भी घिरा था जो 600 फीट चौड़ी थी किन्तु पूर्व की ओर यह संकरी होकर 400 फीट चौड़ी ही थी।[35]

वैशाली (मुजफ्फरपुर, बिहार)- यहाँ पर भी प्राचीर के चारों ओर एक परिखा दृष्टिगत होती है जो कि 150-200 फीट चौड़ी है। हालांकि इसका अधिकांश भाग अब पूरित हो चुका है एवं उस पर कृषि

की जाती है। परिखा को द्वितीय शती ई.पू. में उत्खनित किया गया था।[36]

राजगृह (नालन्दा, बिहार) – इस नगर की विशाल प्राचीर को एक परिखा बनाकर सुरक्षित किया गया था जो कि बुकानन के अनुसार 100 फीट लगभग चौड़ी प्रतीत होती है।[37]

चम्पा (भागलपुर, बिहार) – यहाँ पर भी एक सुरक्षा प्राचीर थी जो कि एक गहरी परिखा से आवेष्टित थी। इसे जल की आपूर्ति गंगा से होती थी।[38]

उज्जैन (म.प्र.)– यहाँ पर परिखा पूर्व एवं दक्षिण की ओर खोजी गयी जो कि नदी के जल से जुड़ी थी जो चारों तरफ जल की बाड़ का कार्य करती थी। परिखा प्रथम काल में 80 फीट चौड़ी एवं 22 फीट गहरी थी। द्वितीय काल (500-200 ई.पू.) में परिखा के बाह्य भाग को 3 फीट 9 इंच चौड़ी दीवार से चिना गया। तृतीय काल में परिखा की चौड़ाई एवं गहराई पहले से कम रह गयी।[39]

भड़ौच (प्राचीन भृगुकच्छ, गुजरात)– यहाँ पर मिट्टी से बनी सुरक्षा प्राचीर के बाहर गहरी परिखा खोजी गयी है, जिसका काल ई.पू. तीसरी शती माना गया है।[40]

शिशुपालगढ़ (ओडिशा)– यह नगर चारों तरफ से चौकोर योजना में एक विशाल सुरक्षा प्राचीर एवं परिखा से घिरा हुआ था।[41]

असुरगढ़ (कालाहांडी, ओडिशा) – यहाँ पर आयताकार एक अत्यन्त विस्तृत किले का भग्नावशेष प्राप्त होता है। इस किले की प्राचीर ईंट, पत्थर एवं मिट्टी से निर्मित है। पश्चिमी प्राचीर की तरफ सन्दुल नदी, उत्तर की ओर पथरीले धरातल पर बहती हुयी तेल नदी से मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि नदी के प्रवाह को किले के नजदीक से ले जाने के लिये मोड़ा गया था। किले के पूर्व की ओर एक विस्तृत झील थी जिसका जल दो उदक-बन्धों के द्वारा किले के उत्तरी पूर्वी और दक्षिणी ओर बनी परिखा मे आता था। यह परिखा लगभग 200 एकड़ क्षेत्र को घेरती थी। यह परिखा तकनीकी रूप से इतनी व्यवस्थित बनायी गयी थी कि जब भी यह किला शत्रुओं द्वारा घेरा जाता था एक गुप्त उदक-बन्ध को खोलने से अंदर-बाहर पूरा क्षेत्र जलमग्न हो जाता था एवं साथ में आक्रामक शत्रुओं को तेज जल के प्रवाह से बहा दिया जाता था। जल का यह प्रवाह जलाशय से जुड़ी धारा द्वारा बढ़ाया जा सकता था। यहाँ उत्खननकर्ता एन.सी.साहू ने उत्खनन से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर किले का काल तृतीय शती ई.पू. से पांचवी शती ई. बताया है।[42]

अडम् (नागपुर महाराष्ट्र) – यहाँ से उत्खनन में (1000-500 ई.पू.के लगभग) बनायी गयी एक मिट्टी की प्राचीर एवं उसके साथ एक परिखा के स्पष्ट साक्ष्य मिलते हैं।[43]

पौनी (महाराष्ट्र) – यहाँ चौथी से द्वितीय शती ई.पू. तक चले द्वितीय काल के प्राचीर के साथ शैल सतह को काटकर परिखा बनाई गयी थी जो 8 कि.मी. गहरी एवं 55 मी. चौडी थी।[44]

गंजाम (ओडिशा) – यहाँ पर लगभग मिट्टी का एक आयताकार प्राकार प्राप्त होता है जिसके प्रत्येक ओर 2 प्रवेश द्वार अर्थात् कुल 8 प्रवेश-द्वार थे। मूल रूप से यह किला एक गहरी एवं चौड़ी परिखा से घिरा हुआ था। परिखा से निकाली गयी मिट्टी का उपयोग प्राचीर बनाने के लिये किया गया था। परिखा चारों तरफ लगातार नहीं फैली थी। प्रवेश-द्वारों के सामने का भाग आने जाने के लिये बिना खुदा छोड़ दिया गया था। परिखा आज कल बहुत पूरित हो गयी है किन्तु इसकी गहराई काफी रही होगी। आज भी इसकी गहराई मध्य में 7 फीट तक मिलती है। इस किले को परम्परा के आधार पर महाभारत के दुर्योधन द्वारा निर्मित माना जाता है। उत्खनन के आधार पर परिखा को द्वितीय काल में निर्मित माना जाता है जिसके स्तर से पुरी कुषाण के सिक्के तथा लाल मृद्भाण्ड मिलते हैं।[45]

सत्तानीकोटा (कुर्नुल, आन्ध्रप्रदेश) - यहाँ पर परिखा को शैल सतह को काटकर बनाया गया जो कि पार्श्वभाग में छेनी के निशानों से ज्ञात होता है। इसकी औसत गहराई 3.20 मी. एवं चौड़ाई 4.25 मी.थी। यहाँ परिखा के ऊपर पुल बनाने के भी संकेत हैं। परिखा 'यू' आकार की थी जिसकी चौड़ाई नीचे 4 मी., ऊपर 2 मी. एवं गहराई 3 मी.थी। परिखा के निर्माण का काल [46]प्रथम शती ई.पू. से तृतीय शती ई. के मध्य रखा गया है।

परिखा को भरने के लिये नदी से जुड़े एक संकरे जलमार्ग पर एक छोटा सा बंध पत्थर के टुकड़ों से बनाया गया था, जिसके द्वारा इसमें जल भरा जाता था।[47]

धूलकोट (करीमनगर, आन्ध्रप्रदेश)- यहाँ लगभग 18 हेक्टेयर क्षेत्र में विस्तृत लगभग 6मी. ऊंचे एक किले का अवशेष प्राप्त होता है जो कि मिट्टी की सुरक्षा प्राचीर से घिरा हुआ है। प्राचीर के बाह्य भाग में परिखा के दर्शन होते हैं जिससे निकाली गयी मिट्टी का प्रयोग मृदा प्राचीर के निर्माण में किया गया था।[48]

वेंगी (पश्चिमी गोदावरी जिला, आन्ध्रप्रदेश) - यहाँ भी प्रारम्भिक ऐतिहासिक -कालीन प्राचीर के चारों ओर एक परिखा थी, जो लगभग 1 वर्ग कि.मी. के क्षेत्र को घेरती थी।[49]

नागार्जुनकोण्डा (गुण्टूर, आन्ध्रप्रदेश) - यहाँ का इक्ष्वाकुप्रासाद प्राचीर के साथ परिखा से भी घिरा हुआ जो 3.65 मी.गहरी एवं 22.55 से 40.23 मी.चौड़ी थी।[50]

वनवासी (उ.कनारा, कर्नाटक) - यहाँ पर पत्थर के टुकडों के ऊपर ईटों की सुरक्षा प्राचीर बनायी गयी, जो कि नदी की दिशा को छोड़कर अन्य सभी दिशाओं में परिखा से घिरी थी। इसको प्रथमशती ई. की तिथि का माना जाता है।[51]

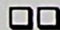
इस तरह इन विविध नगरों में प्राचीरों के साथ परिखाओं की अवस्थिति प्राचीन नगर- वास्तु में परिखा के महत्त्व को प्रकट करती है।

सन्दर्भ

1. अर्थशास्त्र-2.3.3
2. लुकिंग बियण्ड इण्डस वैली, द वीक, दिल्ली, जुलाई 1998, पृ.-23
3. अल्चिन, एफ.आर., 1995, द आर्कियोलाजी आव हिस्टारिका साउथ एशिया, कैम्ब्रिज, पृ.- 62
4. सांकलिया, एच.डी., 1974, प्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री आव इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पूना, पृ. 387
5. राय, उदय नारायण, 1965, प्राचीन भारत में नगर एवं नगर-जीवन, इलाहाबाद, पृ. 33 तथा 240
6. उदय-जातक- 4.106
7. राय,सुरेशचन्द्र, 1989, शुंग राजवंश एवं उनका काल, दिल्ली, पृ.130
8. समरांगणसूत्रधार, 10.1-2
9. घोष, ए., 1989, एन एन्साइक्लोपीड़िया आव इण्डियन आर्कियोलाजी, भाग-1, दिल्ली, पृ. 298
10. महाभारत, आदिपर्व, 209.22
11. अर्थशास्त्र-2.3.2
12. वहीं
13. राय, उदय नारायण, 1965, पूर्वोक्त, पृ. 241
14 अर्थशास्त्र-2.3.2
15. वहीं

16. शुक्रनीति-1.240
17. महाभारत, आदिपर्व, 199.57
18. हरिवंश, विष्णुपर्व-98.22
19. अर्थशास्त्र-2.3.2
20. राय, उदय नारायण, 1965, पूर्वोक्त, पृ.242
21. नारायण, ए.के.एवं टी.एन.राय., 1976, एक्सकेवेशन्स एट राजघाट, भाग-1, वाराणसी, पृ. 58
22. शुक्रनीति-1.240
23. अर्थशास्त्र-2.3.2
24. धवलीकर, एम.के., 1965, सांची ए कल्चरल स्टडी, पूना, पृ. 9
25. मनुस्मृति,, 7.196
26. महाभारत, शान्तिपर्व, 199.57
27. मार्शल, जान, सांची, दिल्ली, चित्र- 40,पृ.58
28. चक्रवर्ती, डी.के., 1995, द आर्कियोलोजी आव इण्डियन सिटीज, दिल्ली, पृ. 173
29. वहीं, पृ. 190
30. शर्मा, जी.आर., 1960, द एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, 1957-59, इलाहाबाद, पृ.38-39
31. चक्रवर्ती, डी.के., 1995, पूर्वोक्त, पृ. 52-53
32. वहीं, पृ. 205
33. हिन्दुस्तान, दैनिक समाचारपत्र, वाराणसी, संस्करण 1, जनवरी 2002
34. रीस डेविड्, 1955 (छ.सं.) बुद्धिस्ट इंडिया, कलकत्ता, पृ.119
35. पाटिल, डी.आर., 1963, एन्टीक्वैरिल रिमेन्स आव बिहार, पटना, पृष्ठ. 44
36. चक्रवर्ती, डी.के., 1995, पूर्वोक्त, पृ. 208
37. वहीं, पृ. 214
38. वहीं, पृ. 215
39. इण्डियन आर्कियालाजी, 1956-57, ए रिव्यू, पृ. 20
    वहीं, 1957-58, ए रिव्यू, पृ. 34
40. चक्रवर्ती, डी.के., 1995, पूर्वोक्त, पृ. 227
41. अल्चिन, एफ.आर., पृ.227
42. महापात्र, आर.पी. 1983, आर्कियोलाजी इन ओडिशा, साइट्स एण्ड मान्यूमेन्ट्स, भाग-2, दिल्ली, पृ.234,
    घोष, ए.-पूर्वोक्त, पृ. 25
43. चक्रवर्ती, डी.के., 1995, पूर्वोक्त, पृ. 230
44. नाथ, अमरेन्द्र, 1998, फर्दर एक्सकेवेशन्स एट पौनी, दिल्ली-पृ. 8
45. महापात्र, आर.पी. 1983, पूर्वोक्त, पृ. 224
47. घोष, एन.सी., 1986, सत्तनीकोटा, दिल्ली, पृ. 95
48. शास्त्री, वी.वी., 1983, कल्चर्स आफ आन्ध्रप्रदेश, हैदराबाद, पृ. 124
49. चक्रवर्ती, डी.के., 1995, पूर्वोक्त, पृ. 23
50. वहीं, पृ. 235
51. वहीं, पृ. 231

● प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, एम.डी.पी.जी.कालेज, प्रतापगढ



शाक्ते समयाचारः

शैलकुमारी मिश्रा

(The traditional Indian Knowledge flows in two streams, namely, आगम and निगम. Out of these two, *āgama* is also famous as *Tantra*. श्रीविद्या has an important place so far as the worship of *śakti* is concerned. It has been well discussed in the ललितोपाख्यान of ब्रह्माण्डपुराण in the form of the dialogue between लोपामुद्रा and Agastya. It is also otherwise called त्रिपुरा, त्रिपुरसुन्दरी, श्री or पराविद्या. It is worshipped either through मन्त्र, यन्त्र or तन्त्र. There are three views famous for the worship of श्रीविद्या. They are : कौलमत, समयीमत and मिश्रमत. कौलाचार पद्धति is meant for वाममार्गीन्s whereas समयाचार-विद्या-पद्धति is prescribed for दक्षिणमार्गीन्s. The paper tries to establish that the sages like सनक etc. accept समयाचार as Vedic method.)

आगमोऽपि निगम इव। यथा वेदानां सन्दर्भे उक्तिरस्ति- ''ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः'' तथैव आगमविषयेऽपि -शिवादिऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः'' इत्युक्तिरस्ति। विशेषता तु इयमेव वर्तते यत् निगमः परमेश्वरस्य निःश्वासभूतः तथा आगमस्तु परमेश्वरप्रोक्तः। वस्तुतः सर्वेषामेव आस्तिकदर्शनानां आगमानाञ्च स्रोतांसि वेदा एवात्र नास्ति संशीतिलेशः। अयमेव आगमः अनन्तरं तन्त्रनाम्नाऽपि ख्यातः। अस्मिन् विषये श्रीमद्भागवतस्य वचनमस्ति यत् तान्त्रिकरीत्याऽपि पूजा शास्त्रानुमोदिता वर्तते -

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मतः।
त्रयाणामीप्सीतेनैव विधिना मां समर्चयेत्।।[1]

शास्त्रमिदं मानवमात्रस्य कृते धर्मग्रन्थः। नात्र वर्णाश्रमलिङ्गभेदाः। तन्त्रशास्त्रानुसारमखिल-प्रपञ्चस्योत्पत्तिर्मातृकातः संभूतः। मातृकास्तु शब्दराशिः। इयं विश्वप्रसवित्रीकरणादेव मातृका। इयं मातृका अक्षमालाक्रमेण रहस्यसम्पादयित्री सती नानाचक्रसम्पादिका भवतीति मन्यन्ते आगमविदः। यथोक्तम्-

अकारः प्रथमं देवि ! क्षकारोऽन्त्यस्ततः परम्।
अक्षमालेति विख्याता मातृका वर्णरूपिणी।।[2]

एषा वर्णमातृका अक्षरराशिरूपिणी कामकलामहात्रिपुरसुन्दरीमहामायेति नामभिः योगिभिरुपास्यते।

आचार्यः शङ्करः आगम-निगमयोरपि सरण्योः सम्प्रदाय-प्रवर्तकः आसीत्। एतेषां मते कलियुगे आगमपद्धत्या उपासना श्रेष्ठा -

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृतिसंभवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्भवः।।

आगमेष्वपि शिवागमश्रीविद्यागमौ च श्रेष्ठौ। तत्रापि श्रीविद्यागमः सर्वेषां सम्प्रदायानां समष्टिरूपः, शक्त्युपासनायां श्रीविद्यायाः अतीव रहस्ययुक्तं महत्त्वपूर्णञ्च स्थानं विद्यते। ब्रह्माण्डपुराणस्य ललितोपाख्याने अस्या विस्तृता चर्चा लोपामुद्रा – अगस्त्य-संवादरूपेण प्राप्यते। श्रीविद्यायाः सम्बन्धः प्रत्यभिज्ञामतेन सह घनिष्ठो वर्तते। आचार्यशङ्कर एकनिष्ठसाधकः श्रीविद्यायाः। अद्यापि श्रृङ्गेरीमठे तेनैव स्थापितं श्रीचक्रमस्ति। आचार्यस्य गुरवः श्रीगौडपादाचार्यः श्रीविद्यायाः प्रतिपादनार्थं सुभगोदयनामकं ग्रन्थं विरचितवान्। अस्यैवानुकरणे आचार्येणापि सौन्दर्यलहरीस्तोत्रं विरचितम्।

इयमेव श्रीविद्या त्रिपुरा–त्रिपुरसुन्दरी–पराविद्यानाम्नाऽपि ज्ञायते। इयं मन्त्रात्मिका यन्त्रात्मिका तन्त्रात्मिका चापि। अस्याः त्रिविधस्वरूपवर्णनं ललितासहस्रनामस्तोत्रे एवमस्ति –

सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी।
सर्वमन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।।[3]

श्रीविद्यायाः देवता सर्वदेवजननी आद्याशक्तिः राजराजेश्वरी पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी अस्ति। इमामेव नित्यां, नित्याषोडशिकां, नित्यकलां चापि कथयन्ति आगमविदः। इयमेव देवी कामकलारूपेण सर्वत्र व्याप्य स्थिता अस्ति। अस्या विमर्शेण स्पन्दो भवति ततो नादः स एव नादः बिन्दौ केन्द्रितो भवति, तमेव बिन्दुं समे द्वौ, उपरि एकञ्च स्थाप्य त्रिकोणस्य रचना भवति, तस्माद् बिन्दुत्रिकोणसंयोगादेव श्रीयन्त्रस्योद्भावना जाता। भगवता शङ्कराचार्येणापि वर्णितमिदं रूपं देव्याः–

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमहास्तस्य तदधो।
हरार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम्।।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनितेत्यति लघु।
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगम्।।[4]

श्रीचक्रं शक्तिशिवयोः साक्षाद् विग्रहरूपमस्ति .... ''श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः''। इदमेव चक्रं वियच्चक्रमपि यस्य पूजा दहराकाशज–बाह्याकाशजभेदेन द्विधा भवति। मन्ये इयमेव पूजापद्धतिः आनन्तरपूजारतिर्बाह्यपूजारतिरपि कथ्यते। सौन्दर्यलहर्याः व्याख्यायां श्रीलक्ष्मीधरदेशिकेन त्रिपुरोपासनायै मतत्रयस्योल्लेखः कृतः – कौलमतं, समयीमतं मिश्रमतञ्चेति। त्रिपुरसुन्दरीदण्डके श्रीदीपकनाथेन श्रीविद्याया उपासना वाममार्गेणापि विहिता। तत्र वाममार्गः कौलानां दक्षिणमार्गश्च समयिनां कृते प्रशस्तः कथितः। नित्याषोडशिकार्णवे कौलानां कृते चतुष्षष्ट्यागमाः प्रतिपादिताः सन्ति। समयिनां कृते शुभागमपञ्चकं प्रसिद्धम्। तत्रैव मिश्रमतावलम्बिनां कृते अष्टौ (चन्द्रकलाविद्याष्टकाः) आगमाः कथिताः। सौन्दर्यलहर्यामपि आचार्येण अयमेव भावः प्रदर्शितोऽस्ति –

चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः सकलमभिसन्धानभुवनम्।
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।[5]

अस्य श्लोकस्य व्याख्याने एषामागमानां परिचयः प्रदत्तः। तत्र शुभागमपञ्चके वसिष्ठसनकादिमुनयः समयाचारमार्गमुपदिष्टवन्तः। अत्र आन्तरपूजारतिः, समयाचारः बाह्यपूजारतिश्च कुलाचारः। चन्द्रकलाविद्याष्टके कुलसमयौ उभावपि उपदिष्टौ। शुभागमस्याचार्यैः कौलमिश्रपद्धत्या पूजा निन्दिता। वैदिकानुमतत्वात् समयाचार आदरणीयः।

ललितासहस्रनामस्तोत्रे –

'कुलाङ्गना कुलान्तःस्था कौलिनी कुलयोगिनी।
अकुला समयान्तःस्था समयाचारतत्परा'।।[6]

अस्य श्लोकस्य व्याख्यायां भास्कराचार्येण 'समयस्य' व्याख्या अनेकप्रकारेण कृता अस्ति। यथा–

1. कुलपरम्परया आगत आचार:।

2. दहराकाशे आन्तर-पूजापद्धति:।

3. समयाचारस्य प्रमुख आगम: सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-वसिष्ठ-शुकरचितं शुभागमपञ्चकम् अस्ति। यद्यपि सम्प्रति अयमागम: लुप्त:। शुभागमपञ्चकस्य सिद्धान्त एव समयाचार:।

4. साम्यं यातीति समया-भगवती पराम्बा।

5. शिवाशिवयो: साम्यभाव:।

6. शंभुना सह पञ्चविधं साम्यं यातीति समया।

मया सह वर्तते इत्यनुभूतया सह य उपासनां करोति। सोपासना-पद्धति: समयाचारेति कथ्यते। समया सह तादात्म्यात् शिवोऽपि समय:। अद्यत्वे शुभागमपञ्चकस्याभावे सौन्दर्यलहर्या: लक्ष्मीधरी टीका भास्कराचार्यप्रणीतस्य ललितासहस्रनामस्तोत्रस्य भाष्यं च समयाचारस्य आधारग्रन्थौ विद्वद्भि: स्वीक्रियेते। सौन्दर्यलहर्याम् आचार्यश्रीमच्छङ्करेण समयाया: स्तुति: कृता अस्ति।

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया।
शिवात्मानं मन्ये नवरस-महाताण्डवनटम्।।[7]

समयाचारे 'मकारपञ्चकस्य' अर्थोऽपि कौलमताद् भिन्न:। अत्र सर्वेषामर्थ: सात्विक:। यथा-

मद्यविषये- *व्योमपङ्कजनिष्यन्दसुधापानरतो नर:।*

मांसविषये- *पुण्यापुण्यपशुं (जीवं) हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।*
परे लयं नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते।।

मीनभक्षणे- *गङ्गायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरत: सदा।*
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु स भवेत् मत्स्यसाधक:।।

मुद्राविषये- *सत्सङ्गेन भवेन्मुक्तिरसत्सङ्गेषु बन्धनम्।*
असत्सङ्गमुद्रणं यत्तु तन्मुद्रा प्रकीर्तिता।।

मैथुनसन्दर्भे- *इडापिङ्गलयो: प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।*
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु पर: शिव:।
तयोस्तु सङ्गमे देवै: सुरतं नाम कीर्तितम्।।

समयगते त्रिपुराया उपासना सहस्रदलकमलस्थे बिन्दुस्थाने भवति। पूर्णचन्द्रमण्डले सुधासिन्धौ वा श्रीचक्रस्य ध्यानं कृत्वा चिन्मयीकलाया: आनन्दरूपाया: श्रीत्रिपुरसुन्दर्या उपासनां कुर्वन्ति साधका:। यथोक्तम्-

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपवाटी परिवृते।
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयाम्।
भजन्ति त्वां धन्या: कतिचन चिदानन्दलहरीम्।।[8]

त्रिपुरेषु श्रेष्ठा, अत एव इयं महात्रिपुरसुन्दरीत्यपि कथ्यते। श्रीविद्या या ब्रह्मविद्याऽपि सा उपासक-उपास्या-उपासनाभेदेनापि त्रिविधा। श्रीदेव्या उपासनायां त्रिसंख्याया अस्ति महत् महत्त्वम्। तथा चोक्तं कालिकापुराणे -

त्रिकोणं मण्डलं चास्य भूपुरं च त्रिरेखकम्।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरा प्रोक्ता तथा रूपं त्रयं पुनः॥
त्रिविधा कुण्डा शक्तिः त्रिदेवानां च सृष्टये
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात् तस्मात् त्रिपुरा मता॥

यद्यपि अतीव गूढेयं विद्या, अस्याः विषये किञ्चिदपि कथनं महत् कठिनम्। साधकानां कृते एव इदं साध्यं वर्तते, न तु सामान्यजनानां कृते। इयं श्रीविद्या सूक्ष्म-सूक्ष्मतर- सूक्ष्मतम- भेदात्-त्रिधा उपास्यते साधकैः। तत्र आद्या पञ्चदशी, वर्गत्रयेषु-वाग्भवकूट-कामराजकूट-शक्तिकूटेषु विभक्ता। यथा ललितासहस्रनामस्तोत्रे वर्णितम् -

श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा।
कण्ठाधः कटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी॥
शक्तिकूटैकतापन्न-कट्यधोभागधारिणी।
मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा॥[9]

अस्य श्रीभास्कररायदीक्षितेन सम्यग् व्याख्या कृताऽस्ति- ''सूक्ष्मरूपमपि सूक्ष्म-सूक्ष्मतर- सूक्ष्मतम-भेदात् त्रिविधं- पञ्चदशी विद्या-कामकलाक्षरं कुण्डलिनी चेति भेदात्''। तेष्वाद्यं नामत्रयेण उच्यते-ज्ञानप्रदायकत्वादि माहात्म्यशीलं वाग्भवत्यस्मादिति व्युत्पत्त्या वाग्भवनामकं कूटं पञ्चाक्षराणां समुदाय एवैकं मुख्यं स्वरूपं यस्याः। द्वितीयम्- कण्ठस्याधः कटिपर्यन्तो यस्य मध्यभाग एव मध्यस्थकामराजाख्यस्य षडक्षरसमूहस्य स्वरूपं यस्याः। सर्जनशक्तिमत्त्वाच्छक्तिनामकेन कूटेन चतुरक्षरसमूहेन भेदमापन्नकटेरधोभागं धारयतीति। चतुर्विध पुरुषार्थमूलकारणात्वात् पञ्चदशाक्षरी मन्त्रः आत्मास्वरूपम्-कूटत्रयम्''। इदं देव्याः पञ्चदशवर्णात्मकं स्वरूपम्। अत्र प्रथमं कूटं देव्याः मुखं, द्वितीयं कण्ठप्रदेशात् कटिपर्यन्तः मध्यभागः, तयोः सन्धिस्थले एका हृल्लेखा (ह्रीं) रुद्रग्रन्थिः, तृतीयं कट्यधोभागपर्यन्तं द्वितीयतृतीययोः कूटयोर्मध्ये या हृल्लेखा सा विष्णुग्रन्थिः। चतुर्थपादः एकाक्षरो भवति। अस्योल्लेखः षोडशाक्षररूपेण तन्त्रशास्त्रे कृतोऽस्ति। अयं गुप्तपादः गुरूपदिष्ट एव सर्वथा। इदं ''श्रीं'' बीजं चन्द्रकलाऽभिधीयते। अन्तिमा तृतीया चतुर्थकूटयोर्मध्ये या हृल्लेखा सा ब्रह्मग्रन्थिः। अयमेव मन्त्रः षोडशाक्षरी विद्या या अतीव गोपनीया। अस्य मन्त्रस्य तन्त्रशास्त्रे अतीव महत्त्वं वर्तते। अस्य महत्त्वं तन्त्रसङ्ग्रहे एवं प्रतिपादितम् अस्ति-

अयं स वाग्भवो देवि वागीशत्वं प्रदायकः।
सत्तर्कपदवाक्यार्थशब्दालङ्कारसारवित्।
जिह्वायां न्यसनाद् देवि मूकोऽपि सुकविर्भवेत्[10]॥

शिशोर्जन्मनः त्रिदिवसाभ्यन्तरे एव यदि तस्य जिह्वायां रक्तचन्दनेन मधुनासिक्तेन वा बिल्वकाष्ठेन स्वर्णशलाकया वा पञ्चाक्षरीमन्त्रं (वाग्भवकूटं) लिखेत् तर्हि स बालको वागीशो भवति।

कामराजकूटस्य कृते-

कामराजाख्यविद्येयं भोगमोक्षफलप्रदा।
अनया सदृशी विद्या त्रिषु लोकेषु दुर्लभा॥

षोडाक्षरी विद्या-

तदेयं परमेशानि! षोडशाक्षररूपिणी।
मायास्थले रमाबीजं दत्त्वाऽन्या षोडशी भवेत्

षोडशार्णां महाविद्यां त्रैलोक्यवशदायिनीम्।
जननी सर्वमन्त्राणां परब्रह्मस्वरूपिणी॥[11]

अयमेव भावः वामकेश्वरतन्त्रेऽपि उपदिष्टो वर्तते। अत्र कूटत्रयमिति वाक्-काम- शक्तिबीजात्मकानां समाहरः।

इदमेव कूटत्रयं ज्ञानेच्छाक्रियारूपा परब्रह्मणः शक्तिस्वरूपा एता एव मूर्तिरूपे सरस्वती लक्ष्मीकालीस्वरूपाः सन्ति।

वागीश्वरी ज्ञानशक्तिर्वाग्भवे मोक्षरूपिणी
कामराजे क्रियाशक्तिः कामेशी कामरूपिणी।
शक्तिबीजे पराशक्तिरिच्छैव शिवरूपिणी,
एवं देवी त्र्यक्षरी तु महात्रिपुरसुन्दरी।

त्रिकूटेषु वर्णिताः वर्णाः मन्त्रेषु साङ्केतिकाः सन्ति। स्पष्टतया वर्णानामुल्लेखो न कुत्रापि गृहीतः। यथा त्रिपुरोपनिषदि-

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाऽभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुरुच्येषा विश्वामात्राऽऽदि विद्या।
षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्था त्रिकमादेशयन्तः।
कथय कविं कल्पकं काममातुष्टुवांसोऽमृततत्त्वं भजन्ते॥[12]

अस्य अयं भावः-

कामः - ककारः, योनिः-एकारः, कामकला-ईकारः, वज्रपाणिः-लकारः, गुहा-ह्रींकारः, हंसा- हकारः सकारः, मातरिश्वा-ककारः अभ्रं- ह इन्द्रः- लकारः, पुनर्गुहा -हकारः, पुरुसन्धि-प्रकाशमानः। अयं श्लोकः कादिविद्यायाः प्रतिपादकः। इदमेव तत्त्वं श्रुतिरपि कथयति-कामो योनिः कमला वज्रपाणिः।

भगवत्या त्रिपुराम्बायाः साधना उपास्या-उपासना-उपासक-भेदादपि त्रिधा भवति। पूर्वं कौलमिश्रसमयभेदेन उपासनापद्धत्यां भेदः प्रदर्शितः। एवञ्चात्र उपासकभेदेनापि भेदो भवति। लक्ष्यन्तु एकम् एव। पद्धत्यामेव भेदाः सन्ति। ललितासहस्रनामस्तोत्रस्य भास्करटीकायामुक्तमस्ति यत् श्रीविद्याप्रवर्तकानां द्वादशविद्येश्वराणां नामानि इमानि भवन्ति - मनुः, चन्द्रः, कुबेरः, लोपामुद्रा, मन्मथः, अगस्तः, अग्निः, सूर्यः, इन्द्रः, स्कन्दः, शिवः, क्रोध भट्टारकश्च (दुर्वासा)। एते प्रमुखा विद्याप्रवर्तकाः। प्रवर्तकानां भेदेन श्रीविद्याया एव कादि-हादि-कहादि-भेदाः भवन्ति। अत्र बीजाक्षरेषु विपर्ययादेव भेदः प्रतीयते। कादि-विद्यायाः प्रमुखोपासकः प्रवर्तकश्च कामदेवः। हादिविद्यायाः प्रमुखा प्रवर्तिका अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा अस्ति। लोपामुद्रा बाल्यकालादेव शक्त्युपासिका आसीत्, देवी प्रसन्ना भूत्वा वरं ददौ, येन तया त्रिपुराविद्या समुद्धृता। अगस्त्योऽपि लोपामुद्रात एव दीक्षां गृहीतवान्।

आगमरहस्यस्योत्तरार्धे कादिहादिविद्याया विषये उक्तमस्ति -

कादि-हादिर्विपुर्यस्याः विहारश्च कुलद्वये।
कादिहादिप्रभेदेन द्विधाम्नायार्थसंहतिः।
कादिः कालीमहाशक्तिर्हादिस्त्रिपुरसुन्दरी॥

चिच्छक्तिः कादिरूपा स्यात् हादिश्चिज्ज्ञानगोचरा।
चिदानन्दस्वरूपाख्यं शिवशक्त्यात्मकं महः॥

तत्रैव अन्येषां मतमित्थमस्ति –

कादिस्तु कामराजोऽस्ति हादिलोपा पुरेरिता।
इदं वटेश संमत्वा पारिभाषिकमीरितम्।।

हादौ तु नियमाः प्रोक्ताः यमसंयमनादयः।
कादौ तु नियमो नास्ति स्वेच्छया धर्ममाचरेत्।
हादयो मनवो देवाः षट्त्रिंशत् पद्मसंख्यकाः।[13]

श्रीविद्यार्णवतन्त्रे अतिविस्तरेण सर्वाः मनुविद्याः लिखिताः सन्ति। तत्र सप्तम-श्वासे 104 पृष्ठतः 114 पृष्ठ-पर्यन्तं सुविस्तृतं सुस्पष्टं वर्णिताः सन्ति एताः सर्वाः विद्याः[14]।

भगवत्पादेन शङ्कराचार्येण सौन्दर्यलहर्यां द्वयोरपि विद्ययोः वर्णनं कृतम्-

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः।
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामार-हरयः।।
अमीहल्लेखाभिः तिसृभिरवसानेषु घटिता।
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्।।[15]

अस्मिन् श्लोके हादि-विद्याया उपदेशः कृतो भगवता। अत्र 'शिवशक्तिकामक्षितीत्यत्र चतुर्वर्णात्मकः आग्नेयखण्डः प्रथमः। 'रविः शीतकिरणः स्मरः, हंसः शक्रः अयं पञ्चवर्णात्मकः सौरखण्डः मध्यकूटः। परामारहरयवर्णत्रयात्मकः सौम्यखण्डः तृतीयः कूटः। अमी द्वादश वर्णा हल्लेखाभिः अवसानेषु विरामस्थानेषु युक्ताः तव नामावयवतां भजन्ते। सौन्दर्यलहर्याः प्रारम्भ एव हादि-विद्यातो भवति-''शिवः शक्त्या युक्तः'। अतः शिवो हकारः शक्तिः ईकारो एकारो वा। इत्थं सौन्दर्यलहर्याम् अस्यैव श्लोकस्य व्याख्यायाम् आचार्यलक्ष्मीधरेण षोडशाक्षरबीजमन्त्रस्योल्लेखः कृतः। यद्यपि इदं बीजाक्षरम् अत्यन्तं गोपनीयं भवति। सर्वथा गुरूपदिष्टं, तथापि लोकोपकाराय तत्र उल्लेखः कृतः आचार्यैः -शकार-रेफ-ईकार-बिन्द्वन्तः 'श्रीः' मन्त्रः। एतस्यैव बीजस्य नाम श्री- विद्येति। श्रीबीजात्मिका विद्या श्रीविद्येति रहस्यम्। एवं षोडशनित्यानां प्रकृतिभूताः सन्ति वर्णाः ककारादयो षोडशनित्याः शुक्लप्रतिपदमारभ्य पौर्ण्यमास्यन्ताः तिथिरूपाः। एवञ्च कृष्णपक्षप्रतिपदमारभ्य अमावास्यान्ताः तिथिरूपाः। शुक्लपक्षे सूर्यमण्डलात् निर्गताः कलाः कृष्णपक्षे च सूर्यमण्डले प्रविष्टाः कला, एतासां कलानां सुन्दरी-कामेश्वरी-भगमालिनीत्यादयः पृथक्-पृथक् नामानि सन्ति। सुभगोदये उक्तमस्ति-

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कला पञ्चदशैव तु,
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।

अन्यासां कलानान्तु क्षयोपचयो भवति किन्तु सच्चिदानन्दस्वरूपिणी षोडशीकला तु सदा नित्या, सा सर्वदा षोडशवर्षीया एव। गौड़ीयसम्प्रदाये श्रीकृष्णोऽपि सर्वदा षोडशवर्षीयः नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तकः। श्रीसुन्दरी ललिता कदाचिद् रमणीरूपा कदाचित् पुंरूपाऽपि वर्णिता अस्ति-

'कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वंशीनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत्।।'[16]

अत एव उपासनापद्धत्या नियमानुसारेण स्त्रीदेवताया वामकरे जपसमर्पणं भवति, किन्तु ललितादेव्याः दक्षिणकरे समर्पणविधिरस्ति।

एवं त्रिपुरासिद्धान्ते कामेश्वरीकामेश्वरौ, प्रत्यभिज्ञायां शिवाशिवौ, गौडीयवैष्णवदर्शने राधाकृष्णौ अभिन्नौ स्तः। इयमेव कामेश्वरी, त्रिपुरा, त्रिपुरसुन्दरी, ललितेति नामभिः उपास्यते उपासकैः।

श्रीविद्या नाम अतिगूढो विषयः। अस्या विषये किमपि कथयितुं ऋषयोऽपि न समर्थाः। पुनः मम का गतिरत्र। तथाऽपि जिज्ञासावशात् किञ्चिदेव स्पृष्टं मया अत्र।

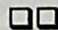
सन्दर्भाः

1. श्रीमद्भागवतपुराणम् 11, 27/7
2. रुद्रयामले भूमिकायाम्, पृ. 46
3. ललितासहस्रनाम. - श्लोकः-104
4. सौन्दर्यलहरी - श्लोकः-19
5. तत्रैव - 31
6. ललितासहस्रनाम. - श्लोकः-88
7. सौन्दर्यलहरी- श्लोकः-8
8. तत्रैव - 41
9. ललितासहस्रनाम. - श्लोकः-85-86
10. तन्त्रसंग्रहः (गन्धर्व-तन्त्रम्) भागः-3, पटलः-2, श्लोकः-22,23
11. तत्रैव, श्लोकः-27,34,41,47
12. त्रिपुरोपनिषद्, मन्त्रम्-8-9
13. आगमरहस्यम्, उत्तरार्द्धः, प्रथमपटलः 6773
14. श्रीविद्यार्णवतन्त्रे, सप्तमश्वासः 7, पृ.113
15. सौन्दर्यलहरी, श्लो.-32
16. सौन्दर्यलहरी-पूर्वार्धः, श्लोकः-32

सन्दर्भग्रन्थाः

1. श्रीमद्भागवतपुराणम्, टीकाकारः - श्रीराममूर्ति शास्त्री, वाराणसी
2. रुद्रयामलम् (उत्तरतन्त्रम्) प्रथमो भागः, सम्पादकः- पं.रामप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि. वाराणसी, 1991
3. ललितासहस्रनाम - सौभाग्य-भास्कर-व्याख्या, सम्पादकः- वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, पणलीकर, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली,
4. सौन्दर्यलहरी- लक्ष्मीधर-व्याख्या-समर्चिता, सम्पादकः- डा.सुधाकर मालवीयः, चौखम्भा-संस्कृत प्रतिष्ठानम्, दिल्ली
5. तन्त्रसङ्ग्रहः - योगतन्त्र-ग्रन्थमाला, सम्पादकः पं. रामप्रसाद त्रिपाठी, सं.सं. वि.वि.वाराणसी, 1979
6. त्रिपुरोपनिषद्-भाष्यम् - सम्पादकः- पं. पट्टाभिराम शास्त्री, वेदमीमांसा-अनुसन्धान-केन्द्रम्, वाराणसी
7. श्रीविद्यार्णवतन्त्रम् - विद्यारण्ययतिविरचितम्, प्राच्यप्रकाशनम्, वाराणसी, 1986
8. आगमरहस्यम् - सरयूप्रसादद्विवेदप्रणीतम्, राजस्थान-प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठानम्, जोधपुर

• राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
गङ्गानाथ झा परिसर, इलाहाबाद-211002



Concept of Deprivation in Vedic Period

Suchitra Mitra

(अस्मिन् आलेखे वैदिककाले वञ्चनायाः किं स्वरूपमासीदिति सोदाहरणं विश्लेषितं वर्तते। तस्मिन् क्रमे वैदिक-साहित्यात् नैकानि उदाहरणानि प्रस्तुतानि सन्ति। कस्यचिद् वस्तुनोऽलाभः एव प्रवञ्चनम्। आवश्यकताया अपूर्तिरिव प्रवञ्चनसिद्धान्तस्य बीजम्। वैदिककालेऽपि साम्यवादो नैव प्रस्तुतो दृश्यते। नैके नैकाभ्यः आवश्यकताभ्यः वञ्चिताः आसन् यासां पूर्तये तैः वैदिकदेवताः सम्प्रार्थिताः दृश्यन्ते।)

Generally, deprivation means disadvantage, viz. it refers to the conditions which are responsible for lack of fulfillment of needs. It is another way of saying that if a person is inconvenienced to fulfill his needs, he may be said to be a deprived person, according to the modern psychology. In ancient times, Vedic people also had their own concept of deprivation. They fulfill their basic needs through invocations of God. For example, तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजम् 'may the wind waft to us that pleasant food' (Ṛgv. I.89.4) for intelligence, आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः 'May power auspicious come to us from every side' (Ṛgv. I.89.1) नव्यमायुः प्रसूतिरेधि सहस्त्रसामृशिम् 'Prolong our life a new, and cause the seer to win a thousand gifts (Ṛgv. I.10.11) for health and वस्वो रायः पुरश्चन्द्रस्य भूयप्तः प्रजावतः स्वपत्यस्य षीग्धाः न 'Help us wealth etc. ending good and glorious abundant, rich in children and their progeny' (Ṛgv. II.2.12) for wealth.

Vedic people believed that protection of God is needed to enjoy a happy life : इन्द्रः सुत्रमा स्ववाँ अवोभिः सुमृलीको भवतु विश्ववेदाः : 'May, wealthy Indra as our good protector, lord of all treasures favour us with succour (Ṛgv. VI.47.12). But people who denounce Vedas (व्रतद्विषः II.23.4 : V.42.9); do not perform religious rites (अ-यज्वानः, Ṛgv. I.103.6) ; those who are rebellious (रक्षस्, Ṛgv. VII.104.14) abuse power (असुर् -Ṛgv. X/138/3) are awarded suitable punishment by God. इन्द्रः दासं वर्ण अधार गुहा अकः श्वघनीव अयं पुस्टानि आदत्. Indian chases away the humbled brood of demons, like a gambler he seized the foe's riches (Ṛgv. II.12.4). It makes God angry with his worshipper and instead of granting protection God pierces them with an arrow – समिन्द्रगर्दभं मृण नुवन्त पापयामुया, सवं परिक्रोशं जहि 'God slains each reviler and destroys him who in secret injures others' (Ṛgv. I.29.5,7). As a result, they are found to be deprived of their basic requirements. Therefore, in Vedic period, one who committed sin, is prayed : "शं यां यच्छ, यत् वयंवः कच्चित् आगः चकृम मृल" (Ṛgv. IV.12.4; II.27.14).

It is also said in *Vedas* that all mental confusion and evil reactions in a person arise when he is deprived of his basic requirements, as it is said in *Vedas*": Poverty, hunger and thirst of every kind enter the body as a home. अभूतिः क्षुधाः च सर्वाः तृष्णा च शरीरम् अतुप्राविषन् (AV XI.8.21); such confusion also urges to commit sin by address, by blame and by imprecation (Ṛgv. X.164.4).

Moreover, man is afraid of the unknown and dreads his enemies; he is also fearful of disease and death which is lurking everywhere. Since he is afraid of these things he prayed to God : मुचुन्तु मा शपथ्यादयो वरुण्याउत। अयो यमस्य पड्वीषात् सर्वस्मादेव किल्विषात् : release me from the curse's plague and woe that comes from Varuṇa. Free me from Yama's fetter, from sin and offence against the Gods (Ṛgv. X.97.16).

Hence, deprivation can be signified in the sense of suffering. It can be compared with the Sanskrit word : वञ्चनम् (वञ्च+भावे ल्युट्) which is conceptualized in the sense of loss, bereavement or hindrance. Here it is an important point to note that basically one major emotion which is closely associated with these verbal appellations can be said as misery. Because, wherever there is a cry of sufferings and pains like death or obstructions accompanying the human condition there is a misery : दुष्टं खनतीति दुःखम्। पीडा; पीडा; बाधा; व्यथा; श्रमालस्यं; प्रसूतिजं; कष्टं; कृच्छ्रम्; आमीलम्; अर्ति; आर्ति; पीडनम्, इप्यादि (हलायुधकोषः). According to Vedic people, as we have already seen that a person who commits a sin may enhance his misery, as well as he receives all kinds of ignorance by God as mark of punishment. 'छवनिद'' those who hate the Gods first fall and perish (Ṛgv. I.152.2).

Now, the question is : what is sin that originates misery and which is the root cause of all deprivations? Vedic people believed that sin is an evil act against or disobedience of some law supposed to be laid down by God. 'पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता' (Ṛgv. IV.V.V) that may finally result into misery, disease etc, which are the reasons for man's unhappiness. Gods are requested: "Let it not vex me, tire me, make me slothful" (Ṛgv. II.30.7). Therefore, sin is a chaos and confusion which creates all kinds of deprivations. From the references of *Ṛgveda* we may consider the various acts of sin like gambling, killing, hating, harming, troubling, telling lie, which lead to the unhappiness. [1] They also enhance the feelings of deprivation of all sorts of enjoyment among such people.

Poverty (Economic deprivation), as the Vedic hymns suggest, seem to be the most dreadful. when the needy comes in miserable case begging for bread to eat....... टाध्राय चकमानाय पित्वो रफिताय उपजग्मुशे (Ṛgv. X.117.2). It was considered to be a punishment for sin from God. Vedic Ṛṣi says : with the woeful cruel orders of the Gods, I pierce this man. With poverty, I pierce him : देवानामेन घोरैः क्रूरैः प्रेशैः विध्यामि। अमूत्यैनं विध्यामि (*Atharva* XVI.7.2,1).

Poverty deprives a man of the means of independent livelihood and throws him on the mercy and charity of others. "Due to starvation and poverty *Uśasti*, a young student forgets all his customs[2] begged food of an elephant driver who

himself was hungry and was eating beans of an inferior quality. He did so, because of his hunger and non-availability of any food otherwise. But he refused to drink defiled water as pure water was not scarce. [3]

Evil practices like idleness and extravagance are causes of poverty. For instance gambling is an evil play which deteriorates the gambler financially. One, who does not resist his fascination of dice, squanders away his money and ruins his family "जांया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्व चरतः क्व स्वित्" : the gambler's wife is left forlorn and wretched; the mother mourns the son who wanders homeless (Ṛgv. X.34.10). It makes a man lose all interest in life and has such a depressing effect upon his mind that he prefers death to the miserable life he is compelled to lead. According to Vedic Ṛṣis despair makes a poverty stricken man stoop to all sorts of dishonest means. In fear, in debt and seeking riches a sinner goes by night upto the home of others : ऋृणावा विभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तुप नद्रमेति (Ṛgv. X.34.10). An ancient legend can be taken here. For example, due to starvation Vaviṣṭha a disciple of Lord Varuṇa entered the house of Varuṇa for stealing. But his master Varuṇa who knows everything, bound his disciple Vaśiṣṭha with fetters (Ṛgv. VII.86-89). As soon as he uttered hymns[1] for apology the fetters dropped.

In this context Vaśiṣṭha looses the power of judging between right and wrong, under the pangs of poverty, and is led to commit acts which are wicked and immoral in the eyes of God and so he is punished.

Another distress in one's life as mentioned in *Ṛgveda* and *Atharvaveda* is sickness[2] i.e. deprived of health. Because, man with high ambitions and aspirations will see his hopes destroyed if he is not fortunate to have good health. But this feeling of deprivation was being restrained by perfect advice of *Guru* in Vedic period.

Ghoṣa, daughter of *Ṛṣi* Kakṣivat, was disfigured by an evil disease. She felt herself deprived when she failed to get married. But by the advice of her *Guru* (father) she started to chant hymns and got rid of all the feelings of deprivations (*Ṛ*gv. I.117.7; Bṛh. D 7.42-48).

Another example of physical deprivation is that of *Ṛ*ṣi Dīrghatamas in Vedic period who felt himself helpless in his life when he was deprived of vision (Ṛgv. I.147.3; Bṛh D IV.11-15).

By the grace of *Guru* (गुरुकृपा हि केवलम्) both of them were cured from their ailments and got freed from the sense of deprivation. Ghoṣa was married and Dīrghatamas become a well known sage of his time.

In Vedic period, diseases seemed not to be an automatic consequence but to have been sent by God as a punishment.[3] Sin may be committed in speech, mind or act, quarrel is for example which appear to be frequent sometimes leading to disastrous consequence, because, abusive language is found in quarrels. A person who was quarrelsome in Vedic period was found to be deprived of companionship.[4] Gods are requested to punish those evil creatures who are quarrelsome.[5] These constitute social deprivation.

Those who are deprived of need protection. A sinner if he wishes to be good implores : "O God! Send us only what is good" (यद् भद्रं तन्न आ सुव - *Ṛ*gv. V.82.5Ī). It is, because, he fears lest he is deprived of God's illumination i.e. a happy existence in bright heaven (स्वर्गप्राप्ति). There is a legend in *Aitareya Brāhmaṇa* where Lord Varuṇa came forward to his disciple and did his best efforts to strengthen him and to protect him.

"A boy named Śunaḥśepa was deprived of his father's affection (it is an example of deprivation of parental love) who was ready to say his own son in order to get hundred cows. At this woeful moment, Śunaḥśepa commenced to sing hymns in praise of the Gods and his devotion was such that Lord Varuṇa was moved to compassion" (Ait. Br*ā* 7.3). God punishes evil doers by sending them in dark hell "the bottomless, pit" (नरक- Ṛgv. VII.104.7). Therefore, everybody needs the help and guidance of a teacher who is competent to remove the veil from his eyes and guide him to his destination. One who tries to be good, wishes : "Giving good help, good refuge, good guidance, be they our good deliverers, good protectors : सुषर्माण: स्ववय: सुनाथा: भवन्तु। न: सुत्रात्रास: सुगोपा: (*Ṛ*gv. VI.51.11).

Vedic preceptors dealt with the problems of deprivation by saying "the best way to achieve contentment is to reduce one's desires. It is the desire which is the root cause of all troubles." [1] Teachers tried to redirect the minds of their students towards intellectual and spiritual desires which is man's special prerogative (श्रृण्वन्तु विश्वे ह्यमृतस्य पुत्रा: Brāhma *Dh. Grantha* - 16.12). Preceptors also claimed that one should be pure and virtuous if he desires perfect peace and rest : चरणं पवित्रं विततं पुराणं, येन पूत:, तरति दुष्कृतानि। तेन पवित्रेण-शुद्धेन पूता:, अतिपाप्मानं अरातिं तरेम (Taitt Bṛā III.12.2). He should overcome passions to become pure and generous (pride of caste, of fame, of dream, of anger, of praise, of beauty, virtue, or sweet odour). ब्रह्मण: सप्तेन्द्रियाण्यभिजायन्ते ब्रह्मवर्च्चसंच यपंच स्वप्नं च क्रोधाचं शलाघचं रूवचं पुण्यमेवगन्धां सप्तमम् (Gopatha Brā 1.2).

Moreover, Vedic preceptor particularly laid stress on the qualities of truth which became the shield and protection of his ward and enabled him not to be deprived : "A boy named Satyakāma Jābāla, desired to live the life of a celibate student of sacred knowledge in the teacher's house. As he did not know his lineage he was deprived to live with *Guru* and to study the sacred *Vedas*. But as soon as he confessed the truth[2], the teacher accepted him by saying : " I shall initiate you as a *brahmachārī* for you have not deviated from truth (उप त्वा नेष्ये न सत्याद् अग इति).

Vedic preceptors tried to enable their pupils to face all hindrances by controlling their basic needs. In this connection, several *Dharma- Sūtras* reveal that students should avoid honey, meat, perfumes, garlands, sleep in the day time, ointments, collyrium, a carriage, shoes, a parasol, love, anger, covetousness, perplexity, garrulity etc., and to restrain themselves from playing musical instruments, bathing (for pleasure), dancing, singing, calumny (and) terror[4]

अभ्यङ्गञ्जनं चाक्ष्णोरूपानच्छत्रधारणम्।
कामक्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।। (Manu- 2/178).

Vedas enabled the people to get spiritual joy by the surrender of these desires (although all this renunciation is considered to be a matter of deprivation in modern times), the root cause of above mentioned deprivations.

In Vedic period, students also applied the actual moral virtues in their thorough words and by saying :

ज्ञानममलसम्भसा स्तसतः सर्वदैव मुनिः शुचिः।
निर्मलस्मविशुद्धश्च विज्ञेयः सूर्यरश्मिवत्।।

who has taken bath with the pure water of knowledge is always clean from dust and is pure like the rays of the sun" (*Śivopaniṣad* V.41).

We, therefore, must educate the deprived not to be sinful. Like in Vedic period, in modern times also we need God's protection. Proper education combats narrow thinking, evil doing and prepare every deprived person to bear poverty, misery, adversity and every hardships patiently. As the sage of Kaṭhaopaniṣad says: "Life pilgrimage is uphill task. The climb is hard and trying. Only austere life is capable of this arduous task":

एष सर्वेषु भूतेषु गुढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शाः।। (1.3.12)

Notes and References

1. Sin : अनृत् (Unrighteousness)
2. *Ṛ*gv. V.85.8; X.34 [gambling]; IV.38.5 thief stealing cloth; X.5.6 [misdeeds]
3. He may usually eat [the food] of a *Brāhmaṇa* on account of [the giver's] character as a *Brāhmaṇa* [*Āpas Dhar* I.6.18.10]
4. *Chāndogya-Upaniṣad* 1.10.2.
5. ध्रुवासु त्वायु क्षितिशु क्षियन्तो व्यस्मत् पार्ष वरुणो मुमोचत्।
   टवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद् पात स्वस्तिभिः सदा नः। *Ṛ*gv. VII.88.7
6. *Ṛ*gv. I.50; VII.50; X.97; 161; Atharva I.23.4; II.33
7. शव वाहि यद्रपः। उतागष्वक्रशं देवा देवा जीव यथा पुनःष।
   Oh God! Below all disease .... Away....., restore to life again the man who hath committed sin, *Ṛ*gv. X.137.3,1
8. न्यक्रतून् ग्रथिनो मृधावाच पणीरश्रद्धो अवृधाँ अयज्ञान्।
   प्रप्र तसन् दस्यूंरग्निविचाय पूर्वष्वकारापराँ अयज्यून्।। Ṛgv. IV.1.6.3
9. अग्ने दुरुद्र : तन्वें मृक्षीस्ट। *Ṛ*gv. I.147.4
10. Grief is desire - See *Bṛhadāraṇyaka-Upaniṣad* III. V.1, page 334, Swami Mādhavānanda's of English Commentary, See also *Gitā* 3.37 :
    ''काम एषः क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
    महाशनो महापाप्मा विद्धेयनमिह वैरिणम्।।''
11. See *Chādogya Upa*. 4.4.1-5
12. *Mund. UP* [II, 15, 6] also reveals : God can be attained by truthful behavior, by leading a highly moral life and by the acquisition of true knowledge - सत्येन लभ्यस्तपसा त्ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

13. Gautam Dh. Sū II.13; Āpas Dh. Sū I.2, 23-28; I.1, 3, II-14; 20-24; 1.2.7.5

Bibliography

1. *Āpastamba-Dharmasūtra* : Editor. A. Chinnaswami and Shastry, banaras. 1932
2. *Aitareya Brāhmaṇa* – Editor and Hindi Translator Dr. Sudhakar Malviya, Tara Publications, Varanasi, 1980
3. *Atharvaveda* – R.T.H. Griffith, Chowkhamba Sanskrit Series office, Varanasi, 1. 1968
4. *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* – English Translation – Swāmi Mādhavānanda with the commentary of Śankarācārya, Advaita Ashrama 5, Delhi Entally Road, Calcutta, 700014.
5. *Chhāndogyopaniṣad* - English Translation – Swāmi Swāhānanda, Sri Ram Krishna Math, 11, Ram Krishna Math Road, Madras – 600004, India
6. *Gautama-Dharmasūtra* – Editor – L. Srinivasacharya, Mysore, 1917
7. *Gopatha-Brāhmaṇa* – Editor – Rajendra Lal Mitra - 1972
8. *ManuSmṛti* – Pt. Hara Govinda Shastri, Chowkhamba Sanskrit Series office, Varanasi. 1979
9. *Ṛgveda* – Saṃhitā, Commentary of Sāyaṇācārya
10. *Śivopaniṣad* – Studies in the sectarian Upaniṣads, T. R. Sharma, Indological Book House, Varanasi, Delhi. 1972
11. Swāmi Mādhavānanda's English Commentary on Bṛhadaraṇyakopaniṣad. – Translated by F. Maxmuller, Motilal Banarasidass, Delhi, Patna, Varanasi

ABBREVIATIONS

Āpas Dh. Sū	–	Āpastamba-Dharma-Sūtra
Ita Brā	–	Itareya Brāhmaṇā
Atharva	–	Atharvaveda
Bṛh. D.	–	Bṛhaddevatā - Ṛgveda
Chāndo Up	–	Chāndogyopaniṣad.
Gautam Dh. Sū	–	Gautam-DharmaSūtra.
Gopath	–	Gopatha-Brāhmaṇa
Kaṭh Upa.	–	Kaṭhopaniṣad.
Manu	–	Manusmṛti.
Ṛgv.	–	Ṛgveda
Śivopa	–	Śivopaniṣad
Taitt. Brā.	–	Taittiriya-Brāhmaṇā

• **Sanskrit Deptt., Allahabad University, Allahabad –211002**



काश्मीरशैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त

रीता तिवारी

(The term *pratyabhijñā* is etyemolosised as *pratigatā abhijñā*. The four meanings of the preposition *prati* are justified in this term. According to philosophy, *jīva* gets liberation by knowing the nature of its soul. Each philosophy adopts the concepts of other philosophies in its own style. *Kāśmiraśaivadarśana* has absorbed the aupaniṣadic concepts like *'ahaṃ brahmāsmi'*, the perception of Nyāya philosophy, the perception as well as the five division of परोक्षप्रमाण of Jaina philosophy, the thoughts of Buddhist philosophy, the knowledge of 25 *tattvas of Sāṅkhya* philosophy. *Trikadarśana* is the other name of this philosophy, like the egg of pea-hen everything starting from *parabrahma* to the smallest iota of the universe is absorbed in it.)

प्रत्यभिज्ञा काश्मीर-शैवदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। यह मोक्ष का साधन भी है तथा मानव-जीवन का परमलक्ष्य होने से स्वयं मोक्षस्वरूप भी है। प्रत्यभिज्ञा का सामान्य अर्थ पहचान है। प्रश्न उठता है कि किसकी पहचान? उत्तर है- अपने स्वरूप की पहचान। जीव जो कि वस्तुतः शिव है, लेकिन वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूले बैठा है। उसने अपना तादात्म्य केवल अपने शरीर और मन से स्थापित कर लिया है। जीव को अपने वास्तविक स्वरूप को समझने के योग्य बनाने के लिए ही प्रत्यभिज्ञा का उपदेश दिया गया है। मनुष्य को इस सत्य से अवगत कराना है कि उसका वास्तविक स्वरूप शिव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। प्रत्यभिज्ञा द्वारा उसे साधना के उस मार्ग पर प्रेरित किया जाता है जिससे वह शिव में समाविष्ट हो जाये। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र यह बताता है कि जीव शिव ही है। व्यष्टि तथा समष्टि जगत् की आत्मा एक ही है। यह शास्त्र जीव को अपने यथार्थ स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पहचान करवाता है। इसीलिए इसे प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहा जाता है।

प्रत्यभिज्ञा शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ देखें तो यह दो रूपों में मिलता है। प्रथम है- प्रति+अभिज्ञा। वाचस्पत्यम् में इसकी व्याख्या है- *'प्रतिगता अभिज्ञा इति प्रत्यभिज्ञा। अभिज्ञानरूपे संस्कारसहकारेण जनिते प्रत्यक्षभेदे यथा सोऽयं देवदत्तः इत्यादि।'*[1]

द्वितीय व्युत्पत्ति है प्रति+अभि+ज्ञा[2] दोनों व्युत्पत्तियों का आशय पहचान से ही है।

शैव-दर्शन के आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा की परिभाषा करते हुए लिखा है-

'तस्य महेश्वरस्य 'प्रत्यभिज्ञा' प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा।[3]

जगत् के रूप में भासित हाने वाली परमेश्वर की शक्ति का स्वात्मशक्ति के रूप में अद्वैत-प्रतीति होना ही मनुष्य के लिए प्रत्यभिज्ञा है। अभिनवगुप्त ने प्रतीप पद का अर्थ 'ज्ञात स्वात्मस्वरूप का अवभासन

होना' ऐसा बताते हुए प्रत्यभिज्ञा की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है-

'प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति स्वात्मभासो हि न अननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पति इव लक्ष्यते इति वक्ष्यते। प्रत्यभिज्ञा च भासमानरूपानुसन्धानात्मिका, स एवायं चैत्र-इति प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तूनि ज्ञानम्, लोकेऽपि एतत्पुत्र एव गुण एवं रूपक इत्येवं वा, अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसंधितप्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाइति व्यवह्रियते, नृपतिं प्रति प्रत्यभिज्ञापितोऽयम् इत्यादौ।'

अर्थात् 'मैं उस महेश्वर से अभिन्न हूँ'। अपने स्वरूप का ही सही ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। अर्थात् विद्यमान या ज्ञात होने पर भी माया के मोहवश विस्मृति सी होने पर अपने परमेश्वर का आभिमुख्य तथा सम्मुखीभाव से पुनः ज्ञान होना ही प्रत्यभिज्ञान या प्रत्यभिज्ञा है। जीव अपने आणव मल के कारण अपने शिव-रूप को पहचान नहीं पाता। माया-शक्ति के द्वारा न केवल जीव के स्वातन्त्र्य का ही संकोच होता है बल्कि वह इस यथार्थ सत्य से भी अनभिज्ञ रहता है कि यह स्वातन्त्र्य वस्तुतः उसका अपना है।

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः।।[5]

भारतीय दर्शन के चिन्तन का प्रमुख लक्ष्य प्रमाता को उसके स्वरूप का अवबोधन कराना है। प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप ज्ञान से पूर्व इसका स्मृति में किस प्रकार विभेद होता है, यह जानना अति आवश्यक होता है। प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान की प्रक्रिया से मानसिक संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान एक अंगमात्र ही होता है। प्रत्यभिज्ञा में जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसका स्मृति-ज्ञान के विषय से तादात्म्य संवन्ध आवश्यक होता है। इस प्रकार स्मृति-ज्ञान के मानसिक संस्कारों के साथ स्मृति के विषय की उपस्थिति भी प्रत्यभिज्ञा में आवश्यक है। दृष्टान्त के लिए किसी समय कोई बालक हाथी पर सवार राजा को देखता है और वह दृश्य उसे मनोरञ्जक लगता है। लेकिन कुछ काल पश्चात् वह केवल हाथी को ही देखता है और उसे देखते ही उसके मन में पहले देखे गये दृश्य के संस्कार जाग्रत हो जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप उसे हाथी पर सवार राजा का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान उसका स्मृति-ज्ञान है। लेकिन यदि राजा उसे पुनः दिखाई दे और वह पहचान ले कि यह वही है तो यह प्रत्यभिज्ञा है। पूर्व के संस्कारों के साथ तादात्म्य निरूपण ही प्रत्यभिज्ञा है। अतः प्रत्यभिज्ञा में पूर्वज्ञान आवश्यक है। पूर्वज्ञान का उदय श्रवण, अध्ययन तथा उपदेशादि किसी के द्वारा हो सकता है।

दार्शनिकों के अनुसार शिव ही गुरु-रूप में प्रकट होकर अज्ञान रूपी मल का विनाश कर आत्मा को इस ज्ञान की अनुभूति कराता है कि जिस पूर्ण का श्रवण वह वेदों, आगमों तथा श्रुतियों द्वारा करता है, 'वह' स्वयं 'वही' है। उपनिषद् *'तत्त्वमसि'* (वह तुम ही हो) *'अयमात्मा ब्रह्म'* (यह आत्मा ब्रह्म है) *अहं ब्रह्मास्मि* (मैं ब्रह्म हूँ) इत्यादि महावाक्यों द्वारा जीव को उसके स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराती है। आगमशास्त्र या गुरु के द्वारा 'मैं शिव हूँ' इसका बोध कराया जाना ही अपनी प्रत्यभिज्ञा है।

प्रत्यभिज्ञा के इस रहस्य को समझने के लिए काश्मीरशैवदर्शन के विद्वान् एक सुन्दर तथा सरस उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि एक सुन्दर नवयुवती किसी व्यक्तिविशेष के उत्तमगुणों को सुनकर बिना उसे देखे उस पर मुग्ध हो जाती है और उससे इतना अधिक प्रेम करने लगती है कि उससे मिलने के लिए आतुर हो उठती है। जब वह उस व्यक्ति विशेष से मिलती है तो न ही वह उसे पहचान पाती है न ही उसके गुणों को ही समझ पाती है। ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति उसे अन्य सामान्य व्यक्ति जैसा प्रतीत होने लगता है। तभी कोई व्यक्ति यह जानकर उसे उस व्यक्ति का परिचय कराता है। तब वह उसे पहचान लेती है कि यह वही व्यक्ति है जिससे वह प्रेम करती है। यह पहचान ही प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा में यह आवश्यक नहीं है कि

जिसकी प्रत्यभिज्ञा हो, पूर्वदृष्ट हो। प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थ की वास्तविकता की जानकारी प्राप्त हो जाना ही प्रत्यभिज्ञा है।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ग्रन्थ के माध्यम से आचार्य क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मर्म बताया है। इस ग्रन्थ का यह उपदेश है कि यदि कोई आत्मा को पहचान ले तो शरीरादि आनात्मा में जो आत्मबुद्धि है उससे छुटकारा पा लेगा और यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि उसकी वास्तविक आत्मा विश्वात्मा शिव ही है।

इस प्रकार स्मरण तथा अनुभव के आधार पर बुद्धि और संस्कार इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है-

'स्मरणानुभवारूढा समानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता।।' [6]

प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हाने पर स्व तथा पर का भेद समाप्त हो जाता है।

'प्रत्यभिज्ञोपपत्तौ स्वपरविभागाभावे तदपेक्षं..........।' [7]

आत्मस्वरूप का ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है क्योंकि इससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब आत्मा इस सत्य को स्वयं अनुभूत करें। आत्मा दो प्रकार के अज्ञान के कारण अपने स्वयं के रूप को नहीं जान पाता है-

1- बौद्ध-अज्ञान

2- पौरुष-अज्ञान

आत्मस्वरूप के विषय में बौद्धिक जानकारी का अभाव बौद्ध-अज्ञान कहलाता है जिसको शास्त्रों के अध्ययन तथा उपदेशों के श्रवण द्वारा दूर किया जा सकता है। दूसरा जो पौरुष-अज्ञान है वही वास्तविक अज्ञान है जिसके कारण हम पशु है। यह एक आध्यात्मिक मल है जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अपने में जकड़ कर रखता है। 'प्रत्यभिज्ञा' के लिए इन दोनों प्रकार के अज्ञान से छूटना आवश्यक है। पौरुष-अज्ञान के कारण आत्मा शिव से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाती है जिसके लिए शिव गुरु-रूप में प्रकट होता है और जीव को आध्यात्मिक ज्ञान देता है जिसे दीक्षा कहते हैं। इस प्रकार शास्त्र-अध्ययन, उपदेश तथा दीक्षा आदि के द्वारा दोनों प्रकार के अज्ञानों से जीव मुक्ति पा लेता है और अपने स्वरूप को जानकर उसमें स्थित हो जाता है।

शैव शास्त्रकार का यह विचार है कि बौद्धज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता लेकिन केवल पौरुष ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है।[8]

काश्मीर शैवदर्शन के आचार्यों का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न है उनका मन्तव्य है कि बौद्धज्ञान ही मोक्ष के आध्यात्मिक पक्ष का प्रथम चरण है। बौद्धज्ञान अर्थात् आगमशास्त्रादि के अध्ययन मनन-चिन्तन द्वारा ही व्यक्ति में आध्यात्मिक प्रेरणा स्फुटित होती है वह पौरुष ज्ञान अर्थात् दीक्षादि के लिए प्रयत्नशील होता है।

आत्मा जब तक रागादि मलों से युक्त होती है तब तक बौद्धिक ज्ञान और पौरुष ज्ञान भी मिश्रित रहते है। इनको किसी प्रकार से विभाजित नहीं किया जा सकता। जब आत्मा पूर्णतया मलों के आवरण से मुक्त हो जाती है उस स्थिति में पूर्ण पौरुष ज्ञान प्राप्त होता है जिसे पूर्णज्ञान भी कहते हैं और जीव पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है। तब आगमादि शास्त्रों के अध्ययन तथा मनन-चिन्तन की भी आवश्यकता नहीं रह

जाती और न ही ज्ञान के लिए साधन की अपेक्षा रहती है क्योंकि जीव पूर्णज्ञान से भर जाता है। पूर्णावस्था सर्वज्ञ की अवस्था है। इस अवस्था में सर्वज्ञ की स्वतन्त्र इच्छा पर साधनों का प्रयोग होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा का मलावरण दूर करके आत्मा के शुद्ध वास्तविक रूप का प्रकाश ही 'प्रत्यभिज्ञा' है। इस प्रक्रिया में आत्मा किसी बाह्य वस्तु के साथ अपना तादात्म्य नहीं स्थापित करता वरन् अपने वास्तविक स्वरूप के साथ ही अपना तादात्म्य स्थापित करता है। और उसका वास्तविक स्वरूप 'शिव' रूप ही है। प्रत्यभिज्ञा आत्मा का शुद्धीकरण है। इस प्रक्रिया में आत्मा कोई नवीन रूप धारण नहीं करता अथवा उसका कोई भौतिक रूपान्तरण नहीं होता जैसे दूध से दही बनना एक भौतिक रूपान्तरण है। आत्मा का तो वास्तविक स्वरूप शुद्ध चैतन्य रूप ही है। इस प्रक्रिया में केवल आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ अविद्या रागादि रूप मल का आवरण हटाया जाता है। उस आवरण के हटते ही वह आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप को प्राप्त होकर प्रकाशित होने लगता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा एक अवस्था परिवर्तन है जो अशुद्ध से शुद्ध या अपूर्ण से पूर्ण होने का है। प्रत्यभिज्ञा द्वारा मलावरण दूर करने से तात्पर्य है अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण ज्ञान में परिवर्तित करना। इसलिए प्रत्यभिज्ञा वस्तुतः ज्ञान है।

शिव और आत्मा की अद्वैत अनुभूति ही प्रत्यभिज्ञा है। काश्मीरशैवदर्शन में तो इन दोनों को वस्तुतः एक ही तत्त्व माना गया है। शिव ही अपनी इच्छा से पशु-भाव स्वीकार करता है किन्तु अज्ञानता के कारण आत्मा इस सत्य को भूल जाता है। लेकिन आत्मा जब इस सत्य को जान जाता है तो पुनः शिव-रूप में प्रकाशित हो जाता है। अद्वैत वेदान्त भी आत्मा को ब्रह्म मानता है।

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार प्रत्यभिज्ञा में 'प्रति' उपसर्ग प्रतीत अर्थ में 'अभि' उपसर्ग आभिमुख्य अर्थ में तथा 'ज्ञा' धातु अवबोधन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[9] साथ ही 'प्रति' व 'अभि' उपसर्गों के साथ कार्यकारण भाव तथा आनन्तर्य संवन्ध भी हैं। 'उपसर्गों के प्रति की व्याख्या करते हुए उसके प्रतिफल की विवेचना करता है। भास्करकण्ठ ने चिन्तानुबोधशास्त्र[10] की अपनी टीका में 'प्रति' उपसर्ग का चार विशिष्ट अभिप्रायों में प्रयोग किया है - 1. प्रतीप, 2. अनुसन्धान, 3. अभिमुख, 4. आन्तर्य। किन्तु प्रत्यभिज्ञा का निरूपण करते समय प्रथम दो आध्यायों में प्रति शब्द की व्याख्या हुई है। यदि प्रति शब्द का अर्थ अभिमुख लें तो व्युत्पत्ति होगी- *'अभिमुखं आभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्।'* किन्तु तब हमें प्रत्यभिज्ञान न होकर प्रत्यक्षात्मक बोध ही होगा, साथ ही 'आभिमुख्य' की अनावश्यक पुनरावृत्ति होगी। यदि इस पुनरावृत्ति के परिहारार्थ प्रत्यभिज्ञा की व्युत्पत्ति अन्य दर्शनवत् 'प्रति+अभिज्ञा' मान ली जाये तो यह सम्प्रदाय के विरूद्ध होगी, क्योंकि न केवल भास्कर अपितु अभिनवगुप्त स्वयं प्रत्यभिज्ञा की व्युत्पत्ति *'प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रतिसन्धानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्'* कहकर, 'प्रति+अभि+ज्ञा' इस रूप में ही स्वीकार करते हैं। अतः प्रति की 'अभिमुख्य' अर्थ में व्याख्या न किये जाने का कारण तो स्पष्ट हो जाता है। किन्तु आन्तर्य अर्थ में व्याख्या न करने का प्रयोजन अव्याख्येय ही रहता है। क्योंकि यदि हम प्रति का अर्थ 'आन्तर्य' बताते हैं, तो व्युत्पत्ति होगी- *'आन्तरत्वम् आभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्'* और आन्तरिकता है- 'प्रमाता से एकात्मता या तादात्मता' यानि कि प्रमाता से तादात्म्य का अभिमुखीभूत रूप में ज्ञान करना ही प्रत्यभिज्ञान है। यदि प्रत्यभिज्ञा की इस रूप में व्याख्या की गयी होती, तो वह अपने आप में परिपूर्ण व्याख्या होती और अपनी व्युत्पत्ति से ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में स्वीकृत चरम प्रत्यभिज्ञान को भी स्पष्ट कर देती। इसका एक मात्र प्रयोजन यही हो सकता है कि भास्कर ने यहाँ प्रत्यभिज्ञा की संरचनात्मक व्याख्या की है स्तरविशेष के सन्दर्भ में उसकी विवेचना नहीं की है।

'प्रति' शब्द का तात्पर्य है कि कोई वस्तु पलट जाती है। 'अभि' पद का तात्पर्य है कि पलट जाने के पश्चात् वह वस्तु सामने आ जाती है तथा 'ज्ञा' पद से तात्पर्य है कि जो वस्तु पलटकर सामने आयी उसी

का ज्ञान करना।[11] अर्थात् पूर्व घटित का सम्मुख उपस्थित रूप में ज्ञान करना ही प्रत्यभिज्ञान है। जिसको काश्मीरशैवदर्शन की शैली में 'भात और भासमान के अनुसन्धान' के रूप में परिभाषित किया गया है- *'पूर्वं भातमद्य भासमानं तयोर्यदनुसन्धानम्, एकीकरणं तदात्मा यस्याः तादृशी।*[12]

मनोविज्ञान तथा पाश्चात्य-दर्शन में प्रत्यभिज्ञा के अभिप्राय में 'रिकॅग्नीशन' (Recognition) शब्द का प्रयोग प्राप्त है- The Knowledge of an object along with the realisation that same object has been previously known.[13]

प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण भारतीय दर्शन में दो रूपों में मिलता है-

(1) प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग करते हुए उसके दार्शनिक अभिप्राय का निरूपण।

(2) प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग किये बिना उसके दार्शनिक अभिप्राय का निरूपण।

उपनिषद् तथा वेदान्त आदि दर्शन में प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता लेकिन सिद्धान्त पूर्णरूप से व्याप्त है। 'अपरोक्षानुभूति' प्रत्यभिज्ञा शब्द की व्याख्या है जिसका निरूपण वेदान्त में है। जीव ब्रह्म के ऐक्य हेतु उपनिषद् वाक्यों जैसे- *'तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि'* का प्रयोग हुआ है।

सांख्यदर्शन में भी कैवल्य-प्राप्ति और उसके अस्तित्व का बीज बिना प्रत्यभिज्ञा शब्द के प्रयोग के मिलता है।[14]

प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र शैवदर्शन का शास्त्र है। इसमें आगम के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन हुआ है। प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र ने ही सर्वप्रथम कश्मीर के अद्वैत शैवमत का दार्शनिक शैली से विवेचन प्रस्तुत किया। दर्शन-शास्त्र की एक विशिष्ट शैली यह होती है कि पहले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का तर्क-वाद-प्रतिवाद के आधार पर खण्डन करके शास्त्रानुमोदित प्रबल तर्कों के आधार पर अपने पक्ष की स्थापना की जाती है। काश्मीरशैवदर्शन में इस शैली से विचार प्रतिपादन का अनुसरण सर्वप्रथम आचार्य सोमानन्द ने अपने ग्रन्थ शिवदृष्टि के माध्यम से किया। शिवदृष्टि इस शास्त्र का मूल ग्रन्थ है। इसमें दृष्टि पद दर्शन का द्योतक है। शिवदृष्टि पर सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव ने इस ग्रन्थ पर ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की रचना की। इस ग्रन्थ पर स्वयं उत्पलदेव ने वृत्ति लिखी इसके साथ ही अन्य आचार्यों ने भी टीका लिखी है जिसमें प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का सार समाहित हो गया है। इसकी प्रमुख टीकाएं हैं- आचार्य अभिनवगुप्त-प्रणीत प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी तथा प्रत्यभिज्ञाविवृतविमर्शिनी। आचार्य क्षेमराज ने इस पर प्रत्यभिज्ञाहृदयम् नामक टीका की रचना की है। अभिनवगुप्त ने 12 खण्डों में तन्त्रालोक और एक ग्रन्थ तन्त्रालोकसार लिखा जिसमें शैवदर्शन के सभी सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। जिसके मुख्य बिन्दु निम्नलिखित हैं -

1. परमार्थ या चरमतत्त्व   4.जगत्   6.जीव
2. स्वातन्त्र्यवाद और आभासवाद   5.बन्ध   7.मोक्ष
3. शाङ्कर अद्वैतवाद के साथ तुलना

प्रत्यभिज्ञादर्शन में छत्तीस तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इसमें परमशिव के गर्भ में 'मयूराण्डवत्' सदाशिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थतत्त्व समाहित है जिनके नाम इस प्रकार से है-

1. शिव   2. शक्ति   3. सदाशिव   4. ईश्वर   5. शुद्धविद्या
6. माया   7. कला   8. विद्या   9. राग   10. नियति

11. काल	12. पुरुष	13. प्रकृति	14. बुद्धि	15. अहंकार
16. मन	17. श्रोत्र	18. त्वक्	19. चक्षु	20. रसना
21. घ्राण	22. वाक्	23. पाणि	24. पाद	25. पायु
26. उपस्थ	27. शब्द	28. स्पर्श	29. रूप	30. रस
31. गन्ध	32. आकाश	33. वायु	34. तेज	35. जल
36. पृथिवी।				

त्रिकदर्शन इसी प्रत्यभिज्ञादर्शन का दूसरा नाम है। त्रिकदर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन की तत्त्वमीमांसा और साधनापक्ष से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

अभिनवगुप्त के सुयोग्य शिष्य क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त को व्यापक बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ शिवसूत्रविमर्शिनी, स्वच्छन्दतन्त्र, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, स्पन्दसन्दोह, शिवस्तोत्रावली, की टीका इत्यादि है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठित ग्रन्थों में परमार्थसार की टीका तथा जयरथ प्रणीततन्त्रालोक टीका, भास्कर रचित ईश्वरप्रत्यभिज्ञा टीका महेश्वरानन्द विरचित परिमल टीका सहित महार्थ-मञ्जरी आदि प्रमुख हैं। प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की इस प्रतिष्ठित आचार्य परम्परा से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दर्शन का साहित्य भी समृद्ध रहा होगा।

संक्षेप में प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त के सन्दर्भ में कह सकते हैं कि परमशिव अपनी स्वतन्त्रचेतना इच्छा के माध्यम से ज्ञान शक्ति तथा क्रिया के सम्मिश्रण से विश्वोन्मेष करता है। इस विस्तारण में पृथिवी पर्यन्त कुल 36 तत्त्वों की कल्पना की गयी है। जिसे शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त विशेष क्रम से दर्शाया गया है। इनमें परमशिव अपनी शक्ति से पृथक् होकर विश्व-सृष्टि का सृजन करता है। और ये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तुएं उसमें प्रतिभासित होती रहती है।

शिव-शक्ति के संयोग से शिव आन्तरिक स्पन्दन के परिणाम-स्वरूप सदाशिव, ईश्वरतत्त्व तथा शुद्धविद्या उद्भूत होते हैं। इसके पश्चात् प्रकृति पर्यन्त जो अशुद्ध तत्त्व अविद्या, कला, राग, काल और नियति आदि उत्पन्न होते हैं वे शिव के बहिरुन्मेष के रूप में माने जाते है। सांख्य के 25 तत्त्व भी प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र को मान्य है। सांख्यदर्शन में प्रकृति से पुरुष का संयोग विछिन्न हो जाने पर पुरुष 'कैवल्य' प्राप्त करता है। इस प्रकार पुरुष को अपने वास्तविक स्वरूप को जानना तथा समस्त क्रियाओं का स्वयं में निषेध करना ही प्रत्यभिज्ञा का प्रतिपादन है।[15] इस दर्शन में इस बात पर विशेष बल दिया गया है। कि पुरुष सृष्टि-व्यापार से पूर्व तथा सृष्टि के बाद भी निष्क्रिय अकर्त्ता तथा द्रष्टा ही रहा। लेकिन अज्ञानवश अपने को सृष्टि का कर्त्ता-भोक्तादि समझ रहा है। विवेक-प्राप्ति ही जिसके प्रत्यभिज्ञान का आधार हुआ- इसके साथ ही महदादि तत्त्वों से लेकर पृथिवी पर्यन्त प्रकृति का विस्तार प्रत्यभिज्ञान का परिणाम है, अथवा प्रत्यभिज्ञानात्मक है।[16]

'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का प्रयोग बौद्ध-दर्शन में भी मिलता है। जिसके दो कारण हैं- प्रथम कारण है- विशेष प्रकार के संकेत के द्वारा पहचाने जाने पर तथा द्वितीय, किसी वस्तु के आकारों के संग्रह के कारण। जैसे बर्फी या मोदक के आकार व रंग को देखकर हमें उसके स्वाद का स्मरण हो जाता है जो प्रत्यभिज्ञा को जन्म देती है। यह कुछ विचित्र सा है। लेकिन न्यायशास्त्र की ज्ञान लक्षण-प्रत्यासत्ति से इसकी समता प्रतीत होती है। न्यायदर्शन के अलौकिक प्रत्यक्ष का एक भेद ज्ञान-लक्षण-प्रत्यासत्ति है। इसके अनुसार एक ही इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का भी अनुभव करने में समर्थ हो जाती है। जैसे-चन्दन को देखकर उसके सुगन्ध की भी अनुभूति हो जाती है। यहाँ नेत्रेन्द्रिय के द्वारा ही घ्राणेन्द्रिय का कार्य भी हो जाता है।

इसमें सुगन्ध की अनुभूति का कारण भी पूर्वकाल में अनुभूत की गई सुगन्ध की स्मृति है। इस उदाहरण में चन्दन प्रत्यक्ष वस्तु है पर स्मृति सुगन्ध की हो रही है। जबकि सामान्य सिद्धान्त में प्रत्यभिज्ञा में एक ही वस्तु होती है वही प्रत्यक्ष तथा स्मृति दोनों का विषय बनती है। जैसे- 'यह वही चन्दन है'। इस उदाहरण में चन्दन ही भूतकालिक स्मृति व वर्तमानकालिक अनुभव का विषय है। न्यायदर्शन का ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति- 'यह चन्दन है' - यह अंश प्रत्यक्षात्मक है तथा 'यह सुगन्ध है' यह अंश स्मरणात्मक है। इस व्याख्या में वस्तु के पूर्णस्वरूप में अवबोधन को प्रत्यभिज्ञा स्वीकार किया गया। इस दृष्टि से काश्मीरशैवदर्शन के साथ इसकी साम्यता भी दिखाई देती है। बौद्धदर्शन मे भात और भासमान के मध्य सादृश्य-प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा मानते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में सभी कुछ क्षणिक हैं। इस कारण वे स्मृति के आधार अनुभूत पदार्थों में समानता नहीं करते। इसी कारण सादृश्य मानते हैं।[17] प्रत्यभिज्ञान से सन्निहित वस्तु में सादृश्य बोध नहीं होता है। क्योंकि वह ज्ञान क्षणिकवाद के कारण वस्तु-विषयक नहीं हो सकता है।[18] अत: उनकी प्रत्यभिज्ञा मात्र सविकल्पक रूप में ही सम्भव है। और प्रत्यभिज्ञान ही सविकल्पता का निर्धारक है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन में भ्रान्तिजन्य प्रत्यभिज्ञा-'सोऽयं देवदत्त:' तथा कल्पनाजन्य प्रत्यभिज्ञा-'देवदत्तोऽयम्' ये दो प्रकार की प्रत्यभिज्ञा मिलती है।

वाक्दर्शन का मीमांसा-दर्शन से निकट का सम्बन्ध होने से वाच्य-वाचक के मध्य भी प्रत्यभिज्ञान जनक अनुभूति होती है। अत: इसमें निरूपित प्रत्यभिज्ञा भी शब्द और अर्थ से सम्बद्ध है। जो सविकल्प अर्थ की संज्ञा द्वारा होता है।[19] भर्तृहरि के वाक्-दर्शन में भी यही सिद्धान्त मिलता है-

सोऽयमित्यभिसंबन्धाद् रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते।।[20]

न्याय-दर्शन के प्रमाण-मीमांसा में प्रत्यभिज्ञा 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का विषय हो जाता है जो प्रत्यक्ष का एक प्रकार होता है। क्योंकि न्यायदर्शन में कहीं-कहीं लौकिक प्रत्यक्ष के तीन रूप हैं- निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा प्रत्यभिज्ञा[21] जिसका ज्ञान संस्कार और इन्द्रियसन्निकर्ष के संयोजन से होता है। न्यायकोश में उद्धृत है-

'तल्लक्षणं तु इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञानत्वम्।'[22]

यह एक विशिष्ट ज्ञान होता है क्योंकि यह भूतकाल के विशेषण से युक्त वर्तमान काल से अविच्छिन्न रहता है-

'अतीतकालविशिष्टो वर्तमानकालावच्छिन्नश्चार्थ एतस्यामवभासते।'[23]

जैनदर्शन में भी प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या मिलती है जो कि काश्मीरशैवदर्शन के समकक्ष है। जैन भी प्रत्यभिज्ञा के दो स्वरूप बताते हैं- पहला, किसी वस्तु को उसके समस्त धर्मों के साथ जानना एवं दूसरा, 'यह वही वस्तु है' जिसे पहले जाना जा चुका है। दोनों वाक्य प्रत्यभिज्ञान को ही परिभाषित करते हैं। जैनदर्शन प्रत्यभिज्ञा को एक प्रमाण के रूप में स्वीकार करतें है। जैनदर्शन में प्रमाण के दो भेद हैं- पहला, प्रत्यक्ष, दूसरा, परोक्ष। परोक्ष प्रमाण के 5 भेद हैं-1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञा, 3. तर्क या ऊह, 4. अनुमान तथा , 5. आगम।[24]

जैन-दार्शनिकों के लौकिक ज्ञान के अन्तर्गत भी प्रत्यभिज्ञा का वर्णन किया गया है।[25] भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा निम्नलिखित रूपों में परिलक्षित होती है -

1. एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में,
2. अपरोक्ष अनुभूति के रूप में,

3. वस्तु के पूर्ण स्वरूप के अवबोधन के रूप में,

4. वाच्य और वाचक के मध्य ऐक्यानुभूति रूप में,

5. समानाधिकरण-प्रतीति के रूप में,

6. भात और भासमान के मध्य सादृश्य अनुभूति रूप में तथा

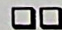
7. सविकल्पता एवं अन्योन्याभावादि के रूप में।

काश्मीरशैवदर्शन भी पहले, छठे और सातवें को छोड़कर अन्य मतों को स्वीकार कर लेता है। और शेष मतों का विवेचन करते हुए भी अपनी मौलिकता को बनाये रखता है। इससे प्रत्यभिज्ञा के क्षेत्र में विस्तार के साथ ही उसकी व्यावहारिक प्रक्रिया में भी नवीनता का दर्शन होता है तथा भूतकालिक और वर्तमानकालिक ज्ञान के एकीकरण की प्रक्रिया दिखाई देती है।[26]

सन्दर्भ

1. वाचस्पत्यम्, पृ. 446
2. प्रत्यभिपूर्वो जानाति - ई.प्र.वि.वि., भाग 1, पृ. 31
3. वहीं - 1/1/1, पृ. 12
4. वही, पृ. 12-13
5. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग 2, 3/2/4
6. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी- 1/1/1 की व्याख्या पृ. 12
7. वहीं, पृ. 14
8. पौरुषं पुनर्ज्ञानमुदितं सत् अन्यनिरपेक्षमेव मोक्षकारणम्।- तन्त्रालोकविवेक 1/24
9. प्रतिशब्दस्य प्रतीपमित्यर्थः। अभिशब्दस्याभिमुख्यम्। ज्ञा-शब्दस्य ज्ञानम्। तेन पूर्वज्ञानस्य मध्ये विस्मृतस्य पुनराभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति। यथा सोऽयं देवदत्तः। भा.भा. 1-पृ. 36
10. भास्करकण्ठ, चिन्तानुबोध, सम्पा. सुषमा पाण्डेय, वाराणसी, 1990- उद्धृत् 'कश्मीर-शिवाद्वयवाद की मूल आवधारणायें - डॉ. नवजीवन रस्तोगी, पृ. 177-178
11. इ.प्र.वि. (भा.) भाग 1/पृ. 36-37
12. भास्करी, भाग-1, पृ. 36
13. Dictionary of Philosophy, P. 265
14. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते न नानाश्रया प्रकृतिः। - सांख्यकारिका 62
15. साख्यकारिका-64
16. ई. प्र. वि. (भा.), भाग-2, पृ. 195-196
17. भा.भा.,1,पृ. 112
18. न्यायविन्दु, पृ. 46-47
19. शास्त्रदीपिका, पृ. 42
20. वाक्यपदीय, वाक्यकाण्ड, कारिका-128
21. भारतीयदर्शन, दत्ता व चटर्जी, पृ. 188
22. न्यायकोश, पृ. 543
23. न्यायमञ्जरी, पृ. 459
24. परोक्षमितरत्-प्रत्यक्षादिनिमित्तस्मृतिप्रत्यभिज्ञातर्कानुमानागमभेदः, परीक्षामुखसूत्रम्-3/1/2
25. भारतीय दर्शन, दत्ता एवं चटर्जी, पृ. 80
26. पूर्वदेशकालादियोगेन स्मर्यमाणतया वर्तमान-देश-कालादि-योगेन अनुभूयमानतया तद्द्वययोगेन प्रत्यभिज्ञामानतया.......। ई. प्र. वि. वि. भा. 148

● D2-227B/D, LDA Colony, Kanpur Road, Lucknow (U.P.)



The Indian And The Elizabethan Drama : A Critical Review By Henry W. Wells

Nirupama Tripathi
Anjana Trivedi

(आलेखेऽस्मिन् हेनरीद्वारा समीक्षितानां भारतीय-(संस्कृत)-नाटकानां पाश्चात्यनाटकानां च तुलनात्मकमध्ययनं प्रस्तूयते। भारतीयनाटकानां पात्राणि स्वकीयेऽदृष्टे भाग्ये वा विश्वस्य बहु किमपि सहन्ते किन्तु पाश्चात्यनाटकानां पात्रैः स्वस्वतन्त्रतायाः सम्पूर्णोपयोगः क्रियते। तत्र तदनुरूपं प्रतिकाराणि च विधीयन्ते। अत्रोदाहरणरूपेण कालिदासीयनाटकानि तथा शूद्रक-भवभूत्यादिभिर्विरचितानि नाटकानि विश्लेषितानि। अत्र पाश्चात्यनाटकेषु विशिष्य शेक्सपीयर-विरचितानां नाटकानामेव विश्लेषणं प्रस्तुतम्।)

There have been indirect influences of Indian philosophy on the Western world since time immemorial. But the latter 18th century witnessed a second spell of renaissance when the immortal works of Shakespeare enthralled the entire civilized humanity and the genius of Kālidāsa was discovered by the Western critics. *Śākuntalam* was translated into English in 1789 by Sir William Jones and since then it has been translated in many other European languages. Gradually the literature of the East and the West stood face to face for analytical perusal of the critics across the world.

We have a galaxy of Western critics who have ventured to dive deep into the spirit of Indian thought and literature such as Winternitz. A.A. Macdonell, A.B. Keith, Henry, W. Wells. Their approach of criticism is appreciated and applauded widely, strengthening the global understanding, unity and harmony.

This research paper is a humble effort to highlight the views of H.W. Wells on the Indian and Elizabethan drama (as discussed in his book : The Classical Drama), with special reference to the plays of Kālidāsa and Shakespeare. Henry W. Wells has minutely studied the dramatic craftsmanship of the East and the West and has drawn certain inferences regarding the similarities and divergences in the Sanskrit drama and the Elizabethan drama. H.W. Wells states that the affinities between the two determine the level of artistic perfection and the differences focus at the salient features of the two.

It is widely accepted that the Indian dramaturgy forbids tragedy on the stage. The stark realities of life are strictly restricted for the stage presentation:

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः।।[1]

विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो वाच्योऽधिकारिणः।[2]

This is so because the base of the Indian Drama is spiritual tranquility and idealism. Just as any evil cannot enter the church, in the same way in the Sanskrit drama the delineation of the wicked or evil action is prohibited. No wonder the tension and turmoil in the 'storm scene' of Shakespeare's King Lear shocks the Indian reader. The protagonist suffers but his sufferings are different from that of the Elizabethan protagonist. The hero in the Indian drama does not die either on the stage or off the stage although at times we witness some indirect references through symbols.

Unlike the Shakespearean drama, the Indian drama is replete with moral enthusiasm leading to slow and steady development of the action of the drama. At any cost the play ends in happiness although there are a few heart-breaking and tragic episodes also.

Wells states that some feel as suffocated while watching the Sanskrit drama as Neitzsche experienced while entering the church. There seems to be no outlet for the suppressed passions and emotions. On the other hand, Aristotle in his Poetics states that 'tragedy arouses the emotions of pity and fear and brings about the Catharsis of these emotions whereas in the Indian Drama the nature of catharsis or purgation of emotions is totally different. But we can argue here that the happy ending of the Sanskrit drama does not necessarily mean that there is no tragic element in it. Kālidāsa's *Śākuntalam* is full of tragic incidents. The departure of Śakuntalā from the hermitage, her separation from Duṣyanta are all the instances of it. In Bhavabhūti's *Uttararāmacarita*, Rāma's lamentations at the thought of S ītā is one of them:

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पुराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव।।[3]

रामः – कष्टं भोः, कष्टम्।

दलति हृदयं शोकोद्वेगा द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।।[4]

H.W. Well argues that the Indian drama comes closer to the Western tragic-comedy pattern. It lacks psychological insight or political wit and prudence intrigues or social criticism yet the religious moral and spiritual values are duly intact. The Indian drama which has its root in Bharata's *Nāṭyaśāstra* is more integrated, unified, leading to a happy ending, corresponding to the Indian philosophy of life. The

west is intolerant about other religions. This fanatic intent is reflected in social and spiritual crisis, preparing the ground for tragic vision of life.

The Western writers feel that the fundamental problems of life cannot be solved and this philosophy of life is reflected in the serious tragic drama. Macbeth in the final phase of his life realizes the futility of life and utters :

"Life's but a walking shadow....
It is tale
Told by an idiot, full of sound and fury.
Signifying nothing."[5]

Similarly Hamlet in the first act of the play is anguished and agonized with the happenings around him and he indulges in soliloquy:

".... How weary, stale, flat and unprofitable.
Seem to me all the uses of the world!
Fie on't ! O fie ! 'tis an unweeded garden
That grows to seed."[6]

Conflict is deeply engraved in the Western culture, whereas the East tends to compromise and adjust with the odd circumstances, aiming at harmony and tranquility in life. King Duṣyanta's action is governed by his fate not by his free will. Had it not been so, he would not have left behind Śakuntalā in the hermitage after the *'Gandharva-Vivāha'*. Like Duṣyanta, Rāma in *Uttararāmacaritam* renounced his wife Sīt*ā* under the pressure of circumstances, beyond his control.

राम: तत्किमत्र मन्दभाग्य: करोमि ? (विमृश्य, सकरुणम्) अथवा किमन्यत्।
सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं परम्।
तत्प्रतीतं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुञ्चता।।[7]
सम्प्रत्येव च भगवता वसिष्ठेन संदिष्टम्। अपि च,
यत्सावित्रैर्दीपितं भूमिपालैर्लोकश्रेष्ठैः साधु चित्रं चरित्रम्।
मत्संबन्धात्कश्मला किंवदन्ती स्याच्चेदस्मिन्हन्त धिङ्मामधन्यम्।।[8]

Conflict in Hamlet is reflected through his soliloquies. His state of "to be or not to be" hunting at his hamartia, ultimately leads to his delay of action hurling him to final doom and damnation.

Ophelia, Śakuntalā and Sītā are the victims of ill fate, but they exhibit contrasting line of action and level of tolerance as is depicted through the following examples:

शकुन्तला - उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रे मयि विरसः संवृत्तः।[9]

सीता - .... हा धिक् हा धिक्, मां मन्दभागिनीं व्याहृत्यामीलितनेत्रनीलोत्पलो मूर्छित एव। हा, कथं धारणीपृष्ठे निरुद्धनिःश्वासनिःसहं विपर्यस्तः? भगवति तमसे, परित्रायस्व परित्रायस्व, जीवयार्यपुत्रम्।[10]

On the other hand, Ophelia loses control overself to see the mentally deranged condition of Hamlet upsets Ophelia and she utters in deep anguish :

O, what a noble mind is here o'erthrown![11]

The heart-breaking news of the death of her father further deepens her shock, shattering her tolerance and patience:

And will he not come again?
And will he not come again?[12]

And like a defeated and depressed character she embraces death by drowning.

H.W. Wells feels that due to the limited knowledge about the Sanskrit drama, the Western critics fail to note that the Indian drama also gives importance to conflict but the difference lies in its treatment, appreciation and impact on the audience. "In Kālidāsa, the tension between emotional responses and socially ordained behaviour becomes the major theme. He is not advocating unrestrained passion but passion tempered by duty and duty brought alive by passion.... Once the balance of these vital forces is restored, the king can recognize Śakuntalā as his wife and the great mother of a son who will turn the wheel of empire."[13]

Hamlet loves and hates his mother. Brutus loves and hates Caesar. Lear loves and hates Cordelia. Macbeth loves Duncan but is ready to murder him for fulfilling his 'vaulting ambitions'. Othello loves Desdemona but hates also. In fact the action of the drama develops on the basis of this conversion of love into hatred.

The Western Drama leans towards the side of conflict with the conviction that it lies at the core of human perception and realization and hence it gives importance to excitement and clash between opposite powers. It uses conflict and tension, but the East tries to pacify the tension and turmoil. The Eastern drama is more emotional and is closer to the soul of music. It indicates the consequences of action and the Elizabethan drama emphasizes action.

Henry Wells holds the view that the Western dramatist is like a commander of the army who inspires and instills courage and vigour amongst his comrades and the Indian dramatist is like a synthesizer who assimilates all the conflict and tension around just to give it the form of a pleasing drama. The West uses free will power i.e. the protagonist feels free to act, whereas in the Indian drama, the protagonist fails to enjoy the freedom of action. He acts under the circumstances and pressure beyond his control and hence like the Greek drama, destiny shapes his character. Śakuntalā, for instance, forgetting the bitter experiences or the past, accepting her destiny, willingly renews the terms with Duṣyanta.

बालः – मातः! एष कोऽपि पुरुषो मां पुत्र इत्यालिङ्गति।

राजा – प्रिये! क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुद्रमनुकूलपरिणामं संवृत्तं यदहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि।

शकुन्तला – (आत्मगतम्), हृदय समाश्वसिहि। समाश्वसिहि।
परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि दैवेन। आर्यपुत्रः खल्वेषः।[14]

The protagonist of the Indian drama accepts his fate peacefully. In *Mṛcchakaṭikam*

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत्।।[15]

On the other hand in the Shakespearean drama 'character is destiny'. The protagonist remains reluctant to surrender to his fate.

"I will not yield,
To kiss the ground before young Malcolm's feet ....
Yet I will try the last."[16]

Thus, the Shakespearean protagonists enjoy complete freedom of action.

King Lear loses self control and reacts quite unlike Cārudatta's calm and composed gesture:

Blow, winds, cracks your cheeks! sage! blow!
You cataracts, hurricanoes ...
Then let fall
Your horrible pleasure; here I stand, your slave,
A poor, infirm, weak and despised old man. [17]

As far as the philosophy of life is concerned, Wells finds Shakespeare's King Lear standing in sharp contrast with Sanskrit drama, Abhijñānaśākuntalam which is like fresh day light, Lear is like mid-night storm.

What a pathetic image of Lear holding dead Cordelia in his arm!

Lear : *Howl! howl! howl! howl! O, you are men stone:*
Had I your tongues and eyes, I'ld use them so
That heaven's vault should crack. She's gone for ever![18]

We can notice a sharp contrast in the gesture of Lear, with Cordelia in his arms and that of Duṣyanta embracing his son for the first time. In the former the hope is completely shattered and in the latter it is renewed. One depicts the climax of agony and bereavement while fighting against the evil forces and other shows the sanctity of life suppressing the mean and wicked, brutal and cruel intentions of mankind. One highlights the desire to fight against the evil forces and heavy odds and the other represents the inner power to rise above such hurdles.

Wells states that in a standard drama, there is an assimilation of different features. For example in Shakespeare's Hamlet, we find the use of prose and poetry, characters chosen from different ranks of life, dumb show, and play within the play. In this respect Wells compares śūdraka's *Mṛcchakaṭikam* with the Elizabethan drama.

Like Shakespeare, in the Indian drama too, there is the use of soliloquy, aside mimicry, background dance and music. The events which have already happened off the stage, are described by minor characters in the *Viṣkambhaka*. Gloster, Kent, Admund, indulge in meaningless conversation hinting at the mental state of the King Lear and this prepares the background for the coming action of the drama. The climax is different in the Elizabethan and Indian drama. In the

Eastern drama there are many points of climax which create different emotions and sentiments (although the sentiment or *rasa* of pathos dominates throughout the drama) and in the Western drama there is single point of climax inducing a turning point in the direction of the plot. The turning point in *Uttararāmacaritama* is introduced at the very onset of the play when Rāma, with his beloved Sīta in his arms, is making love to her and admiring her grace and charm and he remarks : 'he loves everything in her except her bereavement'. The moment, he utters the word 'bereavement' there enters the porter with the following message :

प्रतिहारी – देव, उपस्थितः।

रामः – अयि, कः ?[19]

H. W. Wells has pointed out the instances of parallelism and contrast in the role of fool or Viduṣaka in the English and Indian Drama. In the Indian drama the Viduṣaka is a religious man and not an evil-doer. He is a faithful follower of the king.

The concept of Villain in the Indian Drama is different from that of the Elizabethan drama. Rāvaṇa who kidnaps Sītā, is in fact a virtuous, learned figure and cannot be at all compared with the treachery and wickedness of villain like Iago who hurls the tragic catastrophe due to his evil designs and conspiracy. "I'am not what I am".[20] Kaikeyī, the step mother of Rāma who sends him to exile for fourteen years is no doubt wicked and mean but even she is absolved from the charge of sinful instrict. Wells finds that her role is different from that of Lady Macbeth. But I assess both of them in somewhat the same level. Lady Macbeth provokes and instills Macbeth for the murder of Duncan. Her intention is to help her husband fulfill his long cherished ambition i.e. to become the thane of Scotland. She has no personal or selfish intent like that of her husband who utters:

"I have no spur,
To prick the sides of my intent.
But only vaulting ambition."[21]

In the same way Kaikeyī compels Daśaratha to exile Rāma just because she wants to see Bharata as the king of *Ayodhyā*. But the end meted out to both is different.

The character of Durvāsā, whose curse on Śakuntalā made her suffer the bereavement, is delineated as a noble person and Sage, quickly prone to anger and when the victims pray, he reduces the intensity of his curse :

ततो न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते।[22]

Śakuntalā fails to heed the voice of the Ṛṣi, she loses the ring a number of tragic events that follows : for all this, we cannot hold Śakuntalā responsible, rather it is destiny working against her which leads her to dire consequence.

The Western drama highlights the sufferings of the tragic hero, caused by hamartia but the Indian drama does not at all expose the power of the sin. It tries to prove that man

can elevate himself morally and spiritually by reflection and meditation.

The East and West might appear opposite to each other to some extent. But this does not mean that one contradict the other. One is like inhaling air and other is exhaling air. One induces strain in the muscles and the other releases it. Thus, the Indian drama and the Elizabethan drama represent two contradictory aspect of the fundamental humanity.

Both show difference in philosophical, religious and moral values yet they touch the root of elemental passion and emotions. In the end Henry W. Wells remarks that there is astonishing similarity in Shakespeare and Kālidāsa. Both of them are complementary to each other, not opponents.

References :

1. दशरूपकम्, 1.57
2. साहित्यदर्पणः, 6.63
3. उत्तररामचरितम्, 2.26
4. Ibid, 3.31
5. Macbeth, Act V, Scene V.
6. Hamlet, Act I, Scene II.
7. उत्तररामचरितम्, 1.41
8. Ibid, 1.42
9. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7th act
10. उत्तररामचरितम्, 3rd act
11. Hamlet, Act III, Scene I
12. Hamlet, Act IV, Scene V
13. Miller, Barbara Stoler, (ed.) The Plays of Kālidāsa Theatre of Memory, Motilal Banarasi Das Publishers, Pvt. Ltd., Delhi 1999.
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7th act
15. मृच्छकटिकम्, 10.27
16. Macbeth, Act V, Scene VIII
17. Kind Lear, Act III, Scene II
18. Kind Lear, Act V, Scene III
19. उत्तररामचरितम्, 1st act
20. Othello, Act I, Scene I.
21. Macbeth, Act I, Scene VII.
22. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4th act

● **1. Deptt. of Sanskrit, K.V.M.P.G. College, Swarup Nagar, Kanpur**
2. Deptt. of English, K.V.M.P.G. College, Swarup Nagar, Kanpur

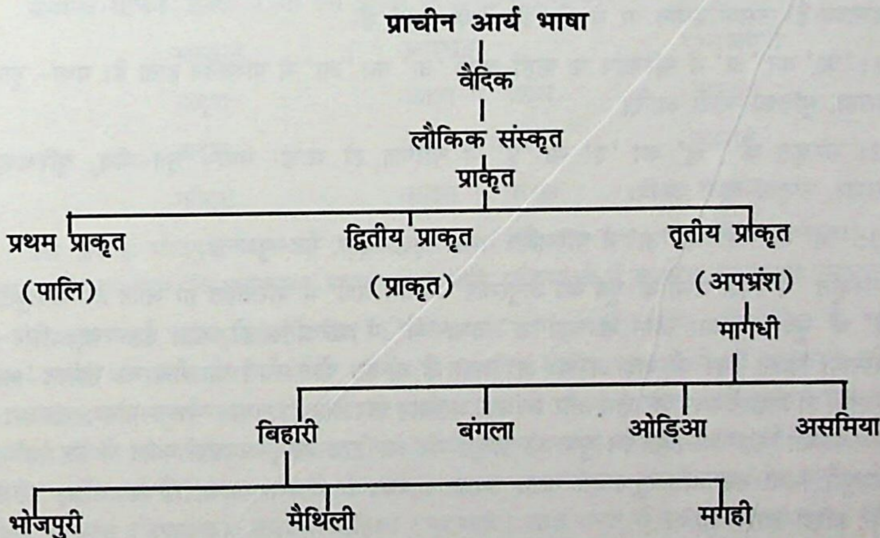


संस्कृत-भाषा का भोजपुरी पर शाब्दिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव

सविता ओझा

(The paper deals with linguistic, literary and cultural impact of Sanskrit language on Bhojapuri language. In the beginning, chronology of Bhojapuri language is given, such as how it gradually developes from Sanskrit language. Several examples are given to show the linguistic as well as cultural impact of Sanskrit on Bhojapuri.)

संस्कृत-भाषा नयी से नयी और पुरानी से पुरानी है (पुराणी देवी युवती पुरन्ध्री)। यह भाषा अपनी प्रायोगिक काल-सीमा से आगे भी साहित्य एवं धर्म की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही है। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा, वैदिक एवं लौकिक संस्कृत इन दो रूपों में परिलक्षित होती है। इनका ही साहित्यिक वर्चस्व रहा है। जब संस्कृत, अभिजात्य भाषा की श्रेणी में आने लगी तब जनभाषा के रूप में 'प्राकृत' का अभ्युदय हुआ। इस प्राकृत से लोक में सम्पर्क भाषा के रूप में सर्वप्रथम पालि, द्वितीय चरण में प्रतिष्ठित भाषा साहित्यिक प्राकृत तथा तृतीय चरण में प्रतिष्ठित भाषा अपभ्रंश कहलायी। इस अपभ्रंश भाषा से मागधी तथा मागधी से बिहारी, बंगाली, ओड़िआ, एवं असमिया चार भाषाएँ विकसित हुईं। भोजपुरी भाषा इसी बिहारी भाषा के अन्तर्गत आने वाली भाषा है। इसे इस प्रकार से भी देखा जा सकता है-



अपने साथ की अन्य भाषाओं मैथिली, बंगला, ओड़िआ आदि के समान यद्यपि भोजपुरी भाषा का उतना समृद्ध साहित्य नहीं रहा तथापि इसे बोलने वाले और इससे अनुराग रखने वालों की संख्या बहुतायत है। लगभग 4300 वर्गमील तक बोली जाने वाली इस भाषा का प्रारम्भिक रूप 700 ई. तक हो चुका था किन्तु लिखित साहित्य में इसका अधिकाधिक प्रयोग नहीं हो सका। पं. उदयनारायण तिवारी के अनुसार 'प्राचीन काल में जहाँ मिथिला तथा बंगाल के ब्राह्मणों ने संस्कृत के साथ-साथ अपनी मातृभाषाओं को भी साहित्यिक रचना के लिए अपनाया वहीं भोजपुरी ब्राह्मणों ने केवल संस्कृत-अध्ययन-अध्यापन पर ही विशेष बल दिया'[1]। इस लोकभाषा का लिखित साहित्य भले ही अधिकाधिक न हो तथापि इस क्षेत्र में स्त्रियों ने इस भाषा के साहित्य और संस्कृति को उत्कृष्टता प्रदान की है जो आज भी इस भाषा में उपलब्ध है। यह संस्कृत की भाषा और उसमें उपलब्ध संस्कृति से प्रभावित दिखाई देती है।

संस्कृत-भाषा के शब्द प्राकृत अपभ्रंशादि से होते हुए भोजपुरी भाषा तक पहुँचने में कुछ ध्वन्यर्थक परिवर्तन, जैसे कहीं विकृतिकरण, कहीं आगम तो कहीं सरलीकरण हुए। 'संस्कृत-शब्दों का विकृतिकरण या सरलीकरण और विकृत शब्दों का संस्कृतीकरण निरन्तर चलता रहता है।'[2] इस भाषा में कई ऐसे शब्द विद्यमान हैं जो अपभ्रंश, मागधी में प्रयुक्त संस्कृत के परिवर्तित शब्द हैं। संस्कृत-भाषा जिस प्रकार मधुरता से परिपूर्ण है उसी प्रकार आदर्श भोजपुरी भाषा में भी माधुर्य तथा लोच विद्यमान है। 'आदर्श भोजपुरी अपनी अन्य बोलियों की अपेक्षा श्रुतिमधुर है।'[3] इस भाषा में कई तद्भव शब्द प्रयुक्त होते हैं जो संस्कृत से प्राकृतों द्वारा इसमें आये। संस्कृत के तत्सम शब्द या यत्किंचित् परिवर्तित रूप इसमें विद्यमान हैं। संस्कृत-भाषा का शाब्दिक प्रभाव भोजपुरी भाषा पर है ही, साथ ही सांस्कृतिक प्रभाव भी इस आधुनिक आर्य भाषा पर द्रष्टव्य है।

संस्कृत-भाषा का शाब्दिक प्रभाव : भोजपुरी भाषा में संस्कृत के शाब्दिक प्रभावों पर दृष्टि डालें तो देखते हैं कि कई वर्णों, मात्राओं का लोप हुआ तो कई नये उपसर्गों, प्रत्ययों का आगम हुआ। संस्कृत-भाषा के 'ऋ' का परिवर्तन तो कई स्थानों पर अन्त्य एवं आभ्यन्तर अनुस्वार में परिवर्तन के रूप में आया है। संस्कृत-व्याकरण के 'ऋ' की गणना स्वरों के रूप में होती है। भोजपुरी की 'कैथी-लिपि' में इस 'ऋ' का अभाव द्रष्टव्य है। उसके स्थान पर ये तीन स्थितियाँ बनती हैं-

1: 'ऋ' का 'अ' में परिवर्तन या कहीं-कहीं 'अ' का 'आ' में परिवर्तन होता है। यथा- नृत्य-नाच्, वृषभ-बसहा, मृत्तिका--माटी आदि।

2: संस्कृत के 'ऋ' का 'इ' या 'ई' में परिणत हो जाना। यथा- घृत-घीव्, वृश्चिक्-बीछी, शृगाल-सियार, नप्तृक-नाती आदि।

3: 'ऋ' की 'उ' या 'ऊ' में परिणति। यथा- वृद्ध-बूढ़ा, मृत-मुअल्।

संस्कृत में स्पर्श वर्णों के पूर्व का अनुस्वार 'पञ्चम वर्ण' में परिवर्तित हो जाता है। भोजपुरी में 'ह' तथा 'व' के पूर्व अनुस्वार आने से यह 'ङ' तथा 'म' में परिवर्तित हो जाता है। यथा- सिंह-सिङ्ह, संवाद-समाद। किसी स्वर के बाद अन्त्य 'अ' आता है तो इन दोंनो स्वरों के बीच का व्यंजन 'अन्त्य अ' के साथ लुप्त हो पिछले स्वर को दीर्घ और अधिक बलवान् कर देता है। यथा- गोरूप-गोरू, वत्सरूप-बछरू। संस्कृत-भाषा का 'आ' मध्यकालीन युग की प्राकृत में 'आ' रहा परन्तु अपभ्रंश काल में वह 'अँ' हो गया और भोजपुरी भाषा तक वह लुप्त हो गया। उदाहरण स्वरूप- लज्जा-लाज, सन्ध्या-साँझ, परीक्षा-परख (परिख्), हरिद्रा-हरदि आदि।

इस लोक-भाषा में संयुक्ताक्षरों का प्राय: अभाव परिलक्षित होता है। यथा- पङ्क-पाँक, पङ्क्ति-पाँति, अङ्कुष-आँकुस्, खण्ड (खाँड़ा)। यहाँ वर्णीय अनुनासिक के पूर्व अघोष स्पर्श तथा महाप्राण 'प,अ,ख आदि) वर्ण दीर्घ होकर स्वर में अनुनासिक युक्त हो गये हैं एवं स्पर्श तथा महाप्राण उसी रूप में रह गये। इसी सन्दर्भ में ओष्ठ्य, स्पर्श तथा महाप्राण वर्णों में भी परिवर्तन हुआ दिखता है- लम्ब-लाम्, ब्राह्मण-बाम्भण/बाम्हन्, कुम्भकार:-कोंहार आदि। दन्त्य, घोष, स्पर्श तथा महाप्राण वर्णों में इस प्रकार के परिवर्तन द्रष्टव्य हैं - चन्द्र-चान्, इन्द्रागार-इनार, बिन्दु-बूनी, सिन्दुर-सेनुर् आदि। इसके अतिरिक्त अञ्जली या अञ्जुली-(अँजुरी), पञ्जर-(पाँजर), खण्ड-गृह-(खँड़हर) आदि शब्दों में तालव्य घोष तथा मूर्धन्य स्पर्श एवं महाप्राण वर्णों में संस्कृत का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है।

भोजपुरी भाषा में स्वरभक्ति तथा विप्रकर्ष के कई उदाहरण दृष्ट हैं जिनमें उच्चारण-सौकर्य के लिए स्वर का आगम हो जाता है यथा- धर्म (धरम), गर्भ (गरभ), यन्त्र (जन्तर), नक्षत्र (नछत्तर)। उसी प्रकार 'इ' 'उ' के उदाहरण- वर्ष (बरिस), श्रीमान् (सिरिमान), द्वार (दुआर), मुक्ति (मुकुति), मूर्ख (मुरख, मुरुख), शुक्ल (सुकुल्) आदि। इन दृष्टान्तों से यह भी स्पष्ट है कि संस्कृत के श, ष, स के स्थान पर अपभ्रंश की भांति इस भाषा में भी 'स' का प्रचलन अधिक है (साँवर, सुकुल्, सिरिमान आदि)।

भोजपुरी स्वरों (अ, आ, उ आदि) की उत्पत्ति संस्कृत 'अच्' से ही हुई है। यथा - नक्षत्र (नछत्तर), प्रहर (पहर) में 'अ' की उत्पत्ति तो मुकुट् (मउर) में 'उ' की एवं पितृ (पितर), गृह (घर), में 'ऋ' की उत्पत्ति स्पष्टतया लक्षित है। संयुक्त वर्णों के पूर्व 'इ' से भोजपुरी में 'ई' की परम्परा दिखती है-पिष्टक (पीठा), जिह्वा (जीभि), भ्रातृजा (भतीजा) आदि। संस्कृत का 'र्' मागधी में 'ल्' हुआ पुन: भोजपुरी में 'र्' (राज्ञ: < लाआणो < राजा) हो गया। इस भाषा में वर्णविपर्यय के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं- गृह (गर्ह-गिरिहि-घर), भगिनि (बहिनि या बहिना), लघुक् (हलुक्क, हलुक्) आदि। इसके अतिरिक्त ध्वनि-लोप की स्थिति भी देखी जा सकती है, यथा- नख हरनिका (नहर्नी)। संस्कृत ङ् एवं ञ् ध्वनियों का अपभ्रंश में प्रयोग नगण्य है परन्तु भोजपुरी में इसके प्रयोग आज भी सुरक्षित हैं (आङ्न,जाङ्घ आदि)।

सम्बन्ध-वाचक शब्दों में भी इस प्रकार के दृष्टान्त द्रष्टव्य हैं -

संस्कृत	अपभ्रंश	भोजपुरी
यादृश	जाइस < जइस	जइसन
तादृश	ताइस <तइस	तइसन
कीदृश	काइस < कइस	कइसन

इस प्रकार भोजपुरी भाषा में महाप्राणीकरण (सर्व-सब-सभ, महाभारत-महाभारथ), घोषीकरण (सगुन), लोप, आगम, विकृतीकरण, सरलीकरण आदि प्रक्रियाओं में संस्कृत का प्रभाव स्पष्टतया दृष्ट है।

संस्कृत का सांस्कृतिक प्रभाव : जिसप्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ संस्कृत-शास्त्रों के प्रतिपाद्य रहे वैसे ही संस्कृत से प्रभावित क्षेत्रीय भाषाओं में भी अनुकरण दृष्टिगत होता है। जब भी हम संस्कृत-भाषा का किसी भी क्षेत्रीय भाषा में प्रभाव खोजना चाहें तो हमें यह कार्य सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में करना होगा। अर्थात् खण्ड-खण्ड में इस प्रभाव को देखना उचित होगा। जैसा कि हम जानते हैं कि जनसामान्य से संस्कृत का सम्बन्ध आचार (धार्मशास्त्र और स्मृति) एवं संस्कार धार्मिक आचरण (उपासना), उपदेश-साहित्य (पुराणादि) तथा अन्त में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत अधिक बना। इनका जनमानस में प्रयोग अधिकांशत: कथा के रूप में जनसामान्य में संक्रमण हुआ इनमें

से कुछ का व्यक्तित्व विकास के लिए कुछ का चित्रात्मक रूप में (पूर्व चिन्तन एवं कल्पना के आधार पर सोचे जा सकने वाले स्वर्गादि की दृश्यात्मक परिकल्पना आदि) प्रसार हुआ। कदाचित् यही कारण है कि संस्कृत-वाङ्मय में आध्यात्मिक संस्कृति के विकास पर बल दिया गया जो कि परवर्ती संस्कृत-साहित्य में भी चलता रहा। वाङ्मय और साहित्य की इस यात्रा के समानान्तर जन-जीवन के साथ-साथ समग्र संस्कृत-वाङ्मय का सारतत्त्व संस्कृत में और इससे हुई अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में विद्वानों, कवियों के द्वारा लाया जाता रहा। यही कारण है कि वेदों से लेकर महाकाव्य काल तक की जो संस्कृति वर्णित रही वही सब आज तक इन भाषाओं का प्राणतत्त्व बनी हुई हैं। राम-कृष्ण, शिव-पार्वती प्रभृति के सन्दर्भ में विकसित जीवन-मूल्यों का प्रभाव आज भी इन क्षेत्रीय भाषाओं की धारोहर है। बल्लालसेन विरचित भोजप्रबन्ध का यहाँ उल्लेख किया जाना प्रासङ्गिक होगा जिसमें समाज का हर वर्ग संस्कृत बोलता दिखाई देता है। यद्यपि प्राचीनकाल में स्त्री आदि के संस्कृत बोलने पर संदेह है। जैसे कि संस्कृत-नाटकों में उल्लेख मिलते हैं। यह एक अलग शोध का विषय हो सकता है किन्तु इसका यहाँ संकेत मात्र किया जा रहा है, क्योंकि यह एक ऐसा प्रमाण है जो संस्कृत न बोलने पर भी संस्कृत की सारी विशेषताओं, उसमें वर्णित गुणों, उपदेशों तथा संस्कृति का पूर्णरूपेण पालन करने वाला वर्ग इन्हीं असंस्कृतभाषी स्त्री आदि का ही है। वर्तमान में भी यही वर्ग संस्कृति को जीवित रखने में जिम्मेदार है। जैसा की हम देखते हैं, आज के इस अत्याधुनिक युग में भी शिक्षित, उच्चपदस्थ, सर्वाधिकार सम्पन्न भारतीय स्त्री अपने सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों का (संस्कारादि) निर्वहन उसी परम्परागत ढंग से कर रही है। ऐसी स्थिति में क्षेत्रीय भाषाओं में संस्कृत में वर्णित संस्कृति जो कि शास्त्रीय नियमों के साथ रही है, आरम्भ से ही क्षेत्रीय भाषाओं में चलती आ रही है। भोजपुरी भाषा इस परम्परा का सशक्त उदाहरण है, क्योंकि भोजपुरी-भाषी क्षेत्र का जनमानस अपेक्षाकृत भावना-प्रधान है, जो कि मानवीय सम्बन्धों को जीवित रखने में अधिक सचेष्ट दिखाई देता है। इसी से हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी जनभाषा रही संस्कृत से भोजपुरी भाषा की संस्कृति प्रभावित रही है। किसी भी भाषा का उसकी संस्कृति से गहरा सम्बन्ध होता है। जिस भाषा की यात्रा संस्कृत से सम्पृक्त होकर प्राकृतों से होती हुई भोजपुरी तक पहुँची वहाँ उसकी संस्कृति भी उस भाषा की सहगामी रही। इसके प्रमाण आज भी विद्यमान है। भोजपुरी भाषा का क्षेत्र बिहार (भोजपुर, बक्सर, रोहतास, छपरा, सिवान, गोपालगंज, चम्पारण आदि) एवं उत्तरप्रदेश (बलिया, देवरिया, गाजीपुर, वाराणसी, गोरखपुर आदि) रहा है। भोजपुरी संस्कृति की स्त्रियों ने अपनी दिनचर्या में लौकिक संस्कृति को जीवन्त बनाये रखा है। ग्रामीण परिवेश में स्त्रियाँ अन्न पीसने का कार्य 'जाँत' या 'जाँता' से करतीं हैं। इस क्रम में वियोगिनी छन्द में उनके द्वारा गीत गाया जाता है, जिसे 'जँतसार' कहा जाता है। 'जँतसार' में गाये जाने वाले उन गीतों की ध्वनि और 'जाँत' से निकली घर्घर की ध्वनि में इतनी तारतम्यता होती है कि पिसे अन्न की खुशबू और ध्वनि दोनों ही रोमाञ्चित करती हैं। परम विद्वान् जगन्नाथ पाठक 'नैषधीयचरितम्' के द्वितीय सर्ग के इस श्लोक में आये 'घरट्ट' शब्द को इसी जँतसार से सम्बद्ध मानते हैं।[4]

हमारी संस्कृति में षोडश संस्कारों की परिगणना हुई है। अन्य संस्कृतियों की तरह ही भोजपुरी में भी इनमें से कई संस्कारों का प्रचलन या तो न्यून है या लुप्त हो गया है तथापि नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि संस्कार जीवन्त हैं। 'चरक -संहिता' में मुण्डन को पुष्टि, वृष्यता, आयु, स्वच्छता एवं सौन्दर्य का वर्धक माना गया है।[5] इस संस्कार में शिशु के तीसरे या पाँचवे वर्ष में मुण्डन संस्कार कराया जाता है। उसी प्रकार से उपनयन संस्कार भी इस संस्कृति का एक अंग है। इसके अन्तर्गत एक विधि ऐसी है जिसमें बालक अपनी माता के साथ एक ही पात्र में (चूड़ा-दही या चावल-दही) भोजन करता है। यह इस बात का प्रतीक है कि उस बालक का अनियमित बचपन बीत गया है और उसे अब नियमित और

अनुशासित जीवन व्यतीत करना है। इसके अतिरिक्त विवाह-संस्कार में भी प्राचीन वैदिक संस्कृति का निर्वहण प्रदर्शित होता है। इसमें एक विधि 'लावा मेराई' की होती है, जिसमें वर एवं कन्यापक्ष के धान के लावे को वैवाहिक संस्कार के समय मण्डप में मिश्रित कर वर-वधू द्वारा विधान सम्पन्न कराया जाता है। लावा शब्द संस्कृत के 'लाजा' 'भुना धान' का ही परिवर्तित रूप है। जिसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार अत्यधिक सन्तप्त बालुका में भूने जाने पर भी लाजा छिलके से संयुक्त रहता है, उसी प्रकार पति-पत्नी भी कितनी भी विषम परिस्थिति क्यों न हो एक-दूसरे से वियुक्त न हों।

भोजपुरी में कहावतों, लोकोक्तियों का एक वृहद् संसार है। संस्कृत में जो स्थान अन्योपदेश या अप्रस्तुत प्रशंसा, उपमा-ध्वनि या सूक्तियों का है, वही भोजपुरी में कहावतों या मुहावरों का है। 'संस्कृत आलंकारिकों के मत से जिसे उपमा ध्वनि अप्रस्तुत प्रशंसा अथवा व्याजस्तुति कहते हैं। प्रवाद (कहावत) में उसी प्रकार का संकेत सन्निहित रहता है।'[6] कहावतों में लोकमानस सीधे प्रतिबिम्बित होता है। सामान्य जन की सांसारिक जय-यात्रा में ये मुहावरे सबलता प्रदान करते हैं। भोजपुरी भाषा में कई कहावतें संस्कृत का अनुकरण करती प्रतीत होती हैं। यथा – जमाता की स्वाभाविक वक्रता के पक्ष में संस्कृत में कहा गया है– *'कन्याराशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः।'* भोजपुरी में इसे इस प्रकार से कहा गया है–

'दामाद कतनो सोझ होइहे।
बाकिर कुकुर के पोंछि आतना टेढ जरूर होइहें।'

लोक में घटने वाली घटना या सम्बन्धों के आधार पर ही कहावतों का सृजन हुआ। भार्या या पत्नी के विषय में कहा गया है कि पत्नी वही सुख देती है जो सच्चरित्र तथा नेक स्वभाव वाली हो अन्यथा कर्कशा स्त्री तो जीवन को कण्टकमय बना देती है– *सुख के नीनि कवन सोये, जेकर तिरिया छुलछन होय।* यहाँ तिरिया का अर्थ पत्नी (स्त्री) है। मनुस्मृति [7] में ऐसा ही कहा गया है– 'सन्तुष्टो भार्यया भर्ता। लोक-प्रचलित रहा है कि नापित अत्यन्त चालाक एवं धूर्तप्रवृत्ति का होता है। भोजपुरी में यह कहावत प्रचलित है–'आदिमी में नउआ पंछी में कउआ।' संस्कृत भाषा में प्राचीन प्रसिद्धि है– *'नराणां नापितो धूर्तः पक्षिणां चैव वायसः'।* चाणक्यनीति के इस नीतिवाक्य का ही रूपान्तरण उक्त कहावत में दृष्टिगत होता है। निर्धनता, निर्बलता समाज में निकृष्टता की श्रेणी में आते हैं। इसका दृष्टान्त संस्कृत एवं भोजपुरी दोनों में ही इस प्रकार द्रष्टव्य है–

'कष्टं निर्धनिकस्य जीवितमहो दारैरपि त्यज्यते' तथा *दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी* [8] भोजपुरी में इसी बात को लक्ष्य कर इस प्रकार कहा गया है–

'गरिबनी के छउड़ी के बतवो मोहाल बा' तथा
'अबरा के मौगी सबकर भौजी।'

समाज की रीति-नीति के सन्दर्भ में उक्त है–*'जइसन देखी गाँव के रीति, ओइसन उठाई आपन भीति।'* *तुलनीय– 'यथा देवता तथा पूजा।'* इसी आशय की एक कहावत है– *'जइसन करनी ओइसन भरनी'*। यह संस्कृत के इस सूक्ति से साम्यता रखने वाला है–

'यो यद्वपति बीजं हि लभते सोऽपि तत्फलम्।'

प्राचीन संस्कृति की ही मान्यता है– 'पुंनाम्नः नरकात् त्रायते इति पुत्रः'। इसी उद्देश्य से सपूत की कामना की जाती है– *'सई कपूत से एके सपूत अच्छा'*। तुलनीय *'वरमेको गुणीपुत्रो न च मूर्खशतान्यपि'* तथा *'कुपुत्रेण कुलं नष्टम्'*। इसी प्रकार– *'भँइस का आगा बीन बजावे भँइस रहल पगुराए'* यह कहावत संस्कृत

के इस सूक्ति से समता रखने वाला है-*'किं मिष्टान्नं खरशूकरणाम्।'* ऐसे कई कहावत या प्रवाद हैं जो संस्कृत में स्थित सूक्तियों के भाव को ही स्पष्ट करते हैं। जो संस्कृति-सारूप्य का ही परिणाम है।

इस प्रकार से भोजपुरी भाषा का शब्दसंसार हो या संस्कृति की परिपाटी, सभी पर संस्कृत-भाषा प्रभावशाली रूप में व्याप्त है। इसकी व्यापकता कहीं इस लोकभाषा के मूल में तो कहीं कुछ परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होती है। जनभाषा संस्कृत जब प्राकृत, अपभ्रंश, मागधी से होती हुई भोजपुरी तक पहुँची तब इसमें अक्खड़पन के साथ-साथ माधुर्य एवं लोच दोनों ही आया। यह कहा जा सकता है कि इस भाषा को माधुर्य संस्कृत-भाषा से ही प्राप्त हुई। भोजपुरी शब्दों में तद्‌भव शब्दों की अधिकता, शब्दों का विकृतीकरण या सरलीकरण विपर्यय आगम-लोप आदि सभी संस्कृत के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। भोजपुरी की लोक-संस्कृति, उसके मुहावरे लोकोक्तियाँ सभी प्राचीन आर्य भाषा एवं संस्कृति अर्थात् संस्कृत का ही अवगाहन एवं अनुसरण करती प्रतीत होती हैं।

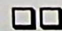
सन्दर्भ

1. भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ. सं. 9
2. भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र, पृ.सं. 465
3. भो.भा. और साहित्य, पृ.सं. 11
4. प्रतिहट्टपथे धारट्टजात् पथिकाह्वानदसक्तुसौरिभैः।
   कलहान्न धनान् यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः। (नैषधीयचरितम् 2.85)
5. पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
   केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम् (चरकसंहिता 5.93)
6. भोजपुरी कहावतें : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ.सं. 38
7. मनुस्मृति 3.7
8. वृहद् अनुवाद-चन्द्रिका, पृ.सं.-503
9. वहीं, पृ.सं. 500

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

1. मनुस्मृति, डॉ. राम निहोर पाण्डेय, प्राच्य विद्या संस्थान, इलाहाबाद, प्र.सं. 2003
2. भोजपुरी भाषा और साहित्य, उदयनारायण तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1954
3. बृहद् अनुवाद-चन्द्रिका, चक्रधार नौटियाल 'हंस' शास्त्री, मेतीलाल बनारसी दास, प्र.सं. 1962
4. हिन्दी-भाषा का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, डॉ. रामकिशोर शर्मा, श्यामा प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद, 2006
5. भोजपुरी कहावतें : एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. सत्यदेव ओझा 190, रोड डी, सोनारी वेस्ट, जंमसेदपुर
6. प्राचीन भारतीय संस्कृति, डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002
7. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, द्वि.सं. 1986
8. नैषधीयचरितम्, देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2002

● **संस्कृत विभाग, नेहरु ग्रामभारती विश्वविद्यालय, जमुनीपुर कोटवा, इलाहाबाद (उ.प्र.)**



The Ṛgvedic Concept of Creation and Modern Science

Manoj Kumar Mishra

(सृष्टि-निर्माण-प्रसङ्गे ऋग्वेदस्य तथा आधुनिकविज्ञानस्य च कीदृशो विचारः इत्यस्मिन् विषये लेखेऽस्मिन् चर्चा वर्तते। सृष्टि-विकासस्य या प्रक्रिया डार्विनेन निर्दिष्टा सा स्पष्ट-रूपेण ऋग्वेदस्य सूक्तेषु विद्यते। लेखस्याशयोऽयं वर्तते यदाधुनिक-वैज्ञानिकैः यत् किमपि अन्विष्टं तस्य प्रभावार्थं ऋग्वेदः परामर्ष्टव्यो भवति। ऋग्वेदीय-मन्त्रेषु अनुभूतः विरोधाभासोऽपि लेखेऽस्मिन् प्रदर्शितः। क्वचिज् जलादग्नेः उत्पत्तिः मन्यते, क्वचिदग्नेः जलस्योद्गमः दर्शितः। ऋग्वेदाज् ज्ञानस्य सर्वाः शाखाः उद्गच्छन्ति इति मतं पूर्णतः सत्यं वर्तते।)

The Ṛ*gveda* is the first ever sprouting of human wisdom and is also a treasure house of various branches of knowledge of that remote antiquity when human civilization was at its dawn and began to winkle gradually. As one of the greatest scientists of the world, Albert Einstein had once said "to search the truth is more important than obtaining the truth". The seers of the *Ṛgveda* had many questions to solve regarding their daily experiences. The Cosmological fact was prime among them to be unravelled.

As usual they first began with hypothetical speculations giving figurative expression in this sphere first dealing with the premise that there is someone standing behind the wonderful process of creation and from that mighty and powerful magician everything is either created or evolved in very outstanding and superb order. For instance, *Puruṣa-sūkta* which is the sturdiest testimony of *pantheism* and which comprises very contemplative and exquisite thoughts presents *Puruṣa* as evolver of the creation. The *Puruṣa* was later on identified with *Nārāyaṇa* and became an epithet of lord *Viṣṇu*. According to this *Sūkta Puruṣa* created everything - viz. eating and non-eating creatures, wild and domestic animals, horses, cows, goats, sheep, human beings, the moon, the sun, Indra, the fire, the wind, the sky, the paradise, the earth, the directions etc. by himself or by the procedural mode of sacrifice in which he himself was the material of oblation and no one other than him was the deity for whom this offering was subjected to. The understated verse of *Puruṣa-Sūkta* should be given proper heed as it represents a marvellous information which is supported by the modern schools of sciences too :

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तन।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।। (*Ṛg. 10.90*)

There is no semantic complication in this *Mantra* but proper attention should be paid to the last stanza 'तथा लोकाँ अकल्पयन्' and can be explained : thus he created many universes. Though there is a bit transgression of grammatical set up, yet it must not be counted as fault

for that Vedic language which has exuberance of such exceptions. If we accept the meaning as indicated above, we reach far nearer to modern science which has discovered existence of many galaxies and every galaxy having its peculiar solar system.

When a pure-hearted seer of *Ṛgveda* declares the sun as the soul of animate and inanimate[1] he stands almost at par with that modern science which encompasses the slenderest knowledge of our solar system by the systems of chained discoveries and endeavors of the great scientist. According to modern science the sun is in the centre of our solar system and all the planets rotate around the sun and the satellites rotate around the planets. The relation of the moon with the earth too was not hidden to Vedic preceptors. There is a group of three verses[2] in the *Ṛgveda* 10.190 and some verses scattered in many quarters of the *Ṛgveda* occur figurative exposition with regard to creation. This tendency is not only seen in the *Ṛgveda* but also in the genesis chapter of the Bible, the Avesta and also in the Quaran.

The *Sṛṣṭi-Sūkta* (*Ṛgveda* 10.129) has furnished very tremendous and beautiful concept regarding creation as mentioned below "There was neither *Sat* nor *Asat*, which had covered all these. This was in shelter of a magician. Was there thick and deep water everywhere.[3]"? There was only darkness covered by intense black out. This all was unfathomable water, the matter coming into being was also covered with comprehensive darkness. By the energy of the heat that single matter was created[4]. Ahead of that desire (instinct) came into being, that was the first seed of the mind. The seers gifted with insight obtained the manifestation of truth in the vacuum pondering in (their) hearts by wisdom[5]. The rays of these were stretched slantingly or across .... They had bred the seed of creation. There existed energies. There was independence downwards and control upwards[6]. The *Sūkta* of which the main contents are described above, although apparently seems to be philosophical in nature, yet it hints towards some scientific approach.

It is an established fact of modern science that there was water everywhere on the earth after it's coming into existence as a planet. Heat was also a major component before Evolution of creation having a great deal of energy. Before the origin of the world, most part of the universe was wrapped by complete black out or darkness. The words 'तथा लोकाँ अकल्पयन्' indicate the rays of the stars are that of nebulae. These stars and nebulae bred the seed of creation 'रश्मिः एजाम् 'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' should be taken into account denoting the fact of gravitation and breaking of nebula and the sun and coming into existence of the planets and satellites.

The following *Upaniṣadic* concept of creation, envisaged in the passage inscribed below, is going nearly eye to eye with modern science : *तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्याम् ओषधयः* [7] "From that (supreme) soul emerged out the ether, from ether the air, from air the fire, from fire the water, from water the earth (and) from the earth the herbs."

The most brilliant and astonishing description regarding cosmology is rendered in the following verse of the *Ṛgveda* :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। (*Ṛg. 1.121.1*)

"*Hiraṇyagarbha* existed ahead of everything. Having manifested, he alone was the master of (all) creatures. He controlled the earth and the heaven. Which deity we should offer oblation for." This is more elaborately and satisfactorily clarified in the *Chāndogyopaniṣad*, a part of which is being extracted here.

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

The undivided essence – primeval sun (आदित्य) is Brahma (exporting entity). This is discourse. At the beginning, it was unmanifested. Then it manifested (itself). That sprouted, that turned into a spheroid lump. That stood stand still for one year. Then, it broke out.

This resembles Big-Bang theory regarding cosmology propagated by some recognized scientists of our age : अपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्नार्थ दधाना जनयन्तीरग्निम् (*Ṛg*. 1.121.7)

The tremendous waters came bearing all seeds - Embryo (of creation) and giving birth to the fire. The word 'अग्नि' used in this verse is nothing but creative energy.

Appearingly, there is paradox between the statements of *Taittirīya-Upaniṣad,* where it is stated that the water is born from the fire and that of the *Ṛgveda,* where fire is narrated to have been born from the water. Really, there is nothing such as the facts mentioned in the respective course of Vedic literature are collaborated in relativity, hence, not bearing any defilement. Even in *Ṛgveda* water is described as emerged from the fire – गर्भो यो अपाम् (ऋ. 1.70.3)

Now, we are going to peep into some principal theories relating to the cosmology, having given a summarized model of *Ṛgvedic* concept of creation (though many facets in this regard are yet to be deciphered). A French astronomer (Laplas) had propagated that solar system was originated from a Nebula which was a big aerial lump. Because of various causes the planets came into existence out of that nebula and the rest original part of that nebula is the sun. According to a British scientist, the origin of solar system took place as a result of abundance of meteors moving in the sky. The two stars collided and as effect of this collision, the stars were scattered and because of friction among themselves terrible heat light and wind were generated around them. Thus, passing through a series of conditions and processes a spiral nebula emerged and from it emerged planets having been separated from it. The original one was manifested in the form of the sun. After a prolonged process when the condition and environment of the earth become a bit normal the first in zoological species amoeba and the first in botanical species hydrophytes appeared in cosmological chronology.

Charles Darwin became a big name in the history of sciences when he announced the theory of evolution having gone through outstanding considerations and remarkable observation. He also initiated "Survival of the fittest" theory. When we precisely behold the order of creation as depicted in the *Puruṣa- Sūkta,* we ought to be astonished. पशूँस्ताँश्चक्रे वायाव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये, (*Ṛg*. 10.90.08)

Those, animals, which are aerial, wild and domestic, were created.

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादत:।।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्ताज्जाता अजावय:।। (*Ṛg. 10.90.10*)

From that (cosmic) sacrifice horses were created , and those who are having teeth at both side. (And also) from that (super mundane entity) were born cows and from that goats and sheep were born :

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य:कृत:।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत।। (*Ṛg. 10.90.12*)

Thus, we see that those elements and components which modern science is claiming of to have been key factor in the origin of our solar system and creation of species. For example heat, energy, wind, fire, water, collision or explosion are clearly indicated in the *Ṛgveda*.

Hence, we should unhesitatingly accept that Vedic preceptors had excelled even in the concept of cosmology. How far their concept was correct are defiled, can not be completely examined due to still on going wrangle among modern cosmologists on this issue. In spite of all discoveries and inventions of accurate instruments, our scientific elite is still standing answerless. Ultimately we have no option but to accept the notion of a Vedic seer as expressed in the following verse of the *Ṛgveda* :

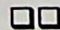
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।[8]

Where from this creation emerged? Whether any one holds it or not? Whether the overseer who controls it sitting in the highest sky, really knows it or not?

References :

1. सूर्य आत्मा जगत: तस्थुषश्च (*Ṛg.10.115.01*)
2. ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तसोध्यजायत।
   ततो रान्यजायत तत: समुद्रो अर्णव:।।1।।
   समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत।
   अहोरात्राणि विदधद् भूतस्य मिषतो वशी।।2।। (*Ibid*)
   सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
   दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्व:।।3।। (*Ibid*)
3. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
   किमावरीव: कुहकस्य शर्मन् अम्भ: किमासीद्गहनं गभीरम्।। (*Ibid 10.129.1*)
4. तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
   तुच्छयेनाभ्यपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।। (*Ibid 10.129.3*)
5. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।
   सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कव्यो मनीषा।। (*Ibid 10.129.5*)
6. तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् .....
   रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयति: परस्तात्।
7. *Taittirīya-Upaniṣad 2.1.3, Ibid 10.129.5*
8. *Ṛg.10.109.6*

● **Shri Venkateswara Vedic University, Tirupati, (Andhra Pradesh)**



धात्वर्थनिर्णये प्रथमकारिकायां पेरिसूर्यनारायणशास्त्रिकृतटीकान्तरखण्डनसमीक्षा

भारतभूषणत्रिपाठी

(The importance of *dhātu* is glorified in sanskrit grammar which gives rise to the statements like *sarvaṃ nāma dhātujamāha*. Therefore, *dhātvarthanirṇaya* of *Vaiyākaraṇabhūṣaṇa* of *Kauṇḍabhaṭṭa* has its own recognition. The paper deals with the refutation of other commentaries on the first *kārikā* of Bhaṭṭoji's *vaiyākaraṇasiddhāntakārika* by the commentary *Tattvadarśinī* by Pt. Peri Suryanarayan Shastri. This commentary sometimes agrees with *prācya*-view while sometimes with *navya*-views. In this context, he many times refers to *prabhā*, *darpaṇa* and *mañjuṣā* etc.)

वैयाकरणेषु मतद्वयं दृश्यते धात्वर्थविषये- प्राच्यमतं नव्यमतं च। तत्र धात्वर्थविषयमाश्रित्य वैयाकरणभूषणेऽधोलिखिता कारिकोद्धृता वर्तते-

''*फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः*
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्।।''[1]

फलव्यापारयोरित्यत्र वाचकत्वं सप्तम्यर्थः। तत्र फलव्यापाररूपप्रकृत्यर्थस्य निरूपितत्वसंबन्धेन सप्तम्यर्थे वाचकत्वेऽन्वयः। वाचकत्वस्य च आश्रयतासंबन्धेन धातावन्वयः। तस्मात् फलव्यापारयोरित्यस्य अर्थः क्रियते ''फलव्यापारनिरूपितवाचकतावान् धातुरिति''।[2] वैयाकरणैः फलव्यापारयोः धातोः शक्तिः स्वीक्रियते। 'आश्रये तु तिङः स्मृताः' इत्यस्यार्थः क्रियते यत् तिङ्-प्रत्ययस्यार्थः आश्रयः। तत्र जिज्ञास्यते कस्याश्रयः? प्रत्यासत्त्या फलाश्रयः व्यापाराश्रयः इत्येव गृह्यते। तर्हि फलाश्रयः कर्म, व्यापाराश्रयः कर्ता। अत एवोच्यते तिङ्-प्रत्ययस्य कर्तरि कर्मणि शक्तिः। तत्र पाणिनिसूत्रम्- 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः'।[3] इति प्रमाणम्। एवमेव 'वर्तमाने लट्'[4] 'परोक्षे लिट्'[5] इत्यादिभिः सूत्रैः वर्तमानपरोक्षादिकाले लडादीनां विधानात् कालेऽपि लडादिस्थानिकादेशभूततिङः शक्तिः। 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने'[6], 'बहुषु बहुवचनम्'[7] इत्यादिसूत्रैः सह एकवाक्यतायां सङ्ख्यापि तिङर्थः। अतः उच्यते कर्ता कर्म संख्या कालः इत्येते तिङ्प्रत्ययस्यार्थाः। भूषणे उक्तमपि – 'तिङर्थः कर्तृकर्मसंख्याकालश्च'[8] फले प्रधानमित्यत्र फलव्यापारयोर्मध्ये व्यापारस्य प्राधान्यम् इति। अन्तिमा पंक्तिर्वर्तते – 'तिङर्थस्तु विशेषणम्'। अर्थात् तिङर्थः कर्तृकर्मसंख्याकालाः इत्येते विशेषणानि सन्ति। कर्ता धात्वर्थव्यापारे विशेषणम्, कर्म धात्वर्थफले विशेषणम्, कालः धात्वर्थव्यापारे विशेषणम्। तत्रोक्तमपि वर्तते- क्रियाभेदाय कालस्तु तिङर्थः संख्या-कर्तृप्रत्ययस्थले कर्तरि विशेषणम्, कर्मप्रत्ययस्थले कर्मणि विशेषणम्, समानप्रत्ययोपात्तत्वात् इत्येव सामान्यार्थः अस्याः कारिकायाः।

धात्वर्थविषये प्राचीनवैयाकरणमतम्

फलव्यापारयोरित्यत्र द्विवचननिर्देशेन इदमेव ज्ञायते यत् फलनिरूपिता व्यापारनिरूपिता च धातोः पृथक् शक्तिः। तत्र शंक्यते यद् धातोः फले व्यापारे च पृथक् शक्तिरित्युच्यमाने किं शक्तिद्वयं कल्प्यते? तत्र समाधीयते यद् 'धातोः नहि पृथक्-पृथक् फले व्यापारे च शक्तिः, किं च यथा एकवृन्तगतफलद्वयं पृथक्-पृथग्रूपेणोपस्थितं भवति तद्वत् एकैव शक्तिः खण्डशः फलव्यापाररूपेण पृथगुपस्थितिप्रयोजिका भवति। अत एव स्तोकं पचति इत्यत्र स्तोकपदार्थस्य पच्धात्वर्थविक्लित्तौ अभेदसम्बन्धेन अन्वयो भवति। ग्रामं गच्छति इत्यत्र कर्मरूपग्रामपदार्थस्य निष्ठत्वरूपभेदसम्बन्धेन उत्तरदेशसंयोगे फले च अन्वयो भवति। पदार्थः पदार्थेन अन्वेति न तु पदार्थैकदेशेन इत्येष नियमोऽपि अत्र संगच्छते। फलमपि अत्र धात्वर्थः पदार्थ एव वर्तते न तु पदार्थैकदेशः। पृथक्शक्तिस्वीकारे कैश्चित्शंक्यते यद् यथा नीलो घटः इत्यत्र पृथक्-पृथक् उपस्थितयोः पदार्थयोः परस्परमुद्देश्यविधेयभावेनान्वयः क्रियते तथैव फलव्यापारयोरित्यत्रापि उद्देश्यविधेयभावेन अन्वयः स्यात्। तन्न, पृथक्-पृथक् पदात् उपस्थितपदार्थयोरेव उद्देश्यविधेयभावेन अन्वय- सत्त्वात्। पुनः शंक्यते यत् एकपदोपस्थितयोः पदार्थयोः चेत् परस्परमन्वयः क्रियते तदा हरिशब्दात् उपस्थितयोः इन्द्राश्वयोः पदार्थयोरपि परस्परान्वयः स्यात्। तत्र नियमः कियते यत् तत्पदजन्यतद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति अपरपदजन्योपस्थितिः कारणम्। यदि एतादृशः अन्वयः क्रियते तर्हि एकस्मादेव धातोः उपस्थितयोः फलव्यापारयोः कथं परस्परान्वयः स्यात्। तत्रोच्यते व्युत्पत्तिवैचित्र्येण क्वचित् एकपदोपस्थितपदार्थयोरपि परस्परान्वयः क्रियते।

नव्यमते धात्वर्थविचारः

आचार्यनागेशेन धातोः फलविशिष्टव्यापारे व्यापारविशिष्टे फले च शक्तिरिति प्रतिपाद्यते। फलस्य वैशिष्ट्यं जनकत्वसम्बन्धेन व्यापारे, जन्यत्वसम्बन्धेन व्यापारस्य वैशिष्ट्यं फले च गृह्यते। कर्तृप्रत्ययस्थले फलविशिष्टव्यापारे धातोः शक्तिः, तत्र व्यापारस्य प्राधान्यम्। कर्मप्रत्ययस्थले व्यापारविशिष्टफले धातोः शक्तिः तत्र फलस्य प्राधान्यम् । भूषणस्य या कारिका वर्तते ''फले प्रधानं व्यापारः'' एषा कर्तृप्रत्ययस्थलमभिलक्ष्य वर्तते। प्राच्यैः एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन फले व्यापारे च धातोः शक्तिः स्वीक्रियते। नव्यैः विशिष्टे शक्तिः स्वीक्रियते। पृथक्शक्तिस्वीकारे नागेशेन दोषः प्रदत्तः। यत् ''फलव्यापारयोर्धातोः पृथक्शक्तावुद्देश्य-विधेयभावेनान्वयापत्तिः तयोः स्यात् पृथगुपस्थितयोस्तथान्वयस्यौत्सर्गिकत्वात्।[9] द्वितीयः दोषः कार्यकारणभावद्वयकल्पनम्। व्यापारमुख्यकविशेष्यकशाब्दबोधं प्रति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितिः कारणम्। फलमुख्यविशेष्यकशब्दबोधं प्रति कर्मप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितिः कारणम् इति स्वीकर्तव्यं भविष्यति। तस्माद् धातोः पृथक् शक्तिमस्वीकृत्य विशिष्टे शक्तिः स्वीकर्तव्या इति नागेशस्याभिप्रायः।

प्रभाकारमतम्

प्राच्यमतानुसारेण पृथक्शक्तिस्वीकारे यो हि कार्यकारणभावद्वयकल्पनम् इति दोषः नागेशेन प्रदायि। तत्र किन्तु प्रभाकारेण अरुचिः प्रदर्शिता। प्रभाकारेणोक्तम् यत् प्राचीनमते कर्तृप्रत्ययस्थले कर्मप्रत्ययस्थले च उभयत्र व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्यैव सत्त्वात् नागेशोक्तकर्मप्रत्ययस्थले फलमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधाय कर्मप्रत्ययसमभिव्याहृतधातुजन्योपस्थितिः इति पृथक् कार्यकारणभावः स्वीकर्तव्यो भवति इति कथनमसंगतमेव प्रतीयते। किं च नागेशाभिमतविशिष्टशक्तिस्वीकारे गुरुभूतस्य फलविशिष्टव्यापारत्वस्य व्यापारविशिष्टफलत्वस्य च शक्यतावच्छेदकत्वात् गौरवमेव भवति।[10]

शास्त्रिणो मतम्

प्रभाकारोक्तमतमस्वीकुर्वन् शास्त्रिमहोदयः प्रतिपादयति यत् नागेशेन यदुक्तम् 'धातोः फले व्यापारे च पृथक्शक्तिस्वीकारे व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं प्रति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारस्य कारणता फलमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं प्रति कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारस्य कारणता इति कारणद्वयम् स्वीकर्तव्यं भविष्यति

तत्सत्यमेव। यतोहि देवदत्त: तण्डुलं पचति, देवदत्तेन तण्डुल: पच्यते उभयत्र प्राच्यमते व्यापारमुख्यविशेष्यक-शाब्दबोधस्य सत्त्वेऽपि कर्मकृत्प्रत्ययसमभिव्याहारे तु प्राच्यैरपि फलमुख्यविशेष्यकशाब्दबोध: स्वीक्रियते। अत: कर्मकृत्प्रत्ययस्थले फलमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधं प्रति कर्मकृत्प्रत्ययसमभिव्याहारस्य पृथगुपस्थिति: कारणत्वेन स्वीकर्तव्या।[11] अत: अस्ति प्राच्यमते गौरवम्। तत्र प्रमाणत्वेन कौस्तुभग्रन्थस्य कर्मसंज्ञासूत्रस्थलीय अयमंश: विद्यते "फलभावनयोस्तु विशेष्यविशेषणभावविपरीत:।"[12] धातो: फलविशिष्टव्यापारे व्यापारविशिष्टे फले च शक्तौ सत्याम् उपस्थितद्वयकल्पनाया: अभावस्य लाघवं वर्तते। कर्तृवाचकप्रत्यय: धातो: फलविशिष्टव्यापारे शक्ति: इति नियमयति, कर्मवाचकप्रत्यय: व्यापारविशिष्टे फले धातो: शक्तिरिति नियमयति। अत एव नागेशेनोक्तम् मञ्जूषायाम् – "कर्तृकर्मार्थकतत्तत्प्रत्ययसमभिव्याहारश्च तत्तत्बोधे नियामक:।" इदानीं फलव्यापारयो-र्धातुरित्यत्र फलव्यापारयो: शाब्दिकानां मते किं स्वरूपमिति विचार्यते।

नागेशमते फललक्षणम्

फलस्य लक्षणं निरूपयन् नागेशभट्ट आह – फलत्वं च "तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्।[13] अस्मिंल्लक्षणे नागेशेन अंशद्वयं निविष्टं तद्धात्वर्थत्वजन्यत्वे सति इत्येक: अंश, द्वितीय: तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्" इति। यथा – गच्छति- इत्यत्र तिप्–प्रत्यय: कर्तरि विहित:। तिबर्थकर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे गम्–धात्वर्थ: "उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापार:, इति वर्तते। उत्तरदेशसंयोग: अनुकूलत्वसम्बन्धेन व्यापारे विशेषणम्, अयमुत्तरदेशसंयोग: गम्–धात्वर्थव्यापारजन्य: तस्मात् उत्तरदेशसंयोगे धात्वर्थव्यापारजन्यता, अथ च धात्वर्थव्यापारनिष्ठा या विशेष्यता तादृशविशेष्यतानिरूपितप्रकारता अपि संयोगे समागता। तस्मादंशद्वयस्य संयोगे समावेशात् उत्तरदेशसंयोगस्य फलत्वं सिद्ध्यति। फललक्षणे अंशद्वयनिवेशस्य प्रयोजनम् प्रतिपादयन् नागेश: आह – "विभागजन्यसंयोगादिरूपे पतत्यादिधात्वर्थे विभागसंयोगयो: फलत्ववारणाय उभयम्।[14] नागेशेन पत्धात्वर्थ: विभागजन्यसंयोग: इति व्याख्यात:। अस्मिन्नर्थे धातुरयमकर्मक:, व्यापारमात्रवाचकश्च। तत्र सिद्धान्तमञ्जूषायामुक्तं नागेशेन – "अकर्मत्वमपि व्यापारमात्रप्रत्ययबोधकम्।[15] फललक्षणे अशंद्वयस्य समावेशात् पत्–धात्वर्थविभागजन्यसंयोगे फललक्षणस्य अतिव्याप्तिर्न जाता, विभागे संयोगनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वेऽपि धात्वर्थव्यापारजन्यत्वस्याभावात् विभागस्य फलत्वं न सिद्धम्। एवमेव संयोगोऽपि फलं नास्ति तस्य विभागजन्यत्वेऽपि विभागनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वाभावात्। अत एव वृक्षात् पत्रं भूमौ पतति इत्यत्र वृक्षस्य विभागाश्रयत्वेऽपि फलाश्रयत्वाभावात् कर्मसंज्ञा न जाता, एवमेव संयोगरूपव्यापाराश्रयत्वात् "पत्रम्" इत्यस्य कर्तृ–संज्ञा जाता। कैश्चिदुच्यते यद् विभागस्य फलत्वं स्यात् को दोष:? तदानीमुच्यते यथा वृक्षं त्यजति इत्यत्र विभागानुकूलव्यापारार्थवाचकत्यज्धातुयोगे विभागाश्रयत्वात् वृक्षमित्यस्य अपादानसंज्ञा, विभागरूपफलाश्रयत्वाच्च कर्मसंज्ञा प्राप्नोति। "अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते इति भाष्यवचनात् परत्वात् कर्मसंज्ञैव भवति। तद्वत् वृक्षात् पत्रं भूमौ पतति इत्यस्य स्थाने वृक्षं पत्रं भूमौ पतति इति अनिष्टप्रयोगोऽपि संपद्येत। अनिष्टप्रयोगवारणाय एव फलस्य एतादृशं लक्षणं नागेशेन कृतम्। अत्र शंक्यते यत् फलस्य यल्लक्षणं नागेशेन कृतम् तल्लक्षणं नागेशोक्तपत्धात्वर्थविभागजन्यसंयोगे नाधिगच्छति। तदा पत्–धात्वर्थे फलस्य अभावात् फलव्यापारयोर्धातु: इति शाब्दिकसिद्धान्तस्य भङ्गापत्ति:। अकर्मकस्थलेऽपि फलव्यापारयोर्वाचकता धातौ भवत्येव। अत एवोक्तम् फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्। मञ्जूषाकारदृष्ट्या सर्वत्र धातो: फलव्यापारे शक्ति: इति नायं सिद्धान्त: सार्वत्रिक: प्रयोगबाहुलकात्। फलव्यापारयो: प्रतीत्या एष सिद्धान्त: स्थापित: फलव्यापारवाचक: धातु: इति।

पुन: शंक्यते यदि पत्–धात्वर्थ: विभागजन्य: संयोग: इति स्वीक्रियते तर्हि विभागे संयोगे च फलत्वस्य अभावात् नरकं पतित इत्यत्र नरकमित्यस्य फलाश्रयत्वाभावात् कथं कर्मसंज्ञा सेत्स्यति? विभागजन्यसंयोग-रूपार्थवाचकपत्धातु: अकर्मक: विद्यते। एवमेव 'द्वितीयाश्रितातीतपतित......' इत्यनेन द्वितीयान्तं सुबन्तं पतितसुबन्तेन

सह कथं समस्यते। पतितयोगे द्वितीयायाः अभावात्। तस्माद् धातोः विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापारः इत्यपि अर्थः क्रियते। अत्र विभागजन्यसंयोगरूपसमुदायफलत्वं विद्यते न तु पृथक्-पृथक् संयोगे आहोस्विद् विभागे फलत्वम्। समुदितस्य विभागजन्यसंयोगस्य व्यापारजन्यता व्यापारनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयता च वर्तते। तस्मात् समुदितस्य फलाश्रयस्य कर्मसंज्ञा भविष्यत्येव। अत एव नरकं पतितः, भूमिं पतति इत्यादि प्रयोगाः जायन्ते। विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापारार्थस्वीकारात् वृक्षात् पर्णं पतति इत्यत्र विभागजन्यसंयोगरूपफलस्याश्रयः 'पर्ण' इति वर्तते। तदनुकूलव्यापाराश्रयोऽपि 'पर्ण' इति वर्तते। तत्र फलाश्रयत्वात् कर्मसंज्ञा व्यापाराश्रयत्वात् च कर्तृसंज्ञा प्राप्स्यति। तत्र परत्वात् कर्तृसंज्ञैव भविष्यति। यदि सर्वत्र विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापार एव अर्थः पत्धातोः स्यात् तदा को दोषः? तत्रोच्यते एतदर्थस्वीकारे वृक्षात् पर्णं भूमौ पतति इति प्रयोगो न भविष्यति। भूमेः संयोगरूपफलाश्रयत्वात् कर्मसंज्ञा प्राप्स्यति। तस्माद् भूमेः अधिकरणसंज्ञाविधानाय पत्-धातोः विभागजन्यसंयोगः इत्यप्यर्थः करणीयः। मनोरमायां शब्दरत्ने पत्-धात्वर्थविषये एकः अन्यः पन्थाः परिकल्पितः। तत्र व्याख्यातम् यत्-विभागानुकूलव्यापारः पत्-धात्वर्थः इति।[16] अत्र विभागः फलं वर्तते। वृक्षात् पर्णं पतति इत्यत्र विभागरूपफलाश्रयत्वात् वृक्षस्य कर्मसंज्ञा, विभागाश्रयत्वात् अपादानसंज्ञा च प्राप्नोति। कर्मसंज्ञया अपादानत्वस्य बाधात् द्वितीयैव स्यादिति चेदुच्यते-तन्न। फलतावच्छेदक-सम्बन्धेन फलस्य यः आश्रयः तस्यैव कर्मसंज्ञा विधीयते। प्रकृते पत्-धात्वर्थविभागे फलतावच्छेदकसम्बन्धः अनुयोगित्वरूपः। अतः अनुयोगित्वसम्बन्धेन फलस्य यः आश्रयः तस्यैव कर्मसंज्ञा विधेया। वृक्षात् पर्णं पतति इत्यत्र विभागस्य प्रतियोगी वृक्षः वर्तते। प्रतियोगित्वसम्बन्धेन फलाश्रयः वृक्षोऽस्ति। स च सम्बन्धः फलतावच्छेदकः नास्ति। फलतावच्छेदक-सम्बन्धो नाम इच्छीयविषयतावच्छेदकसम्बन्धः। स च इच्छीयविषयतावच्छेदक-सम्बन्धः अनुयोगित्वरूपः। अत्र अनुयोगित्वरूपफलतावच्छेदकसम्बन्धेन विभागरूपफलाश्रयः पर्ण' इति वर्तते। तच्च व्यापाराश्रयोऽपि वर्तते। व्यापाराश्रयत्वात् कर्तृसंज्ञया परत्वात् कर्मसंज्ञायाः बाधो भवति। अतः पत्-धातोः परिष्कृतोऽर्थः क्रियते - अनुयोगित्वसंबन्धावच्छिन्नविभागानुकूलव्यापारः। अनुयोगित्वरूपफलतावच्छेदक-सम्बन्धेन विभागानुकूलव्यापारः इति स्वीकारेऽपि स्वर्गात् बालकः भूमिं पतति, स्थलात् बालकः नरकं पतति इत्यादिस्थलेषु भूमेः नरकस्य च कथं कर्मसंज्ञा सेत्स्यति। भूमिः विभागरूपफलाश्रयो नास्ति। विभागस्य प्रतियोगी स्वर्गः, अनुयोगी बालकः वर्तते। भूमिस्तु बालकवृत्तिव्यापारजन्यसंयोगाश्रयो वर्तते। तस्माद् भूमेः कर्मसंज्ञां विधातुमन्योऽप्यर्थः स्वीकार्यः। स चार्थः विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापारः। तस्माद् विभागजन्यसंयोगरूपफलाश्रयत्वात् भूमेः कर्मसंज्ञा भवति।

पत्-धात्वर्थविषये दर्पणकारमतम्

अत्र दर्पणकारः आह - यत् पत्-धातोः नहि विभागजन्यसंयोगरूपोऽर्थः, अपितु अधोदेशसंयोगानुकूलव्यापारः पत्-धात्वर्थः।[17] तत्र तेन हेतुः प्रदर्शितः यत् पत् इत्यादिधातूनां योगे पञ्चमीविभक्तेः आश्रयः विभागश्चार्थः।[18] पत् इत्यादिधातूनां विभागार्थे शक्तिस्वीकारे गौरवात् अनेकधातूनां तस्मिन् अर्थे शक्तिस्वीकारापेक्षया पञ्चमीविभक्तेरेव विभागरूपोऽर्थः स्वीकर्तव्यः। यथा करणतृतीयायाः आश्रयः व्यापारश्च अर्थः स्वीक्रियते तद्वदत्रापि विभागार्थे पञ्चमीविभक्तेः शक्तिः इति सिद्धान्तः दर्पणकारेण न्यरूपि। तत्र आश्रयोऽवधि........"[19] इति भूषणकारकारिका प्रमाणमपि विद्यते। यदि पञ्चम्याः विभागरूपोऽर्थः न स्वीक्रियते धातोरेव विभागार्थः स्वीक्रियते तदा 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति न्यायात् विभागाश्रयत्वात् आश्रयमात्रमेव पञ्चम्यर्थस्य सत्त्वात् अवधिः पञ्चम्यर्थः इति पृथक्त्वेन कथनमसङ्गतमेव भविष्यति। यदि पत्धातोः विभागार्थे शक्तिः स्वीक्रियते तदा त्यज्-धातोरपि विभागानुकूलव्यापारार्थकत्वात् त्यज्-पत्-धात्वोः समानार्थकत्वापत्तिः समापतति। तस्मात् पत्-धातोः विभागार्थे शक्तिः न स्वीकर्तव्या अपितु अधोदेशसंयोगानुकूलव्यापारे शक्तिः स्वीकरणीया। अयमधोदेशः संयोगांशस्योपलक्षणम्। अर्थात् पत्धातोः शक्तिः संयोगानुकूलव्यापारमात्र एव वर्तते। शब्दशक्तिस्वभावात् संयोगः अधोदेशोपलक्षितः वर्तते। तथैव गम्-धातोरपि शक्तिः संयोगानुकूलव्यापारे वर्तते। स च संयोगः उत्तरदेशोपलक्षितोऽस्ति। अत एव वृक्षात् पतति इत्यत्र वृक्षस्य विभागाश्रयत्वेऽपि धात्वर्थफलाश्रयत्वाभावात् कर्मसंज्ञाप्रयुक्तद्वितीयापत्तिः नास्ति।

दर्पणकारेणोक्तम् – विभागजन्यसंयोगः विभागजनकक्रिया चेत्युभौ पत्-धात्वर्थौ न स्तः।[20] तेन दर्पणकारेण स्वमतं निरूपयता उक्तम् – पत्लृ गतावित्यत्र गतिशब्दस्य निवेशात् विभागजन्यसंयोगः पत्धातोः अर्थः कर्तुं न शक्यते। यतोहि धातोरर्थनिर्देशे यत्र गतिशब्दः प्रयुक्तः तत्र सर्वत्र गतिशब्देन संयोगानुकूलव्यापार अर्थः ग्राह्यः। गम्लृ गतौ, सृ गतौ इत्यादिषु सर्वत्र संयोगानुकूलव्यापारार्थस्य प्रतीतिसत्त्वात्। यद्युच्यते सर्वत्र संयोगानुकूलव्यापारस्यैव गतिशब्देन बोधो भवति तर्हि वृक्षात् पतति इत्यस्य स्थाने वृक्षात् गच्छति, सर्पति इत्यादिप्रयोगा अपि जायेरन्। इति चेदुच्यते-तन्न। शब्दशक्तिस्वभावात् न तथाविधप्रयोगशङ्का आपादनीया। गम्लृ गतौ इत्यत्र गति इत्यस्मात् संयोगानुकूलव्यापारार्थस्य स्वीकारेऽपि संयोगे उत्तरदेशविशिष्टसंयोगत्वस्य भानात् तथैव पतलृ गतौ इत्यत्र संयोगानुकूलव्यापारघटकसंयोगे अधोदेशविशिष्टसंयोगत्वस्य भानात् न परस्परव्यभिचारः।

अत्र शङ्क्यते यदि पत्-धात्वर्थः अधोदेशसंयोगानुकूलव्यापारः तदा वृक्षमजहत्यपि पर्णे भूमिं स्पृशति इति प्रयोगस्य स्थाने वृक्षात् पर्ण पतति इत्यापत्तिः स्यात्। तत्र दर्पणकारेण उक्तम् यत् "तदुपस्थाप्यक्रियाजन्य-देशान्तरविभागे वृक्षावधिकत्वानुपगमात्"। अन्यथा क्रियाजन्यसंयोगमात्रस्यैव विभागजन्यत्वेन भूमिपर्णसंयोगस्यापि तथात्वात् त्वन्मतेऽपि तादृशप्रयोगस्य दुर्वारतापत्तेः।[21] विषयेऽस्मिन् प्रभाकारेण व्याख्यातं यद् वृक्षमजहत्यपि पर्णे यत्र फलभारेण शाखायाः न्युब्जत्वेन पर्णभूमिसंयोगस्तत्र वृक्षस्य पर्ण भूमिं पतति इति प्रयोगः इष्यते। अतः पत्-धात्वर्थोऽधोदेशसंयोगानुकूलक्रियामात्रम्, न तु विभागोऽपि पतत्यर्थः।[22]

पत्-धात्वर्थविषये शास्त्रिणो मतम्

शास्त्रिणा नागेशमतं समर्थयतोक्तम् यत् पत्-धातोः दर्पणकाराभिमताधोदेशसंयोगानुकूलव्यापारः इत्यर्थः यदि स्वीक्रियते तदा वृक्षात् पर्ण पतति इत्यस्य वृक्षापादानकविभागजन्यसंयोगः इति यो हि लोकानुभव-प्रसिद्धशाब्दबोधः जायते तन्न भविष्यति। अधोदेशसंयोगानुकूलव्यापारार्थस्य स्वीकारे दर्पणकारः यत्प्रमाणं प्रस्तौति गम्लृ गतौ इत्यत्र गतिशब्दस्य निवेशात् तथाविधार्थः कर्तव्यः, यतोहि यत्र कुत्रापि गतिशब्दः निविष्टः तत्र सर्वत्र अस्यैवार्थस्य सत्त्वात्। तस्मिन्विषये शास्त्रिणोक्तम् यत् गतिशब्दस्य संयोगोऽर्थः, न तु संयोगानुकूलव्यापारः। तस्माद् यत्र कुत्रापि धातोरर्थनिर्देशने गतिशब्दः प्रविष्टः तत्र सर्वत्र गतिशब्देन संयोगः इत्यर्थः ग्राह्यः।[23] पत्लृ गतौ इत्यस्य विभागजन्यसंयोगः, डीङ् गतौ इत्यस्योर्ध्वदेशसंयोगः इत्याद्यर्थः क्रियते। दर्पणोक्तो-ऽधोदेशसंयोगानुकूलव्यापारार्थः स्वीक्रियते चेत् तदा वृक्षात् पर्ण पतति इत्यादौ वृक्षादीनां अपादानत्वस्य बाधात् कर्मत्वापत्तिः भविष्यति। पत्-धातोः संयोगानुकूलव्यापारार्थस्य स्वीकारे ग्रामं गच्छतीत्यर्थे ग्रामं पतति, ग्रामं डयते, सर्पति इत्यादि प्रयोगा अपि जायेरन्।[24] अतः पत्-धातोः विभागजन्यसंयोगः इत्येवार्थः स्वीकर्तव्यः। शास्त्री आह यत् – पत्-धातोः शेखरोक्तविभागजन्यसंयोगरूपार्थः स्वीकार्यः। विभागे संयोगे च फलस्यातिव्याप्तिर्न स्यात् तदर्थं मञ्जूषाकारोक्तफललक्षणमपि स्वीकर्तव्यम्। एवम् दर्पणकाराभिमतम् यत् फलस्य लक्षणं विद्यते तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति तद्धातुजन्योपस्थितिविषयत्वम् तद्धात्वर्थत्वं वा इति पत्-धात्वर्थविभागजन्यसंयोगघटकसंयोगे अतिव्याप्नोति। संयोगः धात्वर्थविभागजन्यः वर्तते। तत्र च पत्-धात्वर्थत्वमपि वर्तते। तस्मात् संयोगस्य फलत्वात् वृक्षात् पर्ण भूमौ पतति इत्यत्र भूमौ इत्यस्य साक्षात् संयोगरूपफलाश्रयत्वात् कर्मसंज्ञायाः सत्त्वात् द्वितीयापत्तिः प्राप्नोति। यदा नागेशोक्तं फललक्षणं स्वीक्रियते 'तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्' इति तदा विभागजन्यसंयोगे फलत्वमेव न विद्यते। विभागजन्यः संयोगः व्यापाररूपः, तस्याश्रयः 'पर्ण', इति। तस्य व्यापाराश्रयत्वात् कर्तृसंज्ञा। एवञ्च पर्णरूपकर्तृद्वारा व्यापाराश्रयत्वात् भूमेः अधिकरणसंज्ञा सिद्ध्यति। यदा विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापारः पत्-धातोरर्थः क्रियते तदा संयोगरूपफलस्य साक्षात् आश्रयत्वेन भूमेः कर्मसंज्ञा अपि भवति। तस्माद् वृक्षात् पर्ण भूमिं पतति इत्यपि प्रयोगो जायते।

शास्त्रिणो मतम् – शास्त्रिणा फलस्य लक्षणं कृतम् " कर्मकृत्प्रत्ययासमभिव्याहारे तद्धात्वर्थविशेषणत्वे

सति तद्धात्वर्थत्वम्'' फलत्वम्। पचति इत्यत्र विक्लित्त्यनुकूलव्यापारः पच्-धात्वर्थः, विक्लित्तिः पच्-धात्वर्थव्यापारस्य विशेषणम्, अथ च तत्र पच्धात्वर्थत्वमपि विद्यते, तस्माद् विक्लित्तिः अत्र फलं वर्तते। तद्धात्वर्थविशेषणत्वन्नाम तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्। यदि तद्धात्वर्थत्वमेव फलस्य लक्षणं स्यात् तदा व्यापारेऽपि फलस्यातिव्याप्तिर्भविष्यति, तस्मात् तद्धात्वर्थविशेषणत्वमिति निवेशनीयम्। तद्धात्वर्थविशेषणत्वे इत्यत्र 'तत्' पदनिवेशादेव 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र मृगस्य न कर्मसंज्ञा जाता, यतो हि दर्शनक्रियानिरूपितप्रकारतायाः धावने सत्वात् धात्वर्थविशेषणत्वस्य तत्र विद्यमानात् धावनस्य फलत्वात्, मृगस्य धावनरूपफलाश्रयत्वात् कर्मत्वापत्तिः भवति, तद्वारणाय कर्मत्वलक्षणे 'तत्' पदं निवेश्यते। तस्माद् धावने तद्धात्वर्थविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वं नास्ति। विस्तरेण तत्त्वदर्शिन्यां द्रष्टव्यम्।[25]

भूषणकारमते व्यापारस्वरूपम्

भूषणकारेण प्रतिपादितम् – 'व्यापारस्तु भावनाभिधासाध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया।[26] व्यापारः भावना, साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया इत्येते सर्वे व्यापारस्य पर्यायवाचकाः शब्दाः। व्यापारक्रिययोरस्ति भेदः-गुणभूतो यो हि अवयवः सः व्यापारपदवाच्यः। व्यापारसमूहः क्रिया। अत एव भूषणकारेणोक्तम् 'अयञ्च व्यापारः-फूत्कारत्वाद्यधःसन्तापनत्वयत्नत्वादितत्तद्रूपेण वाच्यः।[27] वाक्यपदीयकारः आह –

'गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्याप्रकल्पितोऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।[28]

अनया कारिकया ज्ञायते यद् व्यापारसमूहः क्रिया। क्रियते क्रमेण अवयवानामुत्पत्त्या या सा क्रिया। क्रियापदं योगरूढमिति वक्तुं शक्यते। क्रियायाः स्वरूपविषये भर्तृहरिणोक्तम्-

''यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।।''[29]

अत्र क्रमशब्दस्यार्थः क्रमवान्। आश्रितं क्रमरूपं (क्रमवद्रूपम्)। यया सा आश्रितक्रमरूपा। तस्याः भावः आश्रितक्रमरूपत्वम्। पचति वर्तमानकालावच्छिन्ने, अपाक्षीत् भूतकालावच्छिन्ने, पक्ष्यति भविष्यत्कालावच्छिन्ने साध्यत्वेनाभिधीयमाना आश्रितक्रमवती अर्थात् पूर्वापरीभूतावयविका या सा क्रिया। इत्थंभूतक्रियायाः स्वरूपाख्याने पर्वताः सन्ति, आत्मा अस्ति इत्यादौ पौर्वापर्याभावात् सत्तायाः क्रियात्वं कथं सेत्स्यति? तत्रोच्यते- 'सत्तायां पौर्वापर्यभावस्य आरोपः क्रियते। नव्यानां मते बहुषु स्थलेषु धातुः फलमात्रवाचकः वर्तते। तत्र क्रियावाचकत्वाभावात् धातुत्वं कथं सम्पत्स्यते। अतएव फलेऽपि क्रियात्वव्यवहारः क्रियते। क्रिया द्विधा – साध्यभूता सिद्धभूता च। तत्र किं नाम साध्यत्वम्- तत्रोच्यते ''क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपं साध्यत्वम्।[30] क्रियान्तराकांक्षोत्थापकतावच्छेदकरूपं सिद्धत्वम्। धातुना सर्वत्र साध्यत्वरूपक्रियायाः प्रतीतिर्जायते। साध्यत्वेन प्रतीयमानक्रियायामेव कारकस्यान्वयो भवति। साध्यभूतक्रियायाः प्रतीतिः तिङन्तेन जायते। सिद्धभूतक्रियायाः प्रतीतिः घञादिभिर्जायते। तत्र वाक्यपदीयकारेणोक्तम् – 'साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना, सिद्धभावस्तु यस्तस्या सा घञादि-निबन्धनाः।'[31] अतएव पाकः इत्यत्र पच्-धातोः विहितघञप्रत्ययेन सिद्धभूतक्रियायाः प्रतीतिसत्त्वात् स्तोकः पाकः इति प्रयोगो भवति। पाकः इत्यत्रापि पच्धातुना तु साध्यभूतक्रियायाः बोधो भवति। अतएव यदा स्तोकपदार्थस्य पच्-धात्वर्थविक्लित्तावन्वयः। तदा तु स्तोकं पाकः। क्रियाविशेषणानां क्लीबत्वं कर्मत्वं च इति नियमात् स्तोकस्य कर्मत्वं जातम्। यदा स्तोकपदार्थस्य घञन्ते पाके अन्वयः क्रियते तदा कृदभिहितो भावः द्रव्यवत् प्रकाशते इति नियमात् स्तोकः पाकः इति प्रयोगः क्रियते।

नागेशमते व्यापारस्वरूपम्

तत्र नागेशमते व्यापारत्वं च धात्वर्थफलजनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम्।[32] परमलघुमञ्जूषायां नागेशेन प्रतिपादितं यत् अस्-प्रभृतिभ्यः धातुभ्यः सत्तारूपव्यापारमात्रस्य प्रतीतेः फलांशस्य च प्रतीत्यभावेन अस् इत्यादौ

व्यापारलक्षणं न संघटते। यतोहि तेनोक्तम् अस्तीत्यादौ केवलं सत्तादिरेवार्थ: फलांशस्य सूक्ष्मदृष्ट्याप्यप्रतीतेः।[33] अस्माद् व्याख्यानात् नागेशोक्तवचनेष्वेव पूर्वापरविरोध: दृश्यते इति चेदुच्यते- तन्न। असित्यादिधातुषु सत्तानुकूलव्यापारार्थस्य प्रतीतिसत्त्वात् व्यापारलक्षणं संघटते। अत्र फलव्यापारयो: एकनिष्ठत्वेन पृथक्तया प्रतीत्यभावात् गच्छतिवत् अत्र व्यवहार: कर्तुं न शक्यते।[34] अत: तेन यदुक्तं ''फलांशस्य प्रतीत्यभावात्'' तस्येदं तात्पर्यं यत् फलस्य पृथक्त्वेन स्वातन्त्र्येण प्रतीत्यभावादिति। अत एव तेन वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायामुक्तं यत् 'अस्तिभवतिविद्यतीनामर्थ: सत्ता।' अनेककालस्थायिनीति कालगतपौर्वापर्येण क्रमवदिति तस्या: क्रियात्वम्। भावनाफलयोरेकनिष्ठत्वाच्च गच्छतीत्यादाविव न स्पष्टप्रतीति:। नागेश: आह - यद् भूषणे व्यापारस्य लक्षणं कौण्डभट्ट: आह -'व्यापारस्तु साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया। तत्र च यत् साध्यत्वस्य स्वरूपं प्रत्यपादयद् यत् साध्यत्वं क्रियान्तराकांक्षोत्थापकतानवच्छेदकत्वभूतं तन्न, यतोहि पचति भवति इत्यस्मिन् वाक्ये भवति क्रिया पचति-क्रियामाकांक्षते। भवति क्रियाया: पचति-क्रिया कर्ता वर्तते। तत्र भाष्यकारेणोक्तं यत् पचति क्रिया भवति क्रियाया: कर्त्र्यो भवन्ति।[35] पचति भवति क्रियायां साध्यत्वमस्त्येव। किञ्च पूर्वोक्तलक्षणानुसारेण भवति-क्रियायां साध्यत्वक्रियाया: अव्याप्त्यापत्ते: साध्यत्वस्य किञ्चिद् अन्यत् स्वरूपं स्यात्। तच्च नागेशेनोक्तम् - साध्यत्वं नाम निष्पाद्यत्वम्। निष्पाद्यत्वञ्च उत्पाद्यमानत्वम्।[36] निष्पाद्यत्वं साध्यत्वं चेदुच्यते तर्हि घटं करोति इत्यत्र घटे निष्पाद्यत्वात् तत्रापि साध्यत्वं विद्यते। तत्र समाधीयते यत् घटे यद् साध्यत्वं प्रतीयते तच्च करोतीति पदान्तरसमभिव्याहारात् प्रतीयते। करोति पदाभावे तु घटस्य सिद्धत्वेनैव भानं भवति। तत्र भाष्यकारेणोक्तं यत् स्वाभावसिद्धं तु द्रव्यस्य। सूक्ष्मरूपेण क्रियापि सिद्धत्वेन प्रतीयते। तथापि शक्तिस्वभावात् स्थूलरूपेण साध्यत्वेन करोति-क्रियाया: प्रतीतिर्भवति।

प्रभाकारमते साध्यत्वम्

भूषणोक्तसाध्यक्रियाया: लक्षणस्य पचति भवति, पश्य मृगो धावति इत्यादिस्थलेषु भवति-क्रियया पचति क्रियाया आकांक्षोदयात् पश्यक्रियया धावनक्रियाया आकांक्षोदयाद् उभयत्र अव्याप्ते: प्रभाकारेण साध्यत्वं परिष्कृतम्। साध्यत्वं नाम साधनाकांक्षोत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं, कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्वं वा साध्यत्वमिति बोध्यम्।[37] साध्यत्वस्य एतादृशलक्षणस्वीकाराद् भवति-क्रियया पचतिरूपकर्तुराकांक्षा जायते। पश्य मृगो धावतीत्यत्र पश्य इत्युक्ते धावतिरूपकर्मण: आकांक्षोदेति, न तु क्रियामात्रस्याकांक्षोदेति। तस्मात् भवति इत्यादि क्रियासु अस्ति साध्यत्वम्।

दर्पणकारमते साध्यत्वम्

दर्पणकारेण किं नाम साध्यत्वं किं वा सिद्धत्वमिति प्रश्नमुद्भावयता उक्तं ''यत् धर्मवत्ताज्ञानात् क्रियान्तराकांक्षोदय:, तादृशज्ञाने प्रकारतावच्छेदकं यत् तत् सिद्धत्वम्, तद्भिन्नत्वं ज्ञाननिष्ठतादृशा-कांक्षोत्थापकत्वाभावावच्छेदकं वा साध्यत्वम्।[38] अत्र शंक्यते यत् कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात् इत्यत्र नमेत् इत्यस्या: साध्यक्रियात्वात् क्रियान्तरेऽन्वयो न स्यात्। तथापि अन्वयश्च जायते। 'नमेत्' क्रियाया: हेतुहेतुमद्भावेन सुखं यायात् इत्यत्रान्वयो भवति। तस्मात् नमेत् इत्यत्र साध्यत्वं कथं सम्पद्यते। तत्रोच्यते कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात् इत्यत्र चेत् पदसमवधानेनाकांक्षोत्थापनात् 'नमेत्' क्रियाया: क्रियान्तरेऽन्वयो भवति। हिरुगाद्यर्थे न कारकाणामन्वय:, हिरुगाद्यव्ययानां क्रियाविशेषणत्वात् क्रियात्वव्यवहार: जायते। तत्र दर्पणकारेणोक्तम् - 'अत एव न हिरुगाद्यर्थे कारकाणामन्वय:, तेषां तदर्थस्य क्रियान्तरसाकांक्षत्वादिति।[39] दर्पणकारेण साध्यत्वस्य इदमपि लक्षणं स्वीकृतं 'साधनाकांक्षोत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं साध्यत्वम्।

शास्त्रिणो मते साध्यत्वम्

दर्पणकाराभिमतसाध्यत्वस्य प्रसङ्गं निरूपयता स्वमतं शास्त्रिणोपस्थापितम् । तेनोक्तं यत् ''पचाद्यर्थस्य साध्यतयावगतौ साधनाकांक्षोत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वज्ञानं तादृशज्ञाने धात्वर्थस्य तत्त्वेनावगतिरित्यन्योन्याश्रयाच्च।

पचति भवति इत्यादौ निरुक्तरीत्या असत्त्वभूतस्यापि पच्याद्यर्थस्य भवनकर्तृकत्वसम्भवेन तत्र क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकस्योत्पाद्यत्वस्य सत्त्वेन भूषणोक्तैतदेवादाय "असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते।" इत्यग्रिमग्रन्थस्य सुसङ्गतत्वाच्च। शास्त्रिणा साध्यत्वमित्यस्य उत्पाद्यत्वमित्यर्थः भूषणकारदृष्ट्यैव विहितः। तस्माद्युत्पाद्यत्वमेव क्रियायाः कारकत्वेनानन्वयितावच्छेदकं क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकं चेत्यादिना स्वसिद्धान्तनिष्कर्षश्च तेन प्रदर्शितः। शास्त्रिमहोदयःआह यत् साध्यत्वविषये भूषणकृतनागेशयोर्नास्ति मतभेदः। अत एव " वस्तुतस्तु निष्पाद्यत्वमेवेत्येवोक्तं नागेशेन। अन्यथा परे तु साध्यत्वं निष्पाद्यत्वमेवेत्येव वदेत् नागेशः। तादृशी हि तस्य शैली, एतेन भूषणकारादिमतमाह-केचिदिति, सिद्धान्तमाह वस्तुत इति। धात्वर्थवादमञ्जूषां व्याख्यां कुर्वन् कलाकारः यत् कथयति यत् साध्यत्वविषये अस्ति नागेशभूषणकारयोः मतभेदः, सोऽपि विचारणीयः।[40]

प्रभाकारमतम्

प्रभाकारेण सिद्धभूता साध्यभूता या क्रिया तत्र क्रियासाधारणं क्रियात्वं किं तत्रोक्तम्-"गुणत्वानाश्रयत्वे सति विभागासमवायिकारणत्वं क्रियात्वं विभागजविभागस्य संयोगजसंयोगस्य चाङ्गीकारे विभागजनकविभागे संयोगजनकसंयोगे चातिव्याप्तिवारणाय गुणत्वानाश्रयत्वे सति इति लक्षणे निविष्टम्"[41]। पंचोलिनोक्तम् धातुवाच्यव्यापारः तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः इति रूपोऽपि ग्रहीतुं शक्यते।[42] पचति पाकः उभयत्र पच्-धात्वर्थव्यापारे इदं व्यापारलक्षणं संघटते, यतोहि तज्जन्यत्वे सति अर्थात् कर्तृजन्यत्वे सति अर्थात् कर्तृजन्या विक्लितिः। तस्याः विक्लितेः अधिश्रयणादिव्यापारः जनकः। अतः अधिश्रयणादिव्यापारे लक्षणमिदं संगच्छते।

दर्पणकारमतम्

दर्पणकारेण तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः इति धात्वर्थव्यापारस्येदं लक्षणं नैव स्वीक्रियते। तेनोच्यते यद् जनकत्वं नाम प्रयोजकत्वम्। प्रयोजकत्वं यदि साक्षाद् जनकत्वरूपेण गृह्यते तदा पचति इत्यत्र कर्तृव्यापारस्य धात्वर्थतानुपपत्तिः। तस्य करणव्यापारद्वारैव साक्षात् फलजनकत्वात्। यदि प्रयोजकत्वेन जनकाजनकसाधारणं गृह्यते तदा तण्डुलक्रयणस्यापि परम्परया विक्लित्तिरूपप्रयोजकक्रियात्वात् तद्दशायामपि पचतीति प्रयोगापत्तिः। यदि तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूपव्यापारः धातुवाच्यः इति गृह्यते तदा अन्योऽपि दोषः। साक्षात् विक्लित्तिजनकान्तिमाग्निसंयोगदशायामेव पचतीति प्रयोगः कर्तुं शक्यते। यत् चुल्ल्युपरि-धारणावस्थायां फूत्कारादि-अवस्थायां च पचतीति प्रयोगः क्रियते, तन्न कर्तुं शक्यते। इमे दोषाः पंचोलिना खण्डिताः। तेनोक्तं यद् प्रयोजकत्वस्य जनकाजनकसाधारण्येन गृह्यमाणेक्रियणादेरपि व्यापारत्वापत्तिः भवति, तत् स्यात्। व्यापारलक्षणं व्यापारे संघटते, को दोषः? व्यापारसामान्यस्य लक्षणप्रसङ्गे धात्ववाच्यव्यापारेऽपि तल्लक्षणसत्त्वे दोषाभावात्। यद्युच्यतेक्रयणादेः पच्-धात्वर्थव्यापारे निवेशे क्रयणादिदशायामपि पचतीति प्रयोगापत्तिरिति तन्न। बुद्धिविषयत्वोपलक्षिताधिश्रयणाद्यधःश्रयणान्तेष्वेव पच्-धातोः शक्तिः स्वीक्रियते। तस्मात् क्रयणादेः परम्परया फलजनकत्वेऽपि पचतिव्यापारघटकत्वाभावात् क्रयणस्थले पचतीति प्रयोगः नैव कर्तुं शक्यते।[43]

शास्त्रिणो मतम्

शास्त्रिमहोदयोऽपि तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः व्यापारः इति धात्वर्थव्यापारस्य लक्षणमिदं खण्डयति। तेनोच्यते बुद्धिविषयत्वोपलक्षिताधिश्रयणाद्यधःश्रयणान्तेष्वेव पच्-धातोः शक्तिरित्युच्यते तत्स्वीकारे प्रमाणाभावः। व्यापारसामान्यलक्षणे यदि धात्वर्थव्यापारातिरिक्तव्यापारेऽपि लक्षणं संगच्छते तत्र को दोषः। यत् पंचोलिनोक्तम् तत्रापि शास्त्रिमहोदयेनोक्तं यत् फलव्यापारयोर्धातुरिति धातुवाच्यव्यापारस्यैव लक्ष्यत्वेनाभिमतत्वात् लक्ष्यातिरिक्तव्यापारलक्षणे व्यापारलक्षणं न व्याप्येत। तज्जन्यत्वे सति इति लक्षणं न धात्वर्थव्यापारस्य। पाको भवति भविष्यति इत्यादिप्रयोगेपु पाकस्यैव कर्तृत्वस्थले पाकक्रियायां तल्लक्षणस्याव्याप्तेः। अतः दुर्निरूप एव व्यापारस्येदं लंक्षणम्। एतादृशव्यापारलक्षणस्वीकारे पचतीत्यस्य अन्तिमाग्निसंयोगे पचतीति प्रयोगो भविष्यति। न

तु अधिश्रयणादौ तस्य प्रयोगो भविष्यति। यद्युच्यते तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वमित्यत्र जनकत्वेन प्रतीयमानत्वमिति जनकपदस्यार्थः क्रियते तदा नोक्तदोषः, तदपि न वक्तुं शक्यते। यतोहि प्रतीतिजनकत्वेन प्रतीतिविषयस्य नियतरूपस्य कस्याप्यर्थस्याभावात्। अधिश्रयणादीनामन्तिमाग्निसंयोगेनान्यथासिद्धतया विक्लित्त्यजनकत्वाच्च। अतः धात्वर्थव्यापारस्य तज्जन्यत्वे सति...... इति लक्षणं नैव स्वीकर्तव्यम्। तत्र यल्लक्षणं भूषणकारेणोक्तं तदेव वरम्।[44]

उपसंहारः

प्राच्यैः धातोः फले व्यापारे च खण्डशः शक्तिः स्वीक्रियते। नव्यैः फलविशिष्टव्यापारे व्यापारविशिष्टे फले च शक्तिः निरूप्यते। प्राच्यमते गौरवमापादयद्भिर्यन्नव्यैरुच्यते शाब्दबोधे कार्यकारणद्वयकल्पनरूपं गौरवं तत्र प्रभाकारेण उक्तम् यत् प्राच्यमते कर्तृकर्मप्रत्ययस्थले व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्य सत्त्वात् उपर्युक्तगौरवं न युक्तियुक्तम्। तत्र पेरिसूर्यनारायणशास्त्रिमहोदयः प्रभाकारमते अरुचिं प्रदर्शयन्नाह यत् प्राच्यमतेऽपि कर्मकृत्प्रत्ययस्थले फलमुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्य स्वीकारात् प्राच्यैः शाब्दबोधे कार्यकारणद्वयभावकल्पनं स्वीकरणीयम्, अतः अस्ति गौरवम्। तथैव व्यापारलक्षणे यद्भूषणकारेणोक्तम्-'व्यापारस्तु भावनाभिधा साध्यत्वेनाभिधीयमाना क्रिया' तत्र व्यापारलक्षणे समागतसाध्यत्वं नाम किमिति प्रश्नमुद्भाव्य क्रियान्तराकांक्षानुत्थापकतावच्छेदकं साध्यत्वमिति उत्तरितम्। तत्र साध्यत्वविषये नागेशेनोक्तम् - साध्यत्वं नाम निष्पाद्यत्वम्। विषयेऽस्मिन् शास्त्रिणा प्राच्यनव्ययोः मते अभेदं प्रतिपादयता साध्यत्वं नाम क्रियान्तरा.......... उत्पाद्यत्वमिति भूषणकारदृष्ट्या स्वसिद्धान्तः स्थापितः। पञ्चोलिना यद्धात्वर्थव्यापारस्य तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः इति व्यापारलक्षणं स्वीकृतम्, तदपि शास्त्रिमहोदयेन खण्डितम्। पत्-धातुमभिलक्ष्य यन्नागेशेन फलस्य लक्षणं कृतं - तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वं इति तल्लक्षणं समर्थयन् शास्त्रिमहोदयः स्वलक्षणं सम्पाद्य पत्-धात्वर्थविषये दर्पणप्रभाकारोक्तमतं चिन्तयन् नागेशाभिमतं पत्-धात्वर्थ विभागजन्यसंयोगः विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापारश्चेति स्वीकृतवान्। वस्तुतः शास्त्रिमहोदयः बहुषु स्थलेषु स्वनूतनविचारान् उद्भावितवान्। किञ्च तान् विचारान् निबन्धेऽस्मिन् दातुं न समर्थाः वयम्। यदल्पधिया धात्वर्थविषयः अवगतः स एव अत्रोपस्थापितः **इति शम्।**

सन्दर्भाः

1. वै.भू.सा.का-2, पृ. 11
2. वै.भू.सा.प्रभा., पृ. 11
3. पा. 3.4.69
4. पा. 3.2.123
5. पा. 3.2.115
6. पा. 1.4.22
7. पा. 1.4.21
8. वै. भू., पृ. -36,37
9. वै.सि.ल.म., पृ. 14
10. वै.भू.सा.प्रभा., पृ. 13
11. त.द.वै.भू.सा, पृ. 13
12. त.द.वै.भू.सा, पृ. 13
13. प.ल.म, पृ. 127
14. प.ल.म, पृ. 127
15. वै.सि.म., पृ. 49
16. प्रौ.म.श.र., पृ. 922,923
17. वै.भू.सा.द., पृ. 209
18. वै.भू.सा.द., पृ. 209
19. वै.भू.सा., पृ. 168
20. वै.भू.सा.द., पृ. 209
21. वै.भू.सा.द., पृ. 209
22. वै.भू.सा.प्रभा., पृ. -208
23. त.द.वै.भू.सा., पृ. 17
24. त.द.वै.भू.सा., पृ. 18
25. त.द.वै.भू.सा., पृ. 14
26. वै.भू.सा, पृ. 15
27. वै.भू.सा., पृ. 19
28. वा.प.तृ.का.क्रि.स.का-41, पृ. 444
29. वा.प.तृ.का.क्रि.स.का-1, पृ. 427
30. वै.भू.सा, पृ. 18

31. वा.प.तृ.क्रि.स. कारिका-47, पृ. 498
32. प.ल.म., पृ. 129
33. प.ल.म., पृ. 148
34. वै.सि.मं., पृ. 4
35. म.भा.अ-1,पा-3, सू.1,पृ. 169
36. वै.सि.ल.म., पृ. 23
37. प्रभा., पृ. 18
38. वै.भू.सा.द., पृ. 18
39. दर्पण:, पृ. 18
40. त.द.वै.भू.सा., पृ. 28
41. वै.भू.प्रभा, पृ. 15।
42. वै.भू.प्रभा, पृ. 15
43. वै.भू.सा, द. पृ. 16
44. तत्त्व.द.वै.भू.सा, पृ. 20

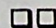
सङ्केताक्षराणि

1 वा.प.तृ.क्रि.स.का.पृ. – वाक्यपदीयतृतीयकाण्डक्रियासमुद्देशकारिकापृष्ठ
2 प्रौ.म.श.र – प्रौढमनोरमाशब्दरत्न
3 वै.सि.ल.म – वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा
4 प.ल.म – परमलघुमञ्जूषा
5 वै.भू.सा – वैयाकरणभूषणसारः
6 वै.भू.सा.द – वैयाकरणभूषणसार, दर्पणव्याख्या
7 वै.भू.सा.प्रभा – वैयाकरणभूषणसार-प्रभा
8 म.भा.अ.पा.सू – महाभाष्यम्, अध्यायः पादः सूत्रम्
9 त.द.वै.भू.सा – तत्त्वदर्शिनी टीका सहितो वैयाकरणभूषणसारः।

सन्दर्भ-ग्रन्थाः

1. वैयाकरणभूषणसारः, श्रीमत्कौण्डभट्टविरचितः प्रभादर्पणव्याख्योपेतः, प्रभाव्याख्याकारः सम्पादकश्च वैयाकरणाचार्यः श्री बालकृष्णपञ्चोली, चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी तृ.सं.वि.सं.2063, सन् 2006 तमे वर्षे पुनः प्रकाशितः।
2. नागेशभट्टविरचितवैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, सम्पादकः डॉ. कालिकाप्रसादशुक्लः, प्रकाशनम्- सम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालयः 2034 तमे वैकाब्दे, 1899 तमे शकाब्दे, 1977
3. आचार्य भर्तृहरिप्रणीतम् वाक्यपदीयम्, तृतीयकाण्डम्, द्वितीयो भागः, व्याख्याद्वयोपेतम्, सम्पादकः पद्मश्री पं. रघुनाथशर्मा, प्रकाशनम् – सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 1977
4. नागेशभट्टविरचितवैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, व्याख्यात्रयोपेता, द्वितीयो भागः, सम्पादकः श्री रामप्रसादत्रिपाठी, प्रकाशनम्- सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, 1977
5- Tattvadarṣinī, A commantary on Mahamahopadyaya Kauṇḍ Bhaṭṭa's Vaiyākaraṇa Bhūṣaṇasāra. Commetator Sh. Pari Suryanarayan Shastri, Vijaya Nagaram,1978.
6. श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिमुनिविरचितं पातञ्जलं महाभाष्यम्, प्रथमोऽध्यायः, संस्कर्ता आचार्य श्री गुरुप्रसादशास्त्री, सम्पादकः – डॉ. बालशास्त्री, विक्रमाब्दः, 2044. वाराणसी।
7. महामहोपाध्यायश्रीमद्भट्टोजिदीक्षितविरचिता प्रौढमनोरमा, टीकात्रयोपेता-अव्ययीभावान्तो भागः, प्रकाशकः- चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, द्वितीयसंस्करणम्-वि. सं. 2051.
8. नागेशभट्टकृता परमलघुमञ्जूषा, सम्पादकः व्याख्याकारश्च डॉ. कपिल देव शास्त्री, प्रकाशनम्- कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालयः, 1975.

● **सहायक-आचार्यः, व्याकरणविभागः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, लखनऊपरिसरः, गोमतीनगर, लखनऊ (उ.प्र.)**



Quality of Life and Behavioural Science in Ancient India

Khagendra patra

(प्राचीन-भारते जीवनस्य किदृशी गुणवत्ता आसीदिति विषये चर्चा आलेखेऽस्मिन् उपलभ्यते। विज्ञानेन सम्बद्धोऽयं लेखः अस्मान् वास्तविक-जीवनेन परिचाययति। व्यवहारो हि अस्मभ्यं निम्नोच्चजीवन-स्तरं प्रददाति। अस्माकं धर्मग्रन्थेषु नीतिग्रन्थेषु चोक्तमस्ति यत् मनुष्यः स्वव्यवहारेण मित्राणि शत्रूंश्च निर्माति। मनुष्यस्य व्यवहारः गुणत्रयाश्रितोऽस्ति। पातञ्जलयोग-दर्शने चाणक्य-नीतौ, वेदे, मनुस्मृतौ तथा अन्येषु स्मृतिग्रन्थेषु च मानवस्याचारविचार-सम्बद्धः प्रसङ्गः द्रष्टव्यः।)

The meaning of the term 'Quality" is the standard or value of everything in the universe. So, 'Quality of life' may be defined as the developed condition of life resulting from the combination of the effects of various factors such as education, health, happiness and peace etc. According to World Health Oraganisation, 'Quality of life' is based on the standard of living which includes economic condition, level of housing, sanitation, health, education, social status and entertainment etc.[1] It can be evaluated by assessing one's feeling of happiness based on the level of satisfaction and gratification attained by fulfilling various desires or requirements. Thus, possession of money and material wealth is called quality of life since material gain provides comfort by developing the standard or value of living. But one may not be fully satisfied and happy in true sense by accumulating material wealth because real quality of life is based on one's inner peace and satisfaction which originate from very good human behvaiour.

However, it has been observed that some wealthy persons are not happy since they are not liked by others due to their inability in managing conflicting situations and ignorance about effective behavioural science. Sometimes they fail to achieve their organizational goal or target and hence they become the victim of stress discords. the quality of life can be maintained by eradicating such problem. For this purpose the knowledge of 'Behavioural Science" is very much helpful. It prevents stress disorders by guiding about the effective technique of good manner between two agencies like parents and children, teacher and students, manager and the members of his organization etc. We get many ideas in this regard from *yoga* and relevant Sanskrit texts. Thus, it is proposed here to throw some light on "Quality of life and Behavioural Science in Ancient India" with the help of *Pâtañjala-yoga-Darśana* and relevant Sanskrit writings.

Qualitaitive life can contribute for the prosperity of any individual and organization. It depends upon several factors. One of them is the techniques of effective behaviour. Here a question may arise : How Behavioural Science helps for qualitative life and prosperity ?

To answer this question, anciet Indian sages opine that one's friendly behaviour with all other positive attitude can easily influence and motivate people to take the responsibility for achieving goal and prosperity which is a party of qualitative life. On the other hand, bad manner of an individual cannot impress others because it creates enemity leading to adversity and failure. Everybody should be very careful for his/her own behaviour, because, either friend or enemy is created by one's behaviour. To indicate these two opposite creating power of behavioural Science, it is rightly said :

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा।।

Friendship as one of the powerful aspects of good manner can open the door for quality of life. Thus, Behavioural Science may be defined as a systematic way of human behaviour which create and maintains a very good understanding among various relations – be it wife and husband/parents and children/students and teacher/manager and workers/ customers and businessman / leader and followers/ speaker and listeners / two neighbours/ friends or two colleagues etc.

Quality in Behaviour & Quality of Life :

Quality in human behavior can promote quality of life. It has been analysed by ancient Indian Sages through the term of Guṇa. According to them *Guṇa* or Quality is of three types: 1. *Sâttvika*, 2. *Râjasika*, 3. *Tâmasika*. These three Guṇas are the sources of three levels of quality in human behaviour; i.e. Higher, Middle & Lower. *Sāttvika Guṇa* is the source of Higher level of behaviour which is the interanal means for promoting the quality of life, because it creates a peaceful envirnment in the society to achieve any particular goal. On the other hand *Râjasika* and *Tâmasika Guṇa* are responsible for social conflict and behavioural disorders resulting lower quality of life. Any aspirant individual should have the idea about these two sources of adversity so that he/ she can avoide the same for protecting the the quality of life. So let us have an idea about the concept of these three traditional *Guṇas* or qualities to make one's behaviour effective in the way of achieving goal and prosperity.

i. Sāttvikaguṇa

According to Manu, the auther of *Dharmaśāstra*, the people of *sāttvika guṇa* have much interest for regular practice of *Veda* (education), *tapasyā* (Austerity), cleanliness, self-control and self- study etc.[2] *Sāttvika Guṇa* is the internal source of *Sāttvika* behaviour or sound manner. It is based on *Sāttvika* Buddhi, *Sāttvika Jñāna* and *Sāttvika Karma*.

The power of distinguishing between right and wrong, understanding the value of equality among all individuals; and impartiality in group behavior are known as *Sāttvika Buddhi*, *Sāttvika Jñāna* and *Sāttvika karma* respectively.[3] .

(अ) प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी। (भगवद्गीता-18/30)

(ब) सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।

A manager should be aware of *Rajo guṇa* and *Tamo guṇa*, because these two factors of behavior are responsible for the behavioural conflicts/ problems.

ii. Rajoguṇa

Rajo-guṇa is the source of false behaviour and momentary activities. According to Manu *Rajo-guṇa* has two characteristics, (i) interested in any work at the beginning but lack of patience to complete the same and (ii) following negative path of behaviour like telling lie and extreme involvement in sensual enjoyment. [4] *Rājasika Guṇa* is the source of *Rājasika* which originates from *Rājasika Buddhi, Rājasika Jñāna* and *Rājasika karma.*

Visualizing and justifying negative aspects in every good activity, knowledge of partiality in group behaviour, and doing everything out of imbalanced ego with selfish attitude are called *Rājasika Buddhi, Rājasika Jñāna* and *Rājasika Karma* respectively.[55]

(अ) यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।। (भगवद्गीता- 18/31)

(ब) पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।

In any organization some people create problem in the way of progress and prosperity due to their *Tamo guṇa* or bad behaviour like stealing things, sleeping in the duty hour, quarreling with fellow workers etc. which are called grow due to such *tamo guṇa,* because, it creates, obstacles or darkness: in the way of progress. According to him, the absence of *Sattvaguṇa*, *Rajoguṇa* allow to arise *Tamoguṇa* which is the source of behavioural disorders.

(iii) Tamoguṇa :

Tamo guṇa is the source of life-style disorder, downfall of society and various health problems. All of negative attitudes are created by this evil element of human life. Some of it's characteristics are :

(i) Attitude of extreme greed, (ii) Laziness (iii) harsh behaviour (iv) involvement in gambling and (v) suspicious attitude etc.[6]

Tamo guṇa is the source of *Tāmasika* behaviour which originates from three sources like (a) *Tāmasika Buddhi* (b) *Tāmasika Jñāna* and (c) *Tamasika Karma.*

Confusion in distinguishing between right and wrong with the acceptance of unethical behaviour as the right way of human life, refusing the existence of Allmighty God and taking action without visualizing the consecuences and loss are called *Tāmasika Buddhi, Tāmasika Jñāna* and *Tāmasika Karma* respectively.[77]

(अ) अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

The behaviour of human being has been classified by Vyāsadeva into three and the performer of those behaviour are also known as (i) *Sāttvika kartā,* (ii) *Rājasika Kartā* and (iii) *Tāmasika kartā.*

(i) Sāttvika Kartā is free from attachment to ego, success and failure. He is equipped with the power of patience and courage in performing his duties and responsibility.[8]

(ii) Rājasika Kartā hankers after fruit of his action, likes to do harm others for achiving his goal, remains dirty or impure in mind, becomes greedy and feels happy and sorrow in success and failure respectively. [9]

(iii) The behaviour or Tāmasika Kartā is full of unlawful activity, cheating, laziness, giving trouble to fellow-men and vulgarity etc.[10]

Identification of *Guṇa*

Three types of *Guṇa* or quality in behaviour can be identified through their respective effects, So Manu says that the activity by doing which one experiences shame, doubt and fear is known as *Tamo guṇa*. His very words run as follows –

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम्।। (मनुस्मृतिः - 12/35)

The activities meant for fame are called *Rajoguṇa.*[11] The activity by doing which one does not feel shame, rather everybody appreciate for the same and the performer experience a sense of contentment is called *Sāttvika.*[12]

Though there are three types of *Guṇa* or quality yet the term quality symbolizes for *Sāttvika Guṇa* or merit aspects of everything : be it behaviour of human being or of all other creations of the universe. That is why 'Quality Management' advises to promote merit aspects by reducing demerits, impurities, defects and all sorts of negative manner. For this purpose Vedic Sages used to pray Sun God to take away the demerits (*Duritāni*) and to give only merit or quality.[13] It has already been mentioned that qualities in behavior like friendship, love and kindness etc. have the inner power to create a peaceful environment everywhere, be it in family or any organization. So every family or organization needs quality in the behaviour of it's members for prosperity through peaceful work environment.

Organizational Behaviour & Quality of Life :

So far as the organization is concerned all managers require the behavioral technique to make an impact on their subordinate colleagues for better output or profit. But some of them are seen frustrated and depressed when they fail to influence their employees for better output. As a result they become the victim of stress disorders. To overcome their frustration and stress and to achieve the organizational goal they have to acquire knowledge about the quality in organizational Behavior. Here a question arises : What is Organizational Behaviour and how does it help for promoting the quality of life ?

To answer these questions Organisational behaviour may be defined as the effective group behaviour of the managers that can motivate others to create mutual co-operation for achieving the organizational goal/ benefits by :

(i) understanding the value of tolerance and friendly relationship between all members;

(ii) improving inter-personal relations for working together with a family atmosphere;

(iii) motivating and inspiring others to add extra quality in the skill of discharging duty;

(iv) creating a peaceful work environment for better output.

Organizational Behaviour is beneficial for the Oraganization and it's employees through a very good understanding that Oraganization and people (It's employees) are inter dependent, because Organization need man power/ people for benefits/ profits of it's investment. And at the time people need any Oraganisation to earn their livelihood. So mutual goal/ intrest managers and teir subordinate employees are required to behave with mutual co-operation considering themselves as the members of one big family. So Indian spiritual teachers have rightly prescribed an ideology that generous people visualize all employees of an Oraganization equally with a sense of brotherhood considering them as the members of one big family.[14]

The quality in Oraganizational Behaviour can be promoted by utilizing the ethical techniques of Behavioural Science as found in *Pātañjala Yogadarśana*, *Cāṇakyanīti*, *Vedas* and *Manusmṛti* etc.

Behavioural Science & Astāṅgayoga :

Maharṣi Patañjali has prescribed two steps of Yogic ethics i.e. *Yama* and *Niyama* by practising which one can purify his/ her mind and behaviour. He could realize that one can create a peaceful state in both mind and society through these Yogic ways of behaviour which include truthfulness, non-injury, non-stealing, cleanliness and contentment etc. Quality of life depends upon the sincere practice of these Yogic ethics of behavior. [15] The negative behaviour like *hiṃsā* or violence, *mithyā* or falsehood, *steya* or stealing other's property etc. of an invidual may creats hindrances in the way of progress and prosperity in the life of individual and organization. In fact, the falsehood in behaviour of an individual encourages for telling lie and carelessness in performing duty. If a member of an organization/ institution does not perform his duties sincerely and honestly every organizational goal cannot be attained. So, for the prevention of such adversity every organization has prescribed certain code of conduct or standing Order which guides the employees to follow the principles of '*Vidhi* and *Niṣedha*' or 'Do's and Don'ts' An employee can be supported with good CCR (Confidential Conduct Report) by his/ her boss for promotion if he behaves according to the principles of good conduct like performing duty sincerely and honesty, speaking truth, paying respect to senior colleages etc. On the contrary he may not get promotion if he behaves negatively i.e. showing disobedience and dishonesty, giving false information about his qualification, and other activities, quarrelling with fellow employees, neglecting duty etc. So in addition to *Yama* and *Niyama* one may also follow other Yogic path of behaviour like friendship, kindness, pleasing attitude and avoidance with four types of collagues like Boss, subordinate, honest colleagues and dishonest colleagues respectively. [16] This Yogic method of behaviour creates a peaceful work environment which helps for the growth of any organization.

Chāṇakya & Ethics of Behaviour :

Chāṇakya, a great scholar of Behavioural Science, has advised to practice the ethics of behaviour as follows :

i. Behave generously with own family members, relatives, neighbours colleagues and fellow-men. Never behave them harshly.

ii. Be kind enough to own subordinates, juniors and servants who are supposed to be taken care of through timely guidance and help.

iii. Be cruel with dishonest person.

iv. Behave friendly with honest person.

v. Show own high status to the narrow-minded people.

vi. Behave politely with scholars, elders and boss/ authority.

vii. behave bravely with enemy.

viii. Forgive the elders/ seniors for their short-comings.[17]

Behavioural Formula to Influence People :

The objective of Behavioural Science is to influence others for achieving certain goal. So any one may be interested to know its method. To guide in this regard our ancestors have advised that the best method of behaviour for influencing people is to create friendship but not to blame others, because by blaming others one creates many enemies. As a result, one may not achieve his/ her goal. In fact, an affected individual may think and plan to do harm to that person who blames him/her. So everybody should have the foresight and far-sight for visualizing the consequence of his own activity or behaviour that if he blames or criticizes a person then that person will also blame him and will do him to save his self-esteem. In the long run both of them will be enemy to each other. Thus, the best way for influencing people through own behaviour is to withdraw own mind and tongue from the tendency of blaming/ criticizing others or complaining against others. [18] This formula of influencing people is also helpful for creating a peaceful environment in spiritual organization.

The objective of spiritual life is to experience eternal peace through God-realization for which meditation is required. But in spiritual organizations some *gurus* use to blame each other which do not help for meditation and God-realization but it creates communal conflicts. To prevent such conflicts *Ādiśaṇkarācārya* has rightly advised not to blame others while practising meditation for God- realization. [19]

आशां विहाय परिहृत्य परस्य निन्दां,
पापे रतिं च सनिवार्य मनः समाधौ।
आदाय हृत्कमलमध्यगतं परेशम्।

According to him, the mind of any spiritual aspirant becomes disturbed and impure by finding other's fault. So it is wise not to blame others if one wants to experience eternal bliss through God realization.

Friendship : An Yogic Way of Behavioural Science :

Friendship is an *Yogic* way of *behaviour* for quality of life. So Vedic Sages suggest to behave friendly with everybody through friendly eyes. Their very words run as follow :

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। (यजु. 36/18)

To create and to maintain friendship any aspirant individual should promote positive attitude by visualizing positive aspects or merit points of every fellow- man through both eyes and ears. Visualizing positive aspects of anything is called *Bhadra* or auspicious. So Vedic sages say :

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेमहि देव हितं यदायुः।। (यजु. 25/11)

Wise Behaviour & Worthy Life :

Quality of life is the worthy life. It depends on wise behaviour. This wise behaviour helps to make one worthy of his/ her position-be a son or wife or friend. For example : A son becomes worthy son if he gives pleasure to his parents through obedience and other good manner. An wife becomes worthy wife if she wishes and assists for the prosperity of her husband. One becomes a true friend if he/she shares equally in the time of both ups and down of his/her friend. According to Bhartṛhari the above way of sound behavior can make worthy of the relation between children and parents, wife and husband and two friends.[20] In this regard Chāṇakya also prescribes that (i) regards (devotion) for father, (ii) caring attitude for son, (iii) faithfulness and (iv) giving solace are the positive qualities in the behaviour of a son, a friend and an wife respectively. [21]

Love and Quality of Life :

Love is one of the effective behavioural teachniques for maintaining the quality of life because without this technique or human value neither a family nor an organization can prosper. In fact, the foundation of organizational behaviour starts from family where everbody behaves with love and affection by proper regards to the emotional needs of each other. This is a way of exchanging pleasure and happiness among all members of a family. A child needs affection from his/ her perents. An wife needs love from her husband. So it is the behavioural duty of parents and husband to fulfill this emotional need of children and wife respectively. By doing so one can promote heavenly environment in his/her home. Thus, Jagannath Das, a renowned author of Oriyā. *Bhāgavata* has rightly said that a home become a heaven where only love overflows from the heart of every members.[22] In the absence of such love or key of sound behaviour family becomes ruined. So it has been observed that in spite of very good economic condition some families have lost peace and happiness because sometimes newly married girls are either tortured or misbehaved for the want of excess dowry. Such an unpleasant situation leads to stress, sorrow and sufferings.

To prevent such social suffering due to behavioural disorder and to attain heavenly happiness Maharṣi Manu has prescribed that everybody must pay due regards to the female members of the society, be in any family or in any organization, because God showers his blessing to that family/ society where women are paid due regards. On the other hand, all activities become fruitless in that family where women are tortured or insulted.[23]

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

To create a healthy society Indian sages have advised to pay regards to woman considering them as the image of own mother. [24] Such a respectful attitude towards women helps for the practice of *brahmacarya* which is one of the Yogic techniques to maintain the quality of life.

In addition to the above behaviour for women Patañjali and other Indian Sages have advised everybody to follow the Yogic methods of behaviour like *Ahimsā, Satya, Asteya* and *Indriyanigraha* (control of sense organs) which are considered as *Dharma* by Maharṣi Manu.[25] Any aspirant individual; be a manger or worker, student or teacher, parents or children, leader or his followers can maintain the quality of life through the practice of the above principles of Behavioural Science.

References

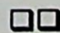
1. Park k, Preventive and Social Medicine, p.16, 15th
   Edition : 1997, m/s Banarsidas Bhanot Publishers, Jabalpur, India
2. वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
   धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम्।। (मनुस्मृतिः- 12/31)
   अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्। (भगवद्गीता- 18/20)

(स) नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
   अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते।। (भगवद्गीता-18/23)

4. आरम्भरूचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
   विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्।(मनस्मृतिः -12/23)
   वेत्ति सर्वेषु भूतेष तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।(भगवद्गीता- 18/21)
   (स) यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
   क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।। (भगवद्गीता-18/25)
6. लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
   याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्।। (मनुस्मृतिः- 12/33)
   सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। (भगवद्गीता- 18/25)
7. अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
   मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।। (भगवद्गीता - 18/25)
8. मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
   सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।। (भगवद्गीता- 18/26)
9. रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
   हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः। (भगवद्गीता- 18/27)
10. अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैकृतिकोऽलसः।
   विषादी दीर्घसूची च कर्त्ता तामस उच्यते।। (भगवद्गीता- 18/28)
11. येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलम्।
   न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम्।। (मनुस्मृतिः- 12/36)
12. यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
   येन तुष्यति चात्माऽस्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम्।। (मनुस्मृतिः - 12/37)

13. ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव।। -(यजु. 30/3)
14. अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।
15. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। (पात. समाधिपाद - 2/30)
16. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनाश्चित्तप्रसादनम्।। (पात.समाधि. 1/33)
17. दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने।
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्य शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धृष्टता,
इत्थं ये पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः।। (चाणक्यनीति -12/3)
18. यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादशस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय।। (चाणक्यनीति- 14/14)
वाराणसीपुरपतिं भज विश्वनाथम्। (महर्षि व्यासदेव, विश्वनाथाष्टकम्-8)
20. यः प्रीणयेद् सुचरितैः पितरं च पुत्रौ,
यद्भर्त्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं य-
देतत् त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते। (नीतिशतकम्- 60)
21. ते पुत्रा ये पितुर्भक्ताः स पिता यस्तु पोषकः।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः सा भार्या यत्र निवृतिः।। (चाणक्यनीति-2/4)
22. सरग समान आहा अटे सेहि घर,
परस्पर स्नेह यहिँ थाए निरन्तर।। (ओड़िआ भागवत, जगन्नाथदास)
- यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। (मनुस्मृतिः - 3/56)
23. जामयो यान्ति गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः।। (मनुस्मृतिः - 3/58)
24. मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।।
25. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः। (मनुस्मृतिः - 10/63)

● **A-39, Sector-5, Rourkela – 769002, Orissa**



समयुगीन संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यदोष
(पूर्ववर्ती संस्कृत-काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में)

पवन कुमार

(The काव्य-s cannot be flawless, because, they are afterall composed by human beings. So the faults in *Kāvyas* are inevitable. The later *Ācāryas* have analysed the common faults of काव्य-s. They have paid much attention towards the divisions of faults. The paper tries to establish the गुणापकर्षता as the fault of *Kāvya*.)

उन्नीसवीं शताब्दी से बाद के आचार्यों के काव्यदोषविषयक विचारों के प्रसङ्ग में हम देखते हैं कि दोष-सामान्य की अवधारणा के सम्बन्ध में हरिदास-सिद्धान्त 'वागीश' (अपकर्षका: काव्यस्य दोषा:) तथा छज्जूरामशास्त्री 'विद्यासागर' (काव्यापकर्षका दोषा:) ने प्राय: एक समान लक्षण करते हुए काव्य के अपकर्षकों को दोष माना है। इनके लक्षणों को विश्वनाथ कविराज (वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापर्षका:)[1] तथा नृसिंह कवि (दोष: काव्यापकर्षस्य हेतु:)[2] आदि आचार्यों के दोष-सामान्य के लक्षणों से प्रभावित मानकर उनकी सरणि में रखा जा सकता है। सीताराम चतुर्वेदी ने 'गुणापकर्षकता' को दोषसामान्य का लक्षण (गुणापकर्षका दोषा:) बताया है जिसका अभिप्राय है कि आकर्षणोत्पादक तत्त्वों (गुणों) के अपकर्षक ही दोष हैं।[3] आशय की दृष्टि से आचार्य चतुर्वेदी को वामन (काव्य-सौन्दर्याक्षपहेतवस्त्यागाय दोषा विज्ञातव्या . . .)[4] तथा जयदेव *(. .. ..येन सक्षता रमणीयता। ......दोषमुद्घोषयन्ति तम्)*[5] . *स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता। शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम्*, से प्रभावित माना जा सकता है, किन्तु वामन व जयदेव से श्री चतुर्वेदी का भेद यह है कि वामन व जयदेव के कथनानुसार दोष सीधे काव्यसौन्दर्य या रमणीयता को हानि पहुँचाते हैं, जबकि श्री चतुर्वेदी के मत में दोष काव्याकर्षण के उत्पादक तत्त्वों को हानि पहुँचाते हैं। रेवाप्रसाद ने 'अपूर्णता'[6] या 'अनवद्यसकलावयवता'[7] को दोष माना है। उनके द्वारा कथित दोष का यह स्वरूप हरिदास सिद्धान्त 'वागीश' के इस विचार से तुलनीय है कि जिन अपकर्षक तत्त्वों के वर्जन के द्वारा ही निर्म्मीयमाण काव्य अपने कार्यक्षम आत्मस्वरूप को धारण करता है वे दोष होते हैं (येषामपकर्षकाणां वर्जनेन निर्म्मीयमाणं खलु काव्यं कार्य्यक्षममात्मस्वरूपं धत्ते, तेषां दोषाणामेव.....)[8]। राधावल्लभ ने काव्य के लिए अनपेक्षित या अनावश्यक वस्तु को निवारणीय या 'वर्ज्य-तत्त्व' माना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोषों को आचार्यों द्वारा त्याज्य, वर्ज्य या हेय ही माना गया है।

काव्य के स्वरूप या लक्षण में 'वर्ज्य तत्त्व या दोष' की स्थिति अथवा भूमिका की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि 20वीं शताब्दी से लेकर 21वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के जिन काव्यशास्त्रियों के दोषविचारों की चर्चा ऊपर की गई है उनमें से किसी ने भी 'अदोषता' को सीधे-सीधे अपने काव्यलक्षण में सम्मिलित नहीं किया है। हाँ, राधावल्लभ त्रिपाठी ने 'निर्दुष्टता' को अपने काव्यलक्षण में प्रकारान्तर से संगृहीत अवश्य माना है।[9] शिवजी उपाध्याय ने भी 'निर्दुष्ट' काव्य को ही सुन्दर माना है।[10] रेवाप्रसाद ने अपने

काव्यलक्षणों[11] में 'अदेयता' का उल्लेख भले ही न किया हो, किन्तु उनकी दोषाभाव (अपूर्णतैव दोषस्तद् दोषाभावश्च पूर्णता)[12] की अवधारणा[13] से स्पष्ट है कि उन्हें काव्य में दोषों का प्रागभाव ही अभीष्ट है। इस प्रकार इन आचार्यों ने अपने-अपने काव्यलक्षणों में 'अदोषता' का सीधे-सीधे उल्लेख भले ही न किया हो, किन्तु प्रकारान्तर से वे 'अदोषता' का अपने काव्यलक्षण में उल्लेख करने वाले भोज, मम्मट, मङ्खक, हेमचन्द्र, जयदेव, राजचूड़ामणि दीक्षित, अच्युतराय 'मोडक' तथा श्रीकृष्ण कवि आदि आचार्यों के 'अदुष्ट या निर्दुष्ट की काव्यता' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस विषय पर हरिदास सिद्धान्त 'वागीश' के विचार अस्पष्ट से हैं।[14] छज्जूराम शास्त्री 'विद्यासागर' का मत है कि यद्यपि दोष सर्वात्मना त्याज्य या वर्जनीय हैं तो भी सर्वथा निर्दुष्ट काव्य की उपलब्धि असम्भव ही है।[15]

'सन्ति दोषाः शतं माघे रघुवंशकिरातयोः।
नैषधे च महाकाव्ये नवीनेषु तु कथा।' इति

अस्तु, विद्यासागर 'अदोषत्व' को अपने काव्यलक्षण में स्थान तो नहीं ही देते हैं, साथ ही 'अदोषत्व' को काव्यलक्षण में स्थान देने के विचार के विरोधी विश्वनाथ कविराज-आदि आचार्यों के मत का अनुसरण[16] भी करते हैं। इस दृष्टि से वे भरत[17], भट्टनायक[18] तथा विश्वनाथ कविराज[19] आदि आचार्यों की सरणि में आते हैं।

सीताराम चतुर्वेदी द्वारा प्रतिपादित 'दोषाङ्कुश' की अवधारणा, व्यवहार एवं चर्चा के स्तर पर पूर्ववर्त्ती समीक्षा एवं काव्यशास्त्र में भी (चन्द्रालोक में) भले ही उपलब्ध रही हो किन्तु संस्कृत-काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में इसे परिभाषित एवं प्रतिपादित किया जाना एक अभिनव एवं व्यावहारिक प्रयोग है। दोष होने पर भी जिन उपायों से उनका परिहार किया जा सके उन्हें 'दोषाङ्कुश' कहा जाता है। सैद्धान्तिक विमर्श की दृष्टि से इस बिन्दु पर रेवाप्रसाद के 'काव्यदोष-प्रध्वंसाभाव विरोधी विचार एवं युक्तियाँ'[20] स्मरणीय एवं तुलनीय हैं।

बीसवीं शताब्दी से लेकर इक्कीसवीं शताब्दी के अरुणोदय काल के कई आचार्यों ने वर्ज्य-तत्त्व या दोष के व्यवस्थित निरूपण में रुचि नहीं दिखाई है। ब्रह्मानन्द शर्मा, रमाशङ्कर तिवारी, शङ्करदेव 'अवतरे', रहसविहारी द्विवेदी तथा राजेन्द्र मिश्र 'अभिराज' आदि इसी श्रेणी में आने वाले आचार्य हैं। हाँ, हरिदास सिद्धान्त 'वागीश' और छज्जूराम शास्त्री 'विद्यासागर' ने काव्यदोषों का भेद-प्रभेदों सहित विवरणपूर्वक प्रतिपादन अवश्य दिया है। सीताराम चतुर्वेदी ने भी दोष एवं दोषांकुश का प्रतिपादन किया है, किन्तु यह वागीश एवं विद्यासागर के प्रतिपादनों की तुलना में पर्याप्त संक्षिप्त है। रेवाप्रसाद ने केवल दोषसामान्य की अवधारणा के विषय में विचार किया है तथा उसके भेद-प्रभेदों आदि के विवरण-वर्गीकरण से अपने को दूर रखा है। शिवजी उपाध्याय ने वर्ज्यतत्त्व या दोष के विषय में प्रसङ्गवश ही अपने विचार व्यक्त किए हैं। राधावल्लभ ने यद्यपि अपने 'अलङ्कारसिद्धान्त' के 'वारणतत्त्व' के अन्तर्गत 'वर्ज्यतत्त्व' के विचार को भी अन्तर्भूत किया है किन्तु एतद्विषयक उनका विवरण- प्रतिपादन संक्षेप में एवं प्रसङ्गवश ही हुआ है। किन्तु इस सब के बावजूद समीक्ष्य काल-खण्ड के वर्ज्य-तत्त्व-विचार में आचार्यों ने परम्परा को साधते हुए कुछ नए प्रस्तुतीकरण दिए हैं।

सन्दर्भ

1. साहित्यदर्पणः, विश्वनाथ कविराज, शालिग्राम शास्त्री की विमला व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास, नवम संस्करण, 1977, पुनर्मुद्रण, 2004, प्रथम परिच्छेद, कारिका 3 का द्वितीय चरण, पृष्ठ 21
2. दोषः काव्यापकर्षस्य हेतुः। (नञ्जराजयशोभूषणम्, पृ. 33)
– आधुनिक संस्कृत-काव्यशास्त्र, आनन्द कुमार श्रीवास्तव, द्र.पादसन्दर्भ 63, पृ. 176 से उद्धृत
3. साहित्यानुशासनम्, सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्भा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला - 11, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1970, सूत्र 16 का पूर्वार्ध, पृ. 522। तत्रैव, सूत्र 15, पृष्ठ 496

4. ......काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतवस्त्यागाय दोषा विज्ञातव्या ......।
- काव्यालङ्कारसूत्राणि, वामन, काव्यालङ्कार-कामधेनु-टीका सहित, काशीसंस्कृत ग्रन्थमाला 2009, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1976, सूत्र 2.1.1 की उपक्रमवृत्ति, पृष्ठ 44
- चन्द्रालोकः, जयदेव, चौखम्भा सुरभारती ग्रन्थमाला -29, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण, 2005, द्वितीय मयूख, कारिका 1, पृ.19
6. अपूर्णतैव दोषस्तद् ....
- काव्यालङ्काकारकारिका, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्भासुरभारती स्टडीज-1, चौखम्भासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1997, कारिका 148 का उत्तरार्ध, पृष्ठ 222
- वहीं, कारिका 28 की वृत्ति, पृष्ठ 53
7. अनवद्यसकलावयवतैव हि पूर्णता।
(A) अनवद्यसकलावयवतैव हि पूर्णता। .... एवं च यदिदं सर्वावयवानवद्यत्वं काव्यस्य सैव तस्य पूर्णता। सा च स्वयंप्रकाशा सहृदयानाम्। नास्ति तत्रान्वक्षिकी-प्रतिपर्यनुयोगः। अनुभव एव तत्र परमश्चरमश्च। तामिमां पूर्णतामेवारूढं काव्यम् अदोषम्। अपूर्णता च विकलाङ्गता। सा च व्यक्तमेव दोषः।
- तदेव, कारिका, 148 की वृत्ति, पृष्ठ 223-24
(B) यह भी ध्यातव्य है कि रेवाप्रसाद ने 'अलङ्कार' को काव्य की आत्मा माना है तथा अलङ्कार का अर्थ अलंभाव किया है, जो कि 'पर्याप्तता या पूर्णतास्वरूप' होता है
(I) आत्मवानर्थसंघातविज्ञानं काव्यमिष्यते। आत्मा चालङ्कृतिः सा च पर्याप्तिः, तत्र हेतवः।।
- तदेव, कारिका 1 के वृत्तिभाग में स्थित संग्रहोपस्कारकारिका 3, पृष्ठ 7
(II) अलंभावो ह्यलङ्कारः स च सौन्दर्यतत्कृतोः।
विभक्तात्मा विभुर्जीवब्रह्मणोश्चिद्घनो यथा।। - तत्रैव, कारिका 28,पृष्ठ 52
(III) अलंभावोऽलंत्वम्। तच्च पर्याप्ततापरर्यायपूर्णतारूपम्
8. येषामपकर्षकाणां वर्ज्जनेन निर्म्मीयमाणं खलु काव्यं कार्य्यक्षममात्मस्वरूपं धत्ते, तेषां दोषाणामेव प्रथमं वर्णनौचित्यं ....
- काव्यकौमुदी, हरिदास सिद्धान्त 'वागीश', 'सिद्धान्त विद्यालय, 41-देवलेन, इटानी, कलिकाता' से भवेशचन्द्र भट्ठाचार्य द्वारा बङ्गाब्द 1362 में प्रकाशित, सूत्र 10.1 की वृत्ति, पृष्ठ 70
9. (A) लोकानुकीर्त्तनं काव्यम्।।
- अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्, राधावल्लभ त्रिपाठी, पण्डित बटुकनाथशास्त्री खिस्ते ग्रन्थमाला, पञ्चम पुष्प, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 2005, सूत्र 1.1.1, पृष्ठ 1
(B) अनुकीर्तनशब्दैः पुनराविष्करणम्। शब्दाश्च भवन्ति सार्थाः। इत्थमनुकीर्तनमिति पदेन निर्दुष्टयोः सगुणयोः सालङ्कारयो रसाभिव्यञ्जकयोश्च शब्दार्थयोः सङ्ग्रहः - वहीं, सूत्र 1.1.7-1. की वृत्ति , पृष्ठ 7
10. निर्गलद्रसनिर्व्युढं गुणालङ्कारसञ्चितम्। निर्दुष्ट-भावभूयिष्ठं काव्यसाहित्यमेव तत्।।
- साहित्यसन्दर्भः, शिवजी उपाध्याय, श्रीमती मीरा उपाध्याय द्वारा' 14-अध्यापक आवास, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित, प्रथम संस्करण, 1990, पञ्चम परिच्छेद (सौन्दर्य विमर्शः), कारिका 7, पृष्ठ 50
11. (I) आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना। अलङ्कृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला।
काव्यालङ्कारकारकारिका; रेवाप्रसाद द्विवेदी, कारिका 1, पृष्ठ 5।
(II) काव्यं ज्ञानम्, अलङ्कारस्तस्यात्मा मध्यमाभिधा। संविदव्यभिचारेण तत्रोपाधिश्च वाग्विदे।।
- तत्रैव, कारिका 178, पृष्ठ 262
12 . काव्यालङ्कारकारिका, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखाम्भासुरभारती स्टडीज-1, चौखम्भासुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1977, कारिका 178 का उत्तरार्ध, पृष्ठ 222
- काव्यालङ्काकारकारिका, रेवाप्रसाद द्विवेदी, कारिका 151, पृष्ठ 228
(II) प्रध्वंसो दोषपङ्कस्य काव्यकाये कृतस्थितेः। नैव सम्भाव्यते, तस्मिन् सति काव्यं नवं भवेत्।।
- तत्रैव, कारिका 153, पृष्ठ 230

(III) काव्यनिर्माणात् परं दोषपरीहारे दोषकङ्कविरहततया नूतनं तत् काव्यं भवते्, विनश्येच्च तद् यत्रासीत् दोष:। ततश्च प्रध्वंसाभाव एष काव्यप्रतियोगिक एव जायेत। सोऽयं शूलस्य परिहाराय शिरसश्छेद:।

\- तत्रैव, कारिका 152 की वृत्ति, पृष्ठ 230

13. दोषाभावोऽप्यसावत्र प्रागभावतया स्थित:। काव्यनिर्माण: पूर्व परीहारोऽस्य यन्मत्त:।।

14 . (A) येषामपकर्षकाणां वर्ज्जनेन निर्म्मीयमाणं खलु काव्यं कार्य्यक्षममात्मस्वरूपं धत्ते, तेषां दोषाणामेव प्रथमवर्णनौचित्यं ....।

\- तदेव, सूत्र 10.1 की वृत्ति, पृष्ठ 70

(B) तदेव, सूत्र 1.2 की वृत्ति, पृष्ठ 3

(C) काव्यकौमुदी, हरिदास सिद्धान्त 'वागीश', 'सिद्धान्तविद्यालय, 41-देवलेन इटाली, कलिकाता' से भवेशचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा बङ्गाब्द 1362 में प्रकाशित, दशमी कला, सूत्र 1, पृष्ठ 79

\- तदेव, कारिका 3.1 की वृत्ति,पृष्ठ 91

15. (A) ......तथापि सर्वथानिर्दुष्टकाव्यस्यासंभव एव .....।

\- साहित्यबिन्दु:, छज्जूराम शास्त्री 'विद्यासागर', मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1961, कारिका 3.1 की वृत्ति, पृष्ठ 91

(B) तथापि सर्वथा निर्दुष्टकाव्यस्यासम्भव एव यत्रेदमुच्यतेऽस्माभि:।

16. द्रष्टव्यं पादसन्दर्भ 1(B)A

17. न च किञ्चिद् गुणहीनं दोषै: परिवर्जितं न वा किञ्चित्।
तस्मान्नाट्यप्रकृतौ दोषा नात्यर्थतं ग्राह्या:।।

\- नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनि, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला 215, भाग-तृतीय, चौखम्भा संस्कृत-संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1983, सप्तविंश अध्याय, कारिका 4.6, पृष्ठ 336

18 . .... नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशा:, किन्तूपादेयतातारतम्यमेव कर्तुम्, तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च - 'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता। दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगम: स्फुट:।।' इति

\- साहित्यदर्पण:, विश्वनाथ कविराज, शालिग्राम शास्त्री की विमला व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास, नवम संस्करण, 1977, पुनर्मुद्रण 2004, कारिका 1.3 के पूर्व का वृत्तिभाग, पृष्ठ 15
टीका- is ascribed to हृदयदर्पण by **रसप्रदीप व प्रभाकर** (p. 3, Trivedi)

\- Sāhitya Darpana : P.V. Kaney, Motilal Banarasidass, Sixth Edition, 1974, Reprint 1995, Notes on Parichchhheda-I . 13

19. किञ्चैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्।

\- साहित्यदर्पण:, विश्वनाथ कविराज, शालिग्राम शास्त्री की विमला व्याख्या सहित, मोतीलाल बनारसीदास, नवम संस्करण, 1977, पुनर्मुद्रण 2004, कारिका 1.3 के पूर्व का वृत्तिभाग, पृष्ठ 14

\- ..... नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशा:, किन्तुपादेयतातारतम्यमेव कर्तुम्, तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य। उक्तं च -'कीटानुवद्धिरत्नादिसाधारण्येन काव्यता। दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगम: स्फुट:।।' इति

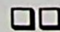
\- काव्यालङ्कारकारकारिका, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा सुरभारती स्टडीज-1, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1977, कारिका 153 का उत्तरार्ध, पृष्ठ 230

20. (I) प्रध्वंसो दोषपङ्कस्य काव्यकाये कृतस्थिते:।
नैव सम्भाव्यते, तस्मिन् सति काव्यं नवं भवेत्।।

(II) काव्यनिर्माणात् परं दोषपरीहारे दोपकलङ्कविरहिततया नूतनं तत् काव्यं भवेत्, विनश्येच्च तद् यत्रासीद् दोष:। ततश्च प्रध्वंसाभाव एष काव्यप्रतियोगिक एव जायेत। सोऽयं शूलस्य परिहाराय शिरसश्छेद:।

\- तत्रैव, कारिका 152 की वृत्ति, पृष्ठ 230

● राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय), लखनऊ परिसर,
गोमतीनगर, लखनऊ (उ.प्र.)



आधुनिक संस्कृत-गीतकारों की वैश्विक दृष्टि

जनार्दन प्रसाद पाण्डेय

(Sanskrit lyric is the popular genre of contemporary Sanskrit writings. Because, the modern Sanskrit lyrics are dealing with globalised issues and not the personal ones. No internal as well as external vision is out of its reach. It is full of worries because it does not believe in world-trade but on the principle of वसुधैव कुटुम्बकम्. Today Sanskrit lyricist is worried about the being in general. So he becomes upset for problems like terrorism, communalism etc. He tries to give justice to everyone who suffers through his lyrics. The paper illustrates some of the leading lyricists in this context.)

संस्कृत-कविता संस्कृति के उषःकाल वैदिककाल से ही समष्टिकल्याणोन्मुखता से अभिभूत रही है। अपनी इस चिरन्तन थाती को यह आज भी प्रतिक्षण उसी गम्भीरता एवं आन्तर अनुशासन से सँजोये हुए है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समष्टि में व्यष्टि अन्तर्निविष्ट होती है, इसीलिए व्यष्टि के प्रति किसी आग्रह का संस्कृतकविता में कभी कोई अवकाश नहीं रहा है। संस्कृत-कविता का आदर्श रहा है कि ''सभी सुखी हों, सभी निरामय हों। सभी कल्याण का अवलोकन करें, कोई दुःखी न हो। यथा-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य अपनी विविध-साहित्यिक विधाओं में उपनिबद्ध हो रहे काव्यलोक में सर्वजनकल्याण की भावना को मुखरित करता रहा। भारतीय जीवनदर्शन को सर्वथा आत्मसात् करके एक दैवी पृष्ठभूमि में उभरी संस्कृत-कविता स्वर्ग्य, मर्त्य समग्रप्राणिवर्ग एवं प्रकृति के बीच एक अन्तःसम्बन्ध एवं सामञ्जस्य के साथ विकसित हुई। जिन मनीषियों की प्रतिभा व्युत्पत्ति, समाधि एवं संवेदनशील अन्तःकरण के आलोक में यह विग्रहवती हुई, उन्होंने तो अपने एवं पराये सरीखे बौद्धिक चिन्तनों को लेकर जीने वाले लोगों को क्षुद्रजन माना, तथा उन्हें उदारचरित्र मानव महामानव कहने लगा जिसने विश्व को, समूची वसुधा को अपना कुटुम्ब समझा। यथा-

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

संस्कृतभाषावाङ्मय की सर्वाधिक प्रवहणशील, विकासशील कविता-धारा के चलते ही भारतीय संस्कृति का विश्ववारा रूप वैदिककाल से लेकर आज तक अभिप्रमाणित होता रहा। इस रसैकविग्रहा संस्कृतकाव्यधारा की ही एक विधा संस्कृत-गीत-विधा है। जिसके आन्तरिक स्वरूप का साक्षात्कार तो ऋग्वेद के उषस्-सूक्त आदि में विद्यमान वैदिक कवियों के भावप्रवण मन्त्रों, श्रीमद्भागवत के गोपीगीत, एवं

वेणुगीतादि-प्रकरणों तथा कालिदास के विरह-काव्य 'मेघदूतम्' में हो जाता है। इसके आगे भी गीत की अन्तःप्रकृति की भावात्मिका त्वरा के दर्शन अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के पञ्चम अंक में महाकवि कालिदास कराते हैं। जहाँ रानी हंसपदिका के वर्णसंयोजन में एक साङ्गीतिकी मूर्च्छना के साथ दुष्यन्त के प्रति उलाहना अभिव्यक्त होती है। कालिदास के 'शाकुन्तलम्' तक आते-आते आत्माभिव्यक्ति के धरातल पर एक नैसर्गिक लय ताल गेयता एवं भावोद्रेक को लेकर उद्भावित होने वाला गीतितत्त्व आर्या-छन्द की गिरफ्त में आकर आगे चलकर उसके भेदों में अपने नाम के साथ उत्सिक्त हो गया। हाल की गाथासप्तशती में इसे बड़ा कैनवास मिला। जयदेव के गीतगोविन्दम्' में कुछ शास्त्रोपरागों के आधार पर गीत को कुछ स्वोपज्ञ नवीन छन्द मिले जो तब तक की परम्परा में नहीं थे। यही परम्परा आगे विकसित हुई तथा इसी अनुसरण में गीतिगिरीशम्, गीतगौरीपति एवं जानकीगीतम् आदि गीति-काव्य नये बाह्यस्वरूप के साथ प्रकाश में आये। इस समय तक गीत कहीं तो आत्माभिव्यक्ति, कहीं भगवद्रास, विलास, तथा कहीं तद्गत स्तुतियों को अपना प्रस्तोतव्य बनाये रहे, अस्तु.....। किन्तु गीतिसाहित्य की परम्परा में सब से बड़ा क्रान्तिकारी स्पन्दन तब अया जब परन्तत्र भारतीयों के चित्त में राष्ट्रभक्ति की उद्दाम अलख जगाने वाले गीत ''वन्दे मातरम्'' की रचना हुई। बङ्किमचन्द्र चटर्जी के इस गीत ने देश की तस्वीर बदल दी। इसे गाते-गाते जाने कितने क्रान्तिकारियों ने शासक फिरङ्गियों के होश ठिकाने कर दिये। राष्ट्र की बलिवेदी पर अपने प्राणोत्सर्ग करते हुए भी वे क्रान्तिकारी भारतीय सपूत इस गीत को गुनगुनाते रहे। इस प्रकार लोक को झकझोर देने की क्षमता धारण करने वाले गीत की प्रतिष्ठा पण्डितों को भी समझ में आ गयी। इसी दौर में गीत के बाह्य एवं आभ्यन्तर द्विविध स्वरूप में परिवर्तन हुआ। गीत आत्माभिव्यक्ति के सङ्गीत से और ऊपर उठता हुआ जनवादी चिन्तनों को समेटे हुए, लोकसंवेदना को उकेरते हुए कवि के नितान्त जागरूक चिन्तन एवं आत्मसर्वेक्षण के साथ लोकसर्वेक्षण की उपज बन गया। पं. जानकी बल्लभ शास्त्री, डा. प्रभात शास्त्री के गीत अपने स्वोपज्ञ साङ्गीतिक रागों को लेकर उभरे। सामाजिक राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रीय विडम्बनाओं पर कवियों के तीखे तेवर-समाधानमूलक प्रश्न तथा लोकमङ्गल परक उत्तर-संस्कृत-गीतों की लोकाकर्षक छवि के निर्माण में पूरी तरह कामयाब हो गये।

उपर्युक्त नितान्त संक्षिप्त गीत की ऐतिहासिक सर्वेक्षणयात्रा से यह बात सर्वथा सिद्ध हो जाती है तथा कहने योग्य हो जाती है कि संस्कृत-गीत-विधा आज की संस्कृत-काव्यविधाओं में लोकप्रियता एवं जागरूकता की पराकाष्ठा का संस्पर्श कर रही है, आज का संस्कृत-गीतकार नितान्त वैयक्तिक स्थिति में चिन्तन के धरातल पर अवैश्विक नहीं है। वैश्विकता उसका स्वभाव बन गयी है। क्योंकि वह युग के नितान्त जागरूक मुखर एवं शिवत्वापेक्षी 'व्यक्तित्व' कवि-व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व कर रहा है। आखिर वैश्विकता व्यापकता से अभिभूत विश्वपरक चिन्तनों की भावसत्ता का ही तो नाम है। ऐसी स्थिति में दिगन्तव्यापिनी प्रतिभा का धनी कवि अपनी वागर्थाभिव्यक्ति में उससे परे तो हो ही नहीं सकता।

आचार्य श्रीनिवासरथ, आचार्य राजेन्द्रमिश्र, आचार्य राधावल्लभत्रिपाठी, आचार्य हरिराम, डा.रमाकान्त शुक्ल, डा.इच्छारामद्विवेदी, डा.विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र, डा.जनार्दनप्रसाद पाण्डेय 'मणि' आधुनिक युग के कुछ प्रसिद्ध प्रतिष्ठित संस्कृतगीतकार हैं। वैसे तो गीतकारों की संख्या बहुत है, सब का नामोल्लेख कर पाना यहाँ सम्भव नहीं है। आचार्य बच्चूलाल अवस्थी एवं आचार्य भास्कराचार्य त्रिपाठी जिन्होंने अभी कुछ समय पूर्व ही इस धराधाम को छोड़ा है, आधुनिकता की इस कालखण्डात्मक परिधि से बाहर नहीं है।

आधुनिकता से मेरा आशय समसामयिक राष्ट्रिय अथवा अन्ताराष्ट्रिय उस वैचारिक भावपद्धति से है जिसमें नूतनता का नैसर्गिक अभिनिवेश अन्तर्निविष्ट होता है। इससे अन्वितकालखण्ड आधुनिककालखण्ड है। इस आधुनिककालखण्ड का गीतकार आधुनिकगीतकार है।

विश्वफलक पर इस वैज्ञानिक युग की विचित्र विभीपिका, अफ्रीका एवं गोरों के देश इंग्लैण्ड आदि की स्थिति तथा अमानवीय प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर आचार्य श्रीनिवास अपने गीतिकाव्य 'तदेव गगनं सैव धरा' में लिखते हैं कि-

दक्षिणेनाफ्रिकादेशमुद्दीपिता गौरवर्णाधमानां विवेकान्धता
दूयते मेदिनी तत्र रक्तावृता भूरि सन्तप्यते मानवी सभ्यता।
लोकतन्त्रानुरोधः परेषां कृते स्वे नियोगे तु दासप्रथा श्रीयते।
विज्ञाननौका समानीयते, ज्ञानगङ्गा विलुप्तेति नालोक्यते।।1।।

तारकायुद्धसम्भावनाऽऽधीयते गोपनीयायुधानां कथा श्रूयते
विश्वशान्तिः प्रयत्नेषु सन्दृश्यते विश्वसंहारनीतिर्यथोपास्यते।
भूतले जीवरक्षा परिक्षीयते जीवनाशान्तरिक्षेऽनुसन्धीयते।।
विज्ञाननौका समानीयते, ज्ञानगङ्गा विलुप्तेति नालोक्यते।।2।।

विश्वबन्धुत्वदीक्षा गुरूणां व्रतम् धर्मसंस्कारतत्त्ववतास्तङ्गतम्
लोककल्याणशिक्षासमाराधनम् हन्त विक्रीयते काव्यसङ्कीर्तनम्।
यन्त्रमुग्धान्धताऽहर्निशं सेव्यते संस्कृतिज्ञानरक्षा न सञ्चिन्यते[1]।।
विज्ञाननौका समानीयते, ज्ञानगङ्गा विलुप्तेति नालोक्यते।।3।।

अन्तरन्तरिक्षं निवेशिता त्रिभुवनदहनोद्यता निपुणता
सततसेविता वैज्ञानिकता मानवताकल्याणविरहिता
मर्त्यलोकरचना निलीयते निशितायुधनिकरे .. पाहि मुकुन्दहरे[2]।।

कवि आज वैश्विक क्षितिज पर अन्तरिक्षयुद्ध की सम्भावना एवं निशितायुधों के निर्माण से मानवता के विनाश के प्रति सशङ्कित होकर भगवान् कृष्ण से सब की रक्षा का यहाँ निवेदन कर रहा है। इस सन्दर्भ में उसे वैज्ञानिक युग की सफलता वृथा प्रतीत हो रही है। यथा-

वैज्ञानिकयुगगणितसफलता भवतितरां वितथा।।
विपद्गतेयं जीवनलतिका, केवलकुटिलकण्टकाकुलिता। दूरे कुसुमकथा[3]।

प्रो.राजेन्द्रमिश्र वैश्विक क्षितिज पर तुर्कों के अकाण्डताण्डव से दुःखी होकर उनसे पूँछते हैं कि - *काफिरा एव चेत्तुर्कभिन्ना जनाः तर्हि रक्तं समेषां कथं शोणितम्।।[4]*

अर्थात् यदि तुर्कों से इतर लोग ही काफिर हैं तो फिर सब का तुर्कों, हिन्दुओं, क्रिश्चियनों पारसियों एवं यहूदियों का खून लाल क्यों है। आशय यह है क हम सब एक हैं और हमें एक होकर चलने की आवश्यकता है।

आचार्य बच्चूलाल अवस्थी का उद्गार है कि नेता लोग आज एक ऐसे राजा की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो पृथ्वी को राजाविहीन बना दे।।

यथा- *प्रतिक्षेत्रं विजेतारः प्रतिक्षेत्रञ्च नेतारः।*
अराजत्वं महीं नेतुं महीपालं प्रतीक्षन्ते[5]।।

विश्व के राजनैतिक वितान पर दृष्टि डालते हुए आचार्य रहसबिहारी द्विवेदी सद्दाम हुसेन के कुवैत पर आक्रमण के समय उसकी पत्नी (पहली पत्नी) के उस सम्पूर्ण कथन को गीतवद्ध करते हैं जिसमें वह अपने सद्दाम को रोकती है कि वह कुवैत पर आक्रमण न करे। यथा–

ईराकं सज्जय दयित त्वं गम गतं कुवैतं मा याया:।।
बहुराष्ट्रोपकारकर्तृत्वं तस्य न को जानीते।
शक्तिविरहितं तं देशं त्वं भ्रान्तिवशाज्जानीषे
तदधिग्रहणञ्चान्ततस्तस्य निर्वहणम्, कठिनं प्रतिभाति स्वयं विचारय किञ्चित्
ईराकं सज्जय ....1।

मन्ये सैन्यशक्तिरतिमहती ते विद्यते समर्था
त्वया ज्ञायते कथममेरिका सैन्यशक्तिरसमर्था
कुवैताहरणं नोचितं शक्तिसङ्ग्रहणम्, विनता कथयामि शुभं विचिन्तय सत्यम्
ईराकं 2

कथमपि चेदङ्गीकरिष्यसे तं देशं निजशक्त्या
बहुराष्ट्राधिक्षेपं नूनं सहिष्यसे तद्भक्त्या
महासङ्घर्ष: सर्वेषामेवामर्ष:, नोचितं कदापि सर्वराष्ट्रवैमत्यम्।।
ईराकं सज्जय 3

युद्धे निरपराधजनहननं महामदनविध्वंस:
ऊर्जा चापि विनाशं यास्यति भारायते त्वदंस:
स्वदेशोत्थानम् जनताया कुरु सम्मानम्, येन त्वं महान् लोके स्थास्यसि सततम्[6]
ईराकं सज्जय 4

लेकिन सद्दाम अपनी पत्नी की बात को नहीं माना, बाद में अपनी पत्नी को छोड़ दिया फिर दूसरी शादी रचाया, और उसकी यही पहली पत्नी ही आगे चलकर उसकी मृत्यु का कारण बनी। अमेरिका देश की अपनी वैश्विक दादागिरी, अपने ही द्वारा बोये गये विषवृक्षों से परेशान होने की दशा देखकर संस्कृत–गीतकार आचार्य इच्छाराम द्विवेदी अमेरिका देश से ही कहते हैं– –

यत्कृतं ते त्वया तत्त्वया भुज्यते, साम्प्रतं हे सखे किं त्वया कुप्यते।
पूर्वकाले प्रदत्तानि शस्त्राण्यहो तानि ते मस्तके निष्पतन्ति ध्रुवम्
ये पिशाचास्त्वया लालिता पोषितास्तेऽधुना ते प्रजां निष्पतन्ति ध्रुवम्
स्वार्जितं किल्विषं किं त्वया भुज्यते .... साम्प्रतं हे सखे किं त्वया कुप्यते।।1।।

चेत्त्वया पूर्वकाले श्रुताभूद्व्यथा कोऽपि लादेन वाधे न शक्तो भवेत्
भारतीय: सुमार्गो वृतश्चेत्त्वया कोऽपि ते शोकमग्नेन लब्धो भवेत्
किन्तु लोभेन यद्यत् कृतं रे त्वया निन्दितं तत्समक्षं त्वया दृश्यते।।2।।[7]

यत्कृतं रे त्वया।।
मित्र हेऽमेरिकाऽऽकर्णय त्वं वचो मामकीनं समेषा हिताऽधायकम्
आत्मरक्षाक्रमे त्वं द्रुतं नाशय दुष्टमातङ्कवादं विशदपातकम्।।

नायकत्वं समग्रस्य लोकस्य ते रक्षितं स्यातदैवानिशं तृप्यसे।।
यत्कृतं रे त्वया[8]।।

आतङ्कवाद के जघन्य अकाण्ड ताण्डव से सर्वथासन्त्रस्त विश्व को देखकर गीतकार जनार्दनमणि कहते हैं कि -

विश्वमातङ्कवादिनां जातम्। लक्ष्ममेषा स्वराज्यमाम्नातम्।
शक्तिपुञ्जोऽप्यमेरिकादेशः, स्वं न हा मन्यते परित्रातम्।
किं युगेऽस्मिन् घटिष्यते शम्भो! वेत्सि तद् रक्ष लोकसङ्घातम्।।[9]

विश्व को कैसे बन्धुत्वमय बनाया जाय, इस बात पर चिन्तित कवि जनार्दनमणि का अधोलिखित गीत कितना मार्मिक है? वे स्वयं कविता से ही पूछते हैं कि -

करवाम कथं विश्वं बन्धुत्वमयं कविते।
नहि पश्यतितपूतदृशराष्ट्रं परराष्ट्रमहो, विषवृक्षलतावपने सर्वेषां प्रीतिरहो।।
क्व भवेन्नु पिकक्वणनं विश्वासतरौ निहते।। करवाम कथं ......।।1।

युद्धे ननु कारगिले चित्रं किं किं न बभौ, कश्चिद् देशः सत्यं छद्मत्वं कोऽपि दधौ अवरोद्धुं सग्रामं यदि नो यतमानास्ते।। करवाम कथं ......।।2।।

मलिना रक्षानीतिः दुर्वृत्तवृता नीतिः, राष्ट्राणां दौरात्म्याद् रोदिति पूता प्रीतिः, त्वं रक्ष महामाये देशान् पुण्ये विगते।। करवाम कथं.........।।3।।

रचयमाम कथं विश्वं शिवसौख्यगृहं कविते।
प्रणमाम कथं विश्वं द्वेषाग्निवनं कविते।।[10]

उपर्युक्त गीतोत्थापित प्रश्नों में एक जागरूक संस्कृतगीतकार की सकारात्मिक शिवत्वगर्भा संवेदना छुपी हुई है। जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को पवित्र दृष्टि से नहीं देख रहा है। सब विषवृक्ष को लगाने में व्यस्त हैं। तो विश्वासरूपी वृक्ष के ढह जाने के बाद कोकिल का क्वणन कैसे हो सकता है। यदि कारगिल के युद्ध में वैश्विक धरातल पर देशों के द्वारा अत्यन्त छद्म का व्यवहार न किया गया होता तो इस विभीषिका से यथाशीघ्र बचा जा सकता था। वैश्विक कल्याण के लिए संस्कृतगीतकार की यह चिन्ता उसकी विश्वव्यापिनी साहित्यिक संचेतना की दुहाई देती है।

डा.रमाकान्त शुक्ल कारगिल की इस घटना से अपनी राष्ट्रिय अस्मिता को जोड़ते हुए सत्य के लिए, देश के लिए अपनी पूरी शक्ति एवं निष्ठा से लड़ने वाले कारगिल वीरों को बधाई देते हैं तथा उनके लिए शिवत्व की कामना करते हैं। यथा- अधोलिखितगीतपङ्क्ति-

जयन्त्येतेऽस्मदीया गौरवाङ्काः कारगिलवीराः।
समर्च्या आसतेऽस्माकं प्रणम्याः कारगिलवीराः।।

मई-षड्विंशदिवसादैषमो मासद्वयं यावत्।
अघोषितपाकरणजयिनोऽभिनन्द्याः कारगिलवीराः।।[11]

गीतकार डा.इच्छारामद्विवेदी 'प्रणव' को भी यह प्रत्येक देश के अन्दर बढ़ रही दूसरे के गृह के वैभव को खण्डित करने की प्रवृत्ति बहुत दुखती है। वे क्षुब्ध होते हैं जब यह देखते हैं कि विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों का शोषण कर रहे हैं। विज्ञान पृथ्वीगत आकुलता को सौगुनी बढ़ा रहा है तथा ज्वालासङ्कुलित विश्व-बन्धुता विलाप कर रही है। यथा-

परगृहवैभवखण्डनपटुता प्रतिदेशं वर्धतेऽद्य कटुता
विकसितराष्ट्रैः स्वार्थपोषणं विकसितशीलानान्तु शोषणम्।
विज्ञानेन शतगुणीक्रियते धरणिगताऽऽकुलता।
विश्वबन्धुता विलपति विजने ज्वालासङ्कुलता।
विश्वबन्धुता विलपति विजने ज्वालासङ्कुलिता[12]।

विश्व में प्रतिपल वर्धमान आतङ्कवाद के खतरे से प्रत्येक देश को मुक्त करने के लिए गीतकार डा. इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव' विश्व के श्रेष्ठ देश अमेरिका से प्रार्थना करते हैं कि वह आतङ्कवाद का समूल नाश करने में विश्व का सहयोग करे। इस आतङ्कवाद का सर्वनाश उसकी ही आत्मरक्षा के क्रम का प्रथम प्रस्थान-बिन्दु है। उसकी विश्वनायकता। भी तभी सिद्ध हो सकती है जब वह इस लोकविनाशक आतङ्कवाद को जड़ से मिटा दे। पूरे विश्वं को साथ लेकर उसके हित के लिए ऐसा करे। यथा-

मित्र हेऽमेरिकाऽऽकर्णय त्वं वचो
मामकीनं समेषां हिताऽऽधायकम्।
दुष्टमातङ्कवादं विपद्दायकम्।।

कर्मणाऽनेन रक्ष्या त्वया सभ्यता
मानवीया कथा भूतले शिष्यते।।
मित्र हेऽमेरिका ;.......1।।

सम्प्रदायाऽनुरोधेन ये राक्षसाः
लोकहिंसाक्रमे सन्ति भूमौ रताः
वज्रघातेन निष्प्रेपणीया समे
सर्वथा ते यथाशीघ्रमेवोद्धृताः।।

नायकत्वं समग्रस्य लोकस्य ते
रक्षितं स्यात्तदेवानिशं दृश्यसे।।
मित्र हेऽमेरिका ....2।।[13]

कष्ट का विषय है कि गीतकार 'प्रणव' जिस अमेरिका से आत्मरक्षा के क्रम में विश्वनायक के रूप में आतङ्कवाद के उन्मूलन हेतु निवेदन कर रहे थे, वह उसके विनाश के लिए प्रतिबद्ध हुआ कि नहीं यह बात तो जरूर समीक्षणीय है किन्तु वह उसका भीषण शिकार हो गया। 11 सितम्बर को न्यूयार्क के मदनहट्टनस्थित ट्विनटावर संज्ञक दो भवन जो विश्व-व्यापार-केन्द्र के रूप में थे उनको नष्ट कर दिया गया तथा वांशिगटन का पेण्टागन संज्ञक सुररक्षा भवन नष्ट कर दिया गया। यह ओसामाबिन लादेन के सङ्केत पर विमानाक्रमण जन्य घटना थी। गीतकार डा.इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव' ने इस घटना के बहुत पूर्व विश्व-कल्याण की भावना से अपने नितान्त आत्माराम कवि को अभिव्यक्ति दे दी थी। आखिर अमेरिका अपनी आत्मरक्षा क्रम के इस प्रथम कर्तव्य का पालन नहीं कर सका तथा यह अकाण्ड ताण्डव उसके ही ऊपर चरितार्थ हो गया। ऐसा लगता है कि जैसे गीतिकार डा.प्रणव की त्रिकाल-व्यापिनी कविशेमुषी उस भविष्य के गर्भ में विद्यमान अकाण्ड ताण्डव को देख रही थी।

गीतकार डा.रमाकान्त शुक्ल विमानापहरण की घटना को अपनी गीति-पंक्तियों में उभारने में कोई सङ्कोच नहीं करते। संस्कृत-कवि की वैश्विक जागरूकता कहीं भी शिथिल न पड़ जाय, मानों ऐसा सङ्कल्प लेकर वे काव्यमार्ग पर चल रहे हों। यथा-

विमानं नीतवन्तस्ते विना काठिन्यमस्माकम्।
अमृतसरवायुयानस्थानके तैलं गृहीतं तैः।
पुनर्व्यापादितो रूपेन कतियालो नृशंसैस्तैः
वयं विवशा स्थिता गेहे विलोक्यैतद् भृशं दूये।।[14]

गीतकार उपर्युक्त गीतपङ्क्ति में विमानापहरण की घटना से स्वयं को अत्यन्त दुःखी अनुभव कर रहा है, क्योंकि वह लोक-कल्याण का पक्षधर है। वह विश्व को एक कुटुम्ब बनाने में प्रयत्नशील हैं गीतकार अपनी कविता को उनका ही गुणगान करने के लिए प्रेरित करता है- यथा-

कुटुम्बमेकं जगद् विधातुं जनाः सदा ये प्रयत्नशीलाः।
प्रहृष्य तेषां महात्मना त्वं मदीयकविते! कुरुष्व गानम्।[15]

डा.शुक्ल की दृष्टि में विश्व कुटुम्व की अवधारणा मात्र ही जनता का परिचय है। वे भारत जनता की तरफ से बोलते हैं -

निवसामि समस्ते संसारे मन्ये च कुटुम्बं वसुन्धराम्।
प्रेयः श्रेयश्च चिनोम्युभयं, सविवेका भारतजनताऽहम्।।[16]

संस्कृतगीत के आलोक में भारतजनता की वैश्विक कुटुम्बावधारणा का यह परिचय संस्कृतगीतकारों की वैश्विक दृष्टि की ही कोई न कोई बानगी है।

प्रो. हरिदत्तशर्मा जब संस्कृत की शुश्रूषा में विदेश-यात्रा पर जाते हैं या कहें कि वैश्विक यात्रा पर जाते हैं तो उन्हें नये संसार में प्रवेश के समय देश एवं विदेश का बन्धन समाप्त हुआ दिखता है। वे गीत में लिखते हैं कि प्रस्तुत विदेश में रागरूपी रज्जु से बँधी हुई सम्पूर्ण मानवता का दर्शन होता है। वे साम्प्रतिक कृष्ण से निवेदन करते हैं कि वे पार्थ को किंवा युयुत्सु राष्ट्रों को कर्म के लिए प्रेरित करें, युद्ध के लिए नहीं। कवि वैश्विक एकता को देखने की भावना अपने गीतों में व्यक्त करता हैं -

वारं वारं नवसंसारं कारं कारं रे।
जीवनतरणिश्चलति सततमधिपारावारं रे।
को देशः को वा परदेशो गता स्वता परता
रागरज्जुबन्धने निबद्धा सकला मानवता
भावभुवि स्थितमिदं जगत् पश्यत संसारं रे।
वारम् ....1।

मम गेहेऽस्मिन् धृतायुधाः केचित् प्रहरणसन्नद्धाः
न मे युयुत्सा किन्तु कारिता वयं युद्धबद्धाः
पार्थ प्रेरय कृष्ण कर्मणे देहि विचारं रे।।[17]
वारम् ... ...2।।

डा. हरिदत्तशर्मा ने वैश्विक क्षितिज पर यह अनुभव किया है कि जब संस्कृत के अभियान की चर्चा होती है, तो विश्व के देशों में देशिक सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। एक भाव गूँजता है कि विश्व एक नीड

है, एक परिवार है -

संस्कृताभिधाने समागते ह्रियन्ते लघुभावा:
देशिकसीमानस्त्रुट्यन्ति हि समरसता सद्भावा:
विश्वं ह्येककुटुम्बं रे एकं नीडं रम्यं रे।।[18]

उपर्युक्त संस्कृतगीतकारों के अलावा और भी ऐसे बहुत से संस्कृतगीतकार हैं जिनके गीतों में वैश्विक सन्दर्भ वैश्विक एकता एवं वैश्विक संवादों को गीत की विषयवस्तु बनाया गया है। जहाँ कवि भी विश्वात्मा मानवता निरर्गल विश्वव्यापारवाद से परितुष्ट नहीं दिखती, क्योंकि वह तो विश्व को एक कुटुम्ब के रूप में देखता है तथा भविष्य में सदैव देखना चाहता है।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक संस्कृतगीतकार अपनी समष्टिगतचेतना के मंच पर नितान्त जागरूक हैं। 'वैश्वीकरण' जैसे अत्यन्त व्याप्त आधुनिक प्रयोगों, उपभोक्तावाद एवं विश्वबाजारवाद सरीखे नवीन किन्तु निरामौलिक प्रयोगों से बहुत ऊपर उठकर वे अन्तःसम्बन्धवाद, सहानुभूतिवाद, लोकसंवेदनवाद, विश्वकल्याणवाद एवं वसुधाकुटुम्बवाद प्रभृति मानवतानुप्राणित तत्सापेक्ष सद्वादों में अपनी सारस्वत उड़ानों को संजोये हुए विश्वसाहित्यमंच पर अपने स्थान को सुप्रतिष्ठित बनाये हुए हैं। परस्पर भाईचारा का सन्देश उसका केन्द्रीय स्वर है। लोकप्रियता एवं लोकाकर्षण उसका निसर्ग है। वैश्विक दृष्टि उसकी लोककल्याणगर्भा प्रवृत्ति है।

सन्दर्भ

1. तदेव गगनं सैव धरा, पृ. 120-121, आचार्य श्रीनिवासरथ
2. वहीं, पृ. 125
3. वहीं, पृ. 129
4. शालभञ्जिका, पृ. 36, आचार्य राजेन्द्रमिश्र
5. प्रतानिनी, पृ.163 - आचार्य बच्चूलाल अवस्थी
6. दूर्वा (संस्कृत-पत्रिका) अंक , पृ.12,- आचार्य रहसविहारी द्विवेदी
7. प्रणव-रचनावली, पृ.389, आचार्य इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव'
8. वहीं, पृ.390
9. रागिणी, पृ.20, - डा. जनार्दनप्रसाद पाण्डेय 'मणि'
10. वहीं,
11. भारतजनताऽहम्, पृ.117, डा.रमाकान्त शुक्ल
12. प्रणव-रचनावली, पृ.389- आचार्य इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव'
13. वहीं, पृ.468
14. भारतजनताऽहम्, पृ.125, डा.रमाकान्त शुक्ल
15. वहीं, पृ.95
16. वहीं, पृ.33,
17. लसल्लतिका, पृ. 95, आचार्य हरिदत्तशर्मा
18. वहीं, पृ. 118

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. तदेव गगनं सैव धरा, आचार्य श्रीनिवासरथ, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 1995
2. शालभञ्जिका, आचार्य राजेन्द्रमिश्र, वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
3. प्रतानिनी, आचार्य बच्चूलाल अवस्थी, वैजयन्त प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976
4. दूर्वा (संस्कृत-पत्रिका) आचार्य रहसबिहारी द्विवेदी, कालिदास अकादमी, उज्जैन
5. प्रणव-रचनावली, आचार्य इच्छाराम द्विवेदी 'प्रणव', देववाणी परिषद्, दिल्ली, 2004
6. रागिणी, डा. जनार्दनप्रसाद पाण्डेय 'मणि', वैशम्पायन प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002
7. भारतजनताऽहम्, डा.रमाकान्त शुक्ल, देववाणी परिषद्, दिल्ली, 2001
8. लसल्लतिका, आचार्य हरिदत्तशर्मा, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004

● **राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गङ्गानाथ झा परिसर, आजाद पार्क, इलाहाबाद-211002**



अर्वाचीनकाव्यशास्त्रिणां मते काव्यप्रयोजनविमर्शः

हरिराममिश्रः
दिव्या मिश्रा

(The branch of Sanskrit poetics has a great tradition. Many rhetoricians have explained the poetic elements after close observations of great epics such as *Rāmāyaṇa*, *Mahābhārata* etc. There is a wrong notion that no *Kāvyaśāstra* has been written after Paṇḍitarāja's *Rasagaṅgādhara*. But in fact, a number of *Kāvyaśāstra*-works have been composed in 20th century and 21st century. The present paper deals with the purposes of *Kāvya* as accepted by modern rhetoricians. Contextually the views of the ancient rhetoricians like Bharata etc. have been quoted. Finally an attempt has been made to highlight the specific contributions of the contemporary rhetoricians.)

काव्यं हि नाम शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया वेदादिशास्त्रेभ्यः पुराणादीतिहासेभ्यश्च विलक्षणं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्मेति मम्मटादयः[1] काव्यशास्त्रिणः अभिप्रयन्ति। यदा कविः समाधौ स्थितो भवति तदा सहृदयश्लाघ्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च प्रतिभावशात् तत्समक्षं परिस्फुरतः। एवं व्युत्पत्त्यभ्याससहकृतप्रतिभावशात् कविः काव्यनिर्माणे समर्थो भवति। किन्त्वत्रायं प्रश्नः समुदेति यद् यदि लोक इयं प्रवृत्तिः परिलक्ष्यते यत् 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' तर्हि काव्यस्य किं प्रयोजनम्? काव्यनिर्माणे कवेः स्वाभाविकी प्रवृत्तिर्यथा भ्रमरस्य गुञ्जनकर्मण्युत विशिष्टप्रयोजनप्रयोजितेत्यत्र विप्रवदन्त्याचार्याः। तत्र सर्वप्रथमम् भरतमुनेरेवाभिमतमस्माभिरधिगम्यते। यद्यपि सः नाट्यस्य प्रयोजनं निर्दिशति किन्तु नाट्यमपि काव्यमेवातो नाट्यप्रयोजननिर्देशमुखेन काव्यप्रयोजनस्यापि निर्देशः सञ्जायत एव। भरतमुनिमते काव्येन दुःखार्तैः, श्रमार्तैः, शोकार्तैस्तपस्विभिर्विश्रान्तिरधिगम्यते। काव्यं धर्मसाधकम्, यशोदायकम्, आयुःकारकं हितकरं बुद्धिविवर्धकम्, लोकोपदेशजनं च भवति।[2] एवं भरतमुनिः कविसामाजिकयोरुभयोरपेक्षया काव्यप्रयोजनानि निर्दिष्टवान्। काव्यस्य यशःकारिता काव्यापेक्षया भवति। अन्यानि लोकोपदेशजननादीनि प्रयोजनानि सामाजिकापेक्षया भवन्ति। भरतोत्तरकालिकैः सर्वैरेव काव्यशास्त्रिभिः प्रायशः काव्यप्रयोजनविषये भरतस्यैव मतमाश्रितं वर्तते। ये रससिद्धाः कवीश्वराः भवन्ति ते तादृशं यशोऽधिगच्छन्ति यदनश्वरम् भवतीति प्रतिपादयन् वक्ति भर्तृहरिः नीतिशतके –

'जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
येषां यशःकाये नास्ति जरामरणजं भयम्।[3]

भामहादयः सर्व एवाचार्याः स्वीकुर्वन्ति यत् काव्येन कविः यशोऽधिगच्छति सामाजिकाश्च धर्मार्थकाममोक्षानधिगच्छन्ति[4]। सर्वेष्वेतेषु परिगणितेषु काव्यप्रयोजनेषु कीर्तिः प्रीतिश्चेति प्रयोजनद्वयं मुख्यत एतैः

काव्यप्रयोजनत्वेनावसीयते। कीर्तिप्रीत्योः प्रयोजनयोर्मध्ये कविना सह कीर्तेः सम्बन्धः आनन्दात्मिकायाः प्रीतेश्च सहृदयेन कविना च सह सम्बन्धो भवति। मम्मटादयस्तु अन्यान्यपि अर्थाधिगमव्यवहारवेदनादीनि प्रयोजनानि कविसहृदयापेक्षया विवृण्वन्ति।[5] किन्तु कीर्तिप्रीत्योरेव सर्वेषामेवैतेषां प्रयोजनानां सन्निवेशः सम्भवति।

पण्डितराजजगन्नाथोत्तरं विंशशताब्द्याम् अनेके काव्यशास्त्रग्रन्थाः काव्यशास्त्रिभिर्विरचिताः। प्राचीनालङ्कारिकाणां मतान्यनुसरद्भिः विप्रतिपद्यमानैर्वा काव्यशास्त्रिभिः अद्यापि काव्यशास्त्राणि लिख्यन्ते। एतेषु – पं. श्रीपादशास्त्री हसूरकरः (साहित्यमञ्जरी), श्रीकौत्सः अप्पलसोमेश्वरशर्मा (साहित्यविमर्शः), श्रीछज्जूरामशास्त्री (साहित्यबिन्दुः), आचार्यो रेवाप्रसादद्विवेदी (काव्यालङ्कारकारिका), डॉ. ब्रह्मानन्दशर्मा (काव्यसत्यालोकः), आचार्यो राधावल्लभत्रिपाठी (अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्), आचार्योऽभिराजराजेन्द्रमिश्रः (अभिराजयशोभूषणम्), आचार्यो रहसबिहारीद्विवेदी (नव्यकाव्यतत्त्वविमर्शः) इत्यादय आचार्याः प्रामुख्यं भजन्ते। एतैराचार्यैः स्वकीयेषु ग्रन्थेषु काव्यप्रयोजनविषये यन्मौलिकं तथ्यं 'प्रतिपादितं तदत्र संक्षेपण प्रस्तूयते।

तद् यथा आचार्यो मम्मटः काव्यप्रकाशे प्रथमोल्लासे –

''काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।[6]''

इति कारिकया काव्यस्य यशोऽर्थादीनि षट् प्रयोजनानि स्वीचकार। विश्वनाथश्च साहित्यदर्पणे –

''चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।।[7]''

इति कारिकया धर्मार्थकाममोक्षेति यच्चतुर्वर्गफलप्राप्तिं काव्यप्रयोजनं स्वीचकार तानि सर्वाण्येव काव्यप्रयोजनानि पण्डितश्रीपादहसूरकरेण विवेचितानि स्वीकृतानि च विद्यन्ते स्वीये साहित्यमञ्जरीति ग्रन्थे।[8] तत्र नूतनं किमपि न विद्यते। श्रीकौत्सोऽप्पल्लसोमेश्वरशर्मणा तु स्वकीये साहित्यविमर्शाख्ये ग्रन्थे आनन्दानुभूतिरेव काव्यप्रयोजनतयावसीयते।[9]

मम्मटोऽपि स्वप्रतिपादितेषु षट्स्वपि यशोऽर्थादिष्वानन्दानुभूतिमेव सकलप्रयोजनमौलिभूतां मनुते।[10] तस्य मते काव्यस्य पठनेन श्रवणेन वा सद्य एव रसास्वादस्तेन च आनन्दातिरिक्तसर्वविध-विषयपरामर्शशून्यस्य विगलितवेद्यान्तरस्यानन्दस्यानुभूतिर्भवति। काव्यप्रयोजनेषु इदमानन्दमेव प्रधानं वर्तते। कविसहृदयावुभावपीदमानन्दमनुभवतः। एवं श्रीकौत्सस्याप्पल्लसोमेश्वरशर्मणोऽपि मतं मम्मटमतान्न व्यतिरिच्यते। असौ केवलमानन्दस्य भेदविषये किञ्चिन्नूतनं प्रतिपादयति यदानन्दस्य रूपद्वयं भवति–लौकिकम् अलौकिकञ्चेति। तत्राद्योऽनित्यः द्वितीयस्तु काव्यगतविभावानुभावव्यभिचार्यभियुक्तरत्यादिस्थाय्यात्मकरसास्वादजन्मा ब्रह्मानन्दसदृशो नित्यः।[10] अयमेव द्वितीय आनन्दः प्रधानम्।

श्रीछज्जूरामशास्त्रिणा भामहस्य काव्यप्रयोजनविषयकं मतमेव व्याख्यातं वर्तते। भामहमते काव्यस्य निषेवणेन कविः सामाजिको वा धर्मार्थकाममोक्षेषु कलासु च वैचक्षण्यमधिगच्छतः प्रीतिं च बिन्दतः। सामाजिकस्य कृते काव्यनिषेवणेन नास्ति कीर्तेः सम्बन्धः। कीर्तिस्तु काव्यनिबन्धनेन केवलं कवेर्भवति। भामहस्य मतमनुसरता छज्जूरामशास्त्रिणेदमेव प्रतिपादितं स्वकीये साहित्यबिन्दुनामके ग्रन्थे यत् काव्येन पुरुषार्थचतुष्टयं, कीर्तिः प्रीतिश्चाधिगम्यते कविसहृदयैः।[11] पण्डितगिरधरलालव्यासशास्त्रिणोऽपि प्रायश इदमेवाभिप्रेतं वर्तते। तस्य मते काव्येन धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिर्भवति किन्तु यश आनन्दश्चेति द्वे एव मुख्ये प्रयोजने भवतः काव्यस्य।[12]

रेवाप्रसादद्विवेदिप्रभृतयः केचनाचार्यास्तु काव्यरचनायां कवेः स्वाभिविकीं प्रवृत्तिं स्वीकृत्य कवेः कृते काव्यरचनां निष्प्रयोजनामभिमन्यन्ते। आचार्यो द्विवेदी वाल्मीकिमुदाहरणत्वेन प्रस्तौति। वाल्मीकिर्महर्षिः वीतराग

आसीत्। लोकवित्तपुत्राद्यैषणारहितस्यास्य महर्षेः काव्यरचनायां स्वाभाविक्येव प्रवृत्तिरासीन्न यशोऽर्थादिप्रयोजनवशात्।[13]

आचार्यब्रह्मानन्दशर्मणा स्वकीये काव्यसत्यालोके ग्रन्थे काव्यप्रयोजनं प्रतिपादयता रेवाप्रसादद्विवेदिमहोदयस्याभिमतं समर्थितम्। सः कथयति यत् विषयविशेषं प्रति कवेः प्रवृत्तिर्द्विविधा वर्तते। स्वभावप्रेरिता प्रयोजनप्रेरिता चेति। वस्तुतः कवेः प्रवृत्तिरेव काव्यरूपं धरतीति सत्यम्। अनया कविगतस्वभावप्रेरितप्रवृत्त्या कविः सत्यस्य दर्शनं कृत्वा तस्याभिव्यक्तिं करोति सुखञ्चानुभवति। एवमेव सहृदयोऽपि सहृदयगतप्रवृत्त्या सत्यस्य साक्षात्कारं करोति सुखञ्चानुभवति। आचार्यशर्मणा यद्यपि यशःप्रभृतीनि काव्यप्रयोजनानि कविदृष्ट्या वर्णितानि, परन्तु तस्य मते प्रयोजनेष्वेतेषु स्वाभाविकी प्रवृत्तिः मन्दायते।[14]

आचार्योऽभिराजो राजेन्द्रमिश्रोऽपीदमेव स्वीकरोति। प्रतिपादयति च यद्यथा उड्डीयमानो भ्रमरः निष्प्रयोजनमनुरणनव्यापारे व्यापृतस्तिष्ठति तथैव परमार्थदृशा कविः काव्यसर्जनायां यशोऽर्थादिप्रयोजनमनपेक्ष्यैव स्वभावतः प्रवर्तते। कवित्वं तस्य स्वाभाविकं कर्म स्वाभाविकञ्च कर्म प्रयोजननिरपेक्षमेव भवति। कवेः कृते काव्यसर्जनां निष्प्रयोजनां मन्वानो रेवाप्रसादो द्विवेदी सहृदयापेक्षया मम्मटादिभिः प्रतिपादितेभ्यः काव्यप्रयोजनेभ्योऽप्यधिकानि युगावश्यकतापूर्तिस्वधर्मरक्षणराष्ट्रदेवप्रवोधादीन्यन्यानि काव्यप्रयोजनानि स्वीकरोति।

किन्त्वभिराजराजेन्द्रमिश्रो लौकिकव्यवहारदृशा काव्यप्रयोजनस्यावश्यस्वीकर्तव्यत्वे केवलं यशः काव्यप्रयोजनं मनुते यदमुष्मिँल्लोके परत्र चाभिप्रेतं भवति।[15]

त्रिपाठ्युपाह्व आचार्यो राधावल्लभो नैतयोराचार्ययोः 'कवेः निष्प्रयोजनं स्वभावतः काव्यसर्जनायां प्रवृत्तिर्भवतीति मेतन सह सम्मतिं भजते। तस्य मते किञ्चिदपि कर्म स्वाभाविकं न भवति, कर्म सदैव प्रयोजनान्वितमेव भवति। सर्वेषां कर्मणां मूलमानन्दम् सर्वञ्च कर्म सप्रयोजनं मन्वान आचार्यो राधावल्लभो मुक्तिमेव काव्यस्य मुख्यं प्रयोजनं मन्यते। रजस्तमोभ्यां सत्त्वस्याभिभवाच्चैतन्यं सङ्कुचितं भवति। सङ्कुचितप्रमातृत्वमेवावरणमस्ति। काव्येन कवेः सहृदयस्य च सङ्कुचितप्रमातृत्वरूपस्यावरणस्य भङ्गो भवति। इयमेव मुक्तिः। मुक्तिरेव च काव्यप्रयोजनम्।[16] आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकेति त्रैविध्यं सृष्टेस्तस्मात् मुक्तिरपि-आधिभौतिकी, आधिदैविकी, आध्यात्मिकीति त्रिविधा स्वीक्रियते। सर्वेषां कृते शरीरस्य भरणार्थं पोषणार्थञ्चान्नादेः शरीरस्य रक्षणार्थञ्च भवनस्य वस्त्रादेश्च सुव्यवस्थाधिभौतिकी मुक्तिरस्ति। सर्वेषां जीवानां मानसिकव्याधिनिवारणम्, मनसः प्रसन्नता निष्कालुष्यञ्चाधिदैविकी मुक्तिरस्ति। आत्मनस्तु स्वस्वरूपावस्थितिराध्यात्मिकी मुक्तिरस्ति। चेतनाया अपि त्रैविध्येन मुक्तेरन्येऽपि व्यक्तिसमाजब्रह्माण्डगतत्वेन त्रयो भेदाः स्वीक्रियन्ते। मुक्तेः सर्वेऽप्येते षड्भेदाः परस्परं सम्बद्धाः सन्ति। आध्यात्मिकी मुक्तिस्तदैव सम्भवति यदा आधिभौतिकाधिदैविक्यौ मुक्त्यधिगते स्याताम्। एवमेव यावत् सामाजिकी ब्रह्माण्डीया च मुक्तिर्नाधिगते तावद् वैयक्तिकी मुक्तिर्न सम्भवति।

अत्रेदमवधेयं वर्तते यत् केवलं वैयक्तिकसुखेनानन्देन वा नास्ति प्रयोजनं लोके यावदिदं सुखमानन्दो वा सर्वेषां सुखायानन्दाय वा न प्रकल्प्यते। उक्तमपि -

'केवलाघो भवति केवलादी'।[17]

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।'[18]

इतीयं सार्वभौमिकी चेतना काव्येनैव सम्पाद्यते। काव्यसाधनया प्रमातृचैतन्यमानन्त्यं लभते। प्रमातुरानन्त्यलाभ एव मुक्तिः। कविसहृदयावुभावपि प्रमातारौ। मुक्तिं काव्यप्रयोजनं स्वीकुर्वताचार्येण राधावल्लभत्रिपाठिना अभिनवगुप्ताचार्यादिभिः प्रतिपादितं रसविषयकं मतमेवाश्रितं वर्तते। अभिनवगुप्तस्य मते काव्यसाधनयोभयोरपि रजस्तमसोरभिभवः सत्त्वस्य चोद्रेको भवति। तेन सद्य एव परिमितप्रमातृभावस्य विगलनं भवति वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यतया चापरिमितप्रमातृभाव उन्मिषितो भवति। एवञ्च प्रमाता साधारण्येन रसस्यानन्दस्य साक्षात्कारं करोति। सहास्तित्वस्य

सहिष्णुतायाश्च भावनया सर्वैः सह व्यवहरन् अभ्युदयं परमञ्च श्रेयोऽधिगच्छति।

एवं सर्वेषामेवार्वाचीनानामाचार्याणां काव्यप्रयोजनविषयकाणि मतानि समीक्ष्यैतत्कथयितुं शक्यते यत् तैः प्राचीनाया एव काव्यशास्त्रीयाया परम्परायाः नूतनतया व्याख्यानं व्यधायि।

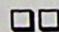
सन्दर्भाः

1. काव्यप्रकाशः, प्रथमोल्लासः, द्वितीयकारिकाया वृत्तिः
2. नाट्यशास्त्रम्, प्रथमोऽध्यायः, कारिकाः 113-115
3. नीतिशतकम्, 20
4. काव्यालङ्कारः, प्रथमपरिच्छेदः, कारिका - 12
5. काव्यप्रकाशः, प्रथमोल्लासः, कारिका - 2
6. तत्रैव
7. साहित्यदर्पणः, प्रथमपरिच्छेदः, कारिका - 2
8. साहित्यमञ्जरी, पृ.1
9. साहित्यविमर्शः, पृ.40
10. तत्रैव
11. साहित्यबिन्दुः, प्रथमः बिन्दुः, पृ.8
12. अभिनवकाव्यप्रकाशः, प्रथमोन्मेषः, कारिका - 208
13. काव्यालङ्कारकारिका - तृतीयम् अधिकरणम्, कारिकाः 20-24
14. काव्यसत्यालोकः - पञ्चमोद्योतः, पृ.75-76
15. अभिराजयशोभूषणम्- प्रथमोन्मेषः - काव्यप्रयोजनप्रकरणम् - पृ.28
16. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्, प्रथमाधिकरणम्, द्वितीयोऽध्यायः, पृ.15
17. ऋग्वेदः, 10/117/6, तैत्तिरीयब्राह्मणः, 2/8/8/3
18. ऋग्वेदः, 10/191/2

सन्दर्भ-ग्रन्थाः

1. अभिनवकाव्यप्रकाशः, शास्त्री गिरिधरलाल व्यासः, व्यास-बन्धु-प्रकाशनम्, उदयपुरम्, राजस्थानम्, प्र.सं. 1985
2. अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्, त्रिपाठीराधावल्लभः, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, वाराणसी, प्र.सं. 2005
3. अभिराजयशोभूषणम्, मिश्रः राजेन्द्रः, वैजयन्तप्रकाशनम्, प्रयागः, प्र.सं. 2006
4. ऋग्वेदः (सायणभाष्यसहितः), सं.एफ. मैक्समूलरः, द्वितीयं भारतीयसंस्करणम्, कृष्णदास अकादमी, 1983
5. काव्यप्रकाशः, मम्मटः, व्याख्या-आचार्य विश्वेश्वरः, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1960
6. काव्यालङ्कारः, भामहः, व्याख्या-देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहारराष्ट्रभाषापरिषद्, पटना, 1985
7. काव्यालङ्कारकारिका, द्विवेदी रेवाप्रसादः, कालिदाससंस्थानम्, वाराणसी, द्वि.सं. 2001
8. काव्यसत्यालोकः, शर्मा ब्रह्मानन्दः, अजमेरः, राजस्थानप्रदेशः प्र.सं. 1980
9. नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनिः, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, बड़ौदा विश्वविद्यालयः, बड़ौदा, सं. प्रथमम्, 1964
10. नीतिशतकम् भर्तृहरि, संस्कृत-व्याख्या, सुभाषित-त्रिशती, श्री रामचन्द्र बुधेन्द्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1987
11. साहित्यदर्पणः, विश्वनाथः, हिन्दीव्याख्याकारः, शालिग्रामशास्त्री, मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली, 1977
12. साहित्यबिन्दुः, शास्त्री छज्जूरामः, मेहरचन्द्रलछमनदास, दरियागंज, दिल्ली, प्र.सं. 1962
13. साहित्यमञ्जरी, हसूरकरः श्रीपादशास्त्री, महाराजा होल्करसंस्कृतमहाविद्यालयः, इन्दौर, प्र.सं., 1940
14. साहित्यविमर्शः, शर्मा कौत्स अप्पलसोमेश्वरः, तिरुमला तिरुपतिदेवस्थानम्, तिरुपतिः, आन्ध्रप्रदेशः, पृ.स. 1951

● **Sanskrit Deptt. JNU, New Delhi**



Literary Works of Dr. Purna Chandra Shastri in Sanskrit : A Review

Sachidananda Mahapatra

(पूर्णचन्द्रशास्त्रिण: जन्म यद्यपि राजस्थानप्रान्ते 1927 तमे वर्षे अभवत् तथापि ते स्वकीयं कर्ममयजीवनम् उत्कलप्रान्ते वरगढ-नगरे व्यतीतम्। व्यवसायेन आयुर्वेद-चिकित्सकानां तेषां काव्यनिर्माणे सिद्धहस्तता सर्वजनस्वीकृता वर्तते। तेन अपराजितवधूमहाकाव्यम्, प्रबुद्धभारतम्, अन्तर्व्यथा, दुर्भिक्षम्, त्रिविधा, खण्डेला, भोजराज:, युवचेतना, शतपदीत्यादीनि काव्यानि रचितानि। उपर्युक्तेपु प्रथमे द्वे काव्ये प्रकाशिते स्त:, अन्यानि च अप्रकाशितानि सन्ति। एतस्मिन् शोधपत्रे तस्य प्रकाशितयो: द्वयो: काव्ययो: विशदं समीक्षणं कृतं वर्तते।)

0.1. Introduction: Odisha is known for its rich art and culture and it has produced many eminent poets and authors in Sanskrit who have contributed a lot to the Sanskrit language and literature. The literary works of the ancient Odishan authors in Sanskrit like Pandit Viṣṇu Sharmā, Viśvanātha Kavirāja, Murāri Mishra, Kṛṣṇa Mishra and Jayadeva etc. have already been brought to the lime light and much research have been done on these works so far. On the contrary, though a number of modern poets of Odisha have written beautiful *Kāvyas* in Sanskrit, proper attention is not yet given to them by the scholars as a result of which they have not yet come in the lime light. Dr. Purna Chandra Shastri Kalāvatiā is one among such talents and here in this paper an humble attempt is made to highlight his contribution to Sanskrit literature.

0.2. About the Poet: Dr. Purna Chandra Shastri is the eldest son of Sri Rameśwardutta Kalāvatiā and Smt. Suva Bai. He was born on 10th April 1927 at Khandela Dist. Sikar in Rajastan. But at the age of 26, he came to Bargarh and became a permanent resident of Bargarh town of Odisha where he wrote some beautiful *Kāvyas*. The primary education of Dr. Shastri starts from Sanskrit *Prathamā* and *Madhymā* in a toll. Then he pursued his studies in Rohila Ayurvedic College Ramgarh where he passed *Uttara Madhyamā, Shastri, Āyurveda Viśārada* and finally *Āyurvedācārya*.

Dr. Shastri was a successful Ayurvedic practicener and had earned much name and fame not only in Odisha but also in outside. Besides, he was also Ex-Director, State Housing Corporation, Bhubaneswar. Ex-Senate Member, Sambalpur University, Ex-Vice President, Indo- Soviet Cultural Association, Ex-President, Lohia Vichar Manch and Founder President of Bargarh Brahmana Sanskrit Parisad Bargarh. Apart from these, he has received certificate of Honour in the World

Sanskrit Conference, Bangalore and is awarded by the Odisha Sanskrit Academy in the near past.

Though Dr. Shastri is an Ayurvedic doctor by profession, he had a creative bent of mind which was always in search of writing new things in the form of *ślokas*. In the year 1986, when he showed some of his self-written *ślokas* to Dr. Ladukeshwar Satapathy, the then Professor of Sanskrit, G.M. College, Sambalpur, he was very much pleased and inspired him to carry on writing such *ślokas*. Being praised and inspired by Prof. Satapathy, he has never looked back and in the year 2000, he wrote his first *Mahākāvya : Aparājtavadhū*. Thus, Dr. Shastri admits that Prof. Ladukeswar Satapathy was his first *Guru* in writing *Kāvyas* in Sanskrit.

0.3. The Aparajitavadhu Mahakavyam: Now, the '*Apārajitavadhū*' meaning the 'Undefeated Woman' is a *Mahākāvya* of having 700 *ślokas* or verses sub-divided in 10 *sargas* or cantos. This is a published work of the poet. The book has been published by the Pratibha Prakasan New Delhi, in the year 2000. The poet has adopted several important metres like *Mandākrāntā, Upajāti, Indravajrā and Upendravajrā* etc. to express his feelings and poetic imaginations. At the outset, the poet thinks to write poetry, but in a fix he selects the plot viewing different aspects of the society. According to him, if a poet writes about the the beggers asking alms then the ruling class of the country may get angry, if he writes on the beauty and love affairs of the women, then the people of the society may think him discourteous and if he writes on the poor then the rich may be annoyed and show disrespect to him as it would go against their interest. See the language of the poet :

साहित्यं वर्धयामो नवयुगकविता-काव्यधारार्चनाभि-
र्भिक्षावृत्तिं यदस्मिन् यदि लिखति कविः शासकाः कोपिनः स्युः।

वर्णे कान्ताभिसारे ननु सकलजनो भद्रवृत्तौ प्रकृत्येत्
विद्रोहञ्चेद्दरिद्रैर्भवति धनपतिभ्यः कवेर्मानहानिः॥[1] (I.1)

The second *śloka* is almost in the same line where he says that if the poet selects a politician or a *yogī* as the plot of his poetry and writes the dire truth of their lives, then it is not easy to publish the poetry. Hence, he opines that poetry is possible on imagination only and not on truth. Thus the *śloka* goes like:

भ्रष्टाचारेण सिद्धिर्यदि भवति वदेत्सोऽप्यभद्रो सहिष्णुः
योगी वा राजनेता यदपि न सुलभः स्यात्तु तत्कल्पनायाम्।
सत्यं तेषां चरित्रं यदि लिखति कविः सम्भवं मुद्रणं किम्
काव्यं स्यात्कल्पनार्थन्तु नरचरितस्यानुभूतेः प्रमार्थम्॥ [2] (I.2)

Keeping the above facts in view, Dr. Shastri has adopted the life of an ordinary deserted woman Prabhā who has struggled a lot for the existence along with her two small children. Prabhā was poor but educated and hails from a lower farming class family who at the time of acute draught came to Attabira of Bargarh district in Odisha as a daily-labourer from Bhatapara of Madhya Pradesh which falls presently in Chatisgarh. Her husband left her alone with two children and went away to Allhabad marrying another girl. Thus she was thrown to suffer for her

livelihood. One of her children suffered from a chronic disease and he was under the treatment of Dr. Shastri. In spite of his sincere effort, Dr. Shasrti could not save him. This is how he came in contact with Prabhā whose precarious condition created a plot for the poet to write a *kāvya* to which he has named *Aparājitavadhū Mahākāvyam*.

The poet is very much impressed upon Prabhā's patience, wisdom, beauty, humility and nobility etc. to which he has expressed in the course of his description of the poetry. At the time she was staying at Attabira, there was a heavy flood in the eastern part of Orissa. Prabhā arranged 8-10 ladies of her age and proceeded to help the flood affected people. With the help of a boat she distributed food, clothes and drinking water to them. Seeing her work of bravery and nobility, people praised her very much and the Govt. of Odisha awarded her with a request to stay in that area permanently to which she refused and returned to Attabira after the relief work was over. She also established some *āśramas*, schools and centers for the eradication of untouchability to her capacity in that area. The poet has described this in the third canto of the *kāvya* where the description of flood is quite picturesque. According to him, who in fact is capable of describing the miseries of the flood-affected people who can stay 3 days continuously on the top of the trees without getting any food and water? See the language of the poet :

वन्यापन्नविपत्तिवर्णनमहो कर्तुं समर्थोऽस्ति कः
वृक्षारोहणजीवितास्त्रिदिवसं लोका वुभुक्षाकुलाः।
वस्त्रं वासगृहान्न गोष्ठपशवः कृत्स्नं जले प्लावितम्
किञ्चित्तत्र निमज्जितं जलतले किञ्चिद् तथोद्धारितम्।।

Besides these, the poet is also very expert in using the *alaṅkāras* like *Anuprāsa* and *Yamaka* which soothe the ears and minds of both readers and listeners. In the second canto of the *kāvya* the use of the *alaṅkāra Yamaka* has heightened the beauty of the poetry for which the poet deserves appreciations. Some of the *ślokas* can be cited here.

नयनजाम्वुकणैः किमु पूर्यते जठरवारिधिवाडवभोजनम्।
कृषककार्यमतस्तु श्रितं तया विवशया नतया सह वन्धुभिः।। [3] *(II.4)*

अतुलधान्यधरा धरणीधराः शकटभारविमोचनतत्पराः।
विपणने पणनेमिरिवाभवन् सपदि सम्पदि धान्यधुरन्धराः।। [4] *(II.5)*

नयननेयनयेन पथार्पितां मधुधरामधुना मधुरां गिरम्।
स्मरति साधुजनोऽपि मुखाङ्गिगतैर्मधुरसधुरसाश्रितनिर्भरम्।। [5] (II.12)

सरलवालवलोननतशेमुषी सुकृतचिन्तनसंस्कृतचेतना।
तरति मज्जति भावभयाम्वुधौ परिचितेऽरिचिते विटसंकुले।। [6] (II.14)

So, in this way the poet has described different aspects of the poetry with the help of both alaṅkāra of words and *alaṅkāra* of meaning in his *Aparājitavadhū-mahākāvyam*. In the course of writing this *kāvya*, the descriptions of Kumbhamelā of Prayāga, river Ganges, the beautiful descriptions of āśramas etc. have made this

kāvya a beautiful one The actual assessment of all aspects of the *kāvya* is not possible in a paper having limited space.

0.4. Prabuddha-Bharatam: The second literary work of the poet is *Prabuddhabhāratam* consisting of 450 *ślokas,* written in *Anuṣṭubh* and *Upajāti* metre. This kavya has been published by the Rastriya Sanskrit Sanstan New Delhi, in the year 2000. This is an imaginary poetry about our country *Bhārata* which according to the poet, should be full of ideals. The poet is very much aggrieved to see the precarious condition of the country where the societies are full of heinous activities, bad practices, corruptions and misconduct of the people who do not care to respect the ideals and ethics that are prescribed by our ancestors and seers of the country. According to him, so far as the code of conduct of the human beings of this country is concerned, it is आचारः परमो धर्मः which is laid down by the *Ṛṣis* and there should not be any other concept that contradicts the ethical value and sense of this line. The concept of *Dharma* as stated by the poet is quite logical and heart-touching where he says that there should be equal and impartial behaviour for all the human beings which should be associated with love, affections and conscience. The philosophy which inspires civilization, love and conscience can only bestow upon people equality and prosperity. The *śloka* goes thus:

यद्दर्शनं मानवसभ्यतायै स्यात्प्रेरकं स्नेहविवेकभर्तुः।
मनुष्यमात्रे समतां प्रदर्शयद्धर्माभिधानं च तदेव धत्ते।।[7] (I.3)

Also, the imagination of an ideal *Bhārata* by the poet is full of ideals which is widely appreciated and accepted by the people. According to him, there should be one citizenship and one state for the entire world. There should be no discrimination against the people of different states on the ground of their language, castes, creed, colour and the religious faith etc and the exploitation of one country by the other must come to an end. In the language of the poet it is :

भवेज्जगन्नागरिकत्वमेकं राष्ट्रियतैकेव समस्तभूमौ।
भाषार्थधर्मैर्न तु राष्ट्रभेदो न शोषणं स्यात् परकीयराष्ट्रैः।।[8] (I.4)

Further, Dr. Shastri is against the worship which leads to animal sacrifice and disapproving the same he advises to lead a life of non-violence and righteousness to which Lord Buddha preaches in the past. He does not like to pour milk, curd and honey etc. on *Śiva-linga* which according to him is a sere wastage of nutritious food. These should be given to the children and the aged which can provide them with good health and long life. The *ślokas* can be quoted here:

पशुहिंसात्मकां पूजां मन्त्रतन्त्रात्मकं विधिम्।
बुद्धोऽवमान्य हिंसार्थान् शुद्धजीवनमादिशत्।।[9] (III.27)

श्रद्धया स्नाप्यते लिङ्गं मधुनाऽमलगोरसैः।
तद् भवेद् यदि बालेभ्यः किन्न जिवन्त्यरोगिणः।।[10] (III.34)

लिङ्गस्नानेऽस्ति मिथ्यास्था पापं दुग्धान्ननाशनम्।
हविष्येऽप्यन्ननाशोऽस्ति राष्ट्रस्य क्षतिकारकः।।[11] (III.35)

All these prove that as a poet, Dr. Shastri is too much revolutionary, straightforward and realistic towards human life. By poetic thought and essence, he is beyond and above traditional poet, but his style is very much akin to the style, quality and sentiment etc. of the outstanding poets of our Indian culture and civilisaton.

Apart from the above two *kāvyas*, the poet has some unpublished works like ***Antarvyathā, Dūrbhikṣam. Trividhā, Khandelā Bhojarājaḥ*** and ***Yuvacetanā Śatapadī*** etc. out to which some are at the door of publications.

In fact, the poet has performed his social duties by creating these valuable works for the enrichment of the society. Now, it is our duty to assess all these *kāvyas* and bring them to the lime light so as to benefit the scholars of Sanskrit.

After a thorough assessment of his *kāvyas*, it is evident that the literary excellence of Dr. Shastri, in fact, is the culmination of the emotional expression of the quest for life. The poet visualizes the realistic background behind the superfluous modern life of the people. He is very much aware of arising voice against corruption, suppression, unjustice, superstition and prejudice wide-spread in the society.

Further, it is a point to note here that the poet selects women's sufferings as the subject matter of his *kāvya Aprājitavadhū* where he makes the society alert to regard the women with due dignity. In this regard, he is an outstanding poet who is capable of writing a *Mahākāvya* on the life of an ordinary woman, which is unique in Sanskrit literature. Today's literary magazines are never devoid of poets writing *stotras* and *stavas* of their presiding deities and *gurus*. But hardly does any poet write on the problem of modern life making it as the object of the plot of the poetry which his abundantly found in Dr. Shastri's works.

Prof. Radhaballabh Tripathy, the Vice-Chancellor of Rastriya Sanskrit Sanstan, New Delhi and Prof. Puspa Dikṣit have highly praised the literary works of Dr. Shastri. Prof. Tripathy has also written the Foreward of both of his published works *Aparājitavadhū* and *Prabuddhabhāratam* and Prof. Dikṣit has translated the *Aparājitavadhū* into Hindi.

Now, so far as the structural part of the poet's literary works is concerned, the natural use of metres, figure of speech like alliteration, pun, simile and metaphor etc. are quite suitable to the mood and meaning of the verses. Sometimes, the readers find an assimilation of the impact of the great poets of Sanskrit literature in his works. Dr. Shastri's *kāvyas* are not only simple and lucid but also sweet and meaningful. These also never lose the natural rhythm at the time of dealing the problem of modern life of the society. I personally feel proud of coming in contact of the sharp and sublime thoughts of the poet who always longed for a human life devoid of class, corruption, poverty, miseries, sorrows and sufferings. He ever wishes a country, a society full of humanity, righteousness, happiness and transparency which are far away from the nuisance of modern life. I also sincerely wish Dr. Shastri's benevolent works be wide-spread expanding the literary horizon of Sanskrit lovers and readers across the world.

References :

1. *Apārajitavadhūmahākāvyam I.1, Purnachandra Shastri, Pratibha Prakashan, New Delhi, 2000*
2. *Ibid I.2*
3. *Ibid I.4*
4. *Ibid I.8*
5. *Ibid I.12*
6. *Ibid I.14*
7. *Prabuddhabhāratam, No. I.3, Purnachandra Shastri, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2000*
8. *Ibid I.4*
9. *Ibid III.27*
10. *Ibid III.34*
11. *Ibid III.35*

● **Deptt. of Sanskrit, Govt. College, Sundargarh-770002 (Odisha)**



Human aspects of Indra as described in *Ṛgveda* (ṚV)

Savitri Panda

(वैदिक-देवतासु इन्द्रः अन्यतमः। अस्मिन् शोधपत्रे ऋग्वेदे इन्द्रस्य स्वरूपं कथं वर्णितमस्तीति सोदाहरणं विवेच्यते। इन्द्रस्य जन्म, इन्द्रस्य परिवारः, इन्द्रस्य मानवीयगुणाः, इन्द्रस्य शस्त्राणि, इन्द्रस्य रथः, इन्द्रस्य शासकत्वम्, इन्द्रस्य सोमपायित्वम्, इन्द्रस्य सर्जकत्वञ्च इत्येतत् सर्वमत्र सुष्ठु विमृष्टमस्ति। इन्द्रस्य मित्रवद् व्यवहाराः शत्रुवद् व्यवहाराश्चाप्यत्र सुविवेचिताः सन्ति।)

0. Introduction :

While reciting the Vedas one can see that Indra is hymned there with a unique position among all Vedic deities. Moreover, he becomes explicit in all his aspects only when we have seen all the *Mantras* relating to Indra with a deeper understanding of their meanings and contemplating on them. John. Muir says, "A reader who is not familiar or acquainted with the hymns or *Vedas*, either in the original or in translation, may think that he has an incompatible perception of the conceptions about God. Therefore, he needs to have a proper knowledge of scripture and of what is conveyed in them."[1] Indra is of a most striking personality among all gods in the ṚV. He is addressed in 250 hymns or almost a quarter of the whole accumulation. In about 50 more hymns, he is praised along with other deities.

To identify Indra in the *Ṛgveda* with his namesake appearing in scriptures is a great mistake. Indra in the *Veda* is quite different from Indra in the *Purāṇas*.[2] Indra, the lord of the divine mind, according to Sri Aurobindo, helps human beings to develop the abilities for mental formation and associated actions. Indra is primarily the deity who gives the proper knowledge to human beings so that they can perform all their actions. Actions are not limited to those on the physical plane etc., those done with our hands, legs, mouth etc. they include the actions done at inner levels also, the inner vital, inner physical etc.[3]

The facet of Indra most celebrated and extolled in the ṚV is his Lordship, his supreme mastery of men and situations. He is Master of the whole world, He who is Lord of every world that moves and breathes. All the hymns dedicated to him in *Ṛgveda* contain an element of near ecstasy as they extol his grandeur and his universal dominion. In each hymn he is Master of the universe. He has conquered it, overcoming all foes. He is always the God-hero, the God of mighty deeds arousing awe and praise. Men are enraptured by the divine display of the Master of the universe.

1. Indra's Birth

About the birth of lord Indra, we see many descriptions in the Ṛg-Veda. The Vedic seers and sages gave much importance to Indra as the ruler of Mind and dedicated maximum number of hymns in praise of him. In these hymns we see the descriptions like his birth, nature and other aspects of his personality.

The birth of Indra is mentioned in different manner in different contexts. Such as in *Puruṣa-Sukta* of *Ṛg-Veda* it is mentioned that he (Indra) is born from the mouth of the *Puruṣa* along with god Agni.[4]

Soma is also the generator of Indra.[5]*Prajāpati* is also said as the creator of lord Indra, as he is responsible for the whole creation. But the real position is that the birth of him is only known to Indra himself.[6]

2. Family of Indra

In entire Ṛg-Veda nothing is mentioned in certainty about the parents of Indra. Aditi as the Mother of all gods (*aditirdevamātā*) is also described as the mother of Indra.[7] Here, mother Aditi came with his son Indra to save vāmadeva. In another *Mantra* we see Aditi proclaiming Indra as her son.[8] In some other *Mantras* Indra is also mentioned as *śavasi-putra*.[9] In Sanskrit, the word *śavasi* means *bala* or courage. This refers to Indra's ability to carry out the mighty deeds which other gods do not dare to. All these show the insurmountable velour and prowess of Indra.

Tvaṣṭrā is famous in *Ṛg-Veda* as the father of Indra. He is the creator of the divine weapon known as *vajra* (thunderbolt) of Indra.[10] In another *Mantra* it is mentioned that the creator of his thunder bolt is his father.[11]There is also a mention about *Kāśyapa*[12] and *dyos*[13] as the father of Indra. Earth and heaven *(dyāvāpṛthivi)* are both mentioned as father and mother of Indra.[14]

Śacī, Indra's wife is very auspicious in her nature.[15] Another name of Indra's wife is *Indrāṇī*[16]. In AB too we find the mention of *Senā* and *Prāsahā* as the two wives of Indra: [17]

senā vā indrasya priyā jāyā vā vantā prāsahā nāmā
indro vai prāsahaspatistu viṣmān[18]

Śacī is most beloved by Indra.[19]She is described as having high intelligence. She took part in the conversation with Indra and *Vāṣākāpi*[20]. She is described as having beautiful arms, beautiful fingers, long hair and broad hips. In this *mantra* Indra himself has addressed *Indrāṇī* as his wife.[21]

Agni and *Pūṣan*[22] are known as two brothers of Indra. In another *mantra* both of them are mentioned as twin brothers of Indra.[23]It is mentioned in the ṚV that they are born from the mouth of the *Puruṣa* at the same time.[24]

3. The Human Personality of Indra

Although, in Sri Aurobindo's interpretation of the Vedic hymns, dedicated to Indra, we do not find the human characteristics of Indra, but if we go to the

interpretation of Sāyaṇa, it appears that Indra is more like human beings. Like human beings, he has a strong physical structure with arms and head.[25] As man he receives food in his stomach. Indra also receives the *Soma* juice as his food in his stomach. The word *jaṭhara* meaning 'the stomach', used in the context of Indra, refers to this aspect of receiving food in the stomach. While interpreting another hymn Sāyaṇa says that the stomach of Indra is as large as a receptacle of *soma*, or as a lake.[26]Interpreting the word '*vapodara*'[27] Sāyaṇa refers to the large belly of Indra and says that as Indra drinks the *Soma* juice, his belly becomes large and his body exhibits strength and energy.

He has strong arms like man by which he holds the thunderbolt to destroy his enemies and his worshipper's enemies. That is why he is named as *subāhu*.[28]Again he is mentioned as having two auspicious hands, [29]which are doors of good deeds and extends of wealth to those who praise him.[30] Regarding the description of his attractive and expanded tongue, there is a *mantra* in *Ṛg-Veda* in which we find the host inviting Indra to drink the sweet *Soma* juice with his expanded and well-formed tongue, *kakut*, for which Sāyaṇa gives the meaning *jihvā* (tongue)[31]. So for obtaining his blessings the host addressed him as *suśīpra* in many of his hymns. In this context, the Ṛg-Vedic sage says that, "Rejoice, Indra, with the steeds who are of thy nature, open the jaws, set wide the throat, (to drink the soma juice), let the horses bring thee, who have a handsome chin, (either); and, benignant towards us, be pleased by our oblations.[32]In ṚV there are two more words, which resemble with the word *suśipra*. Such as, *śipravat,*[33]*śiprūnavat,*[34]having the same meaning as 'having handsome chin'.

It is mentioned that Indra's body has the colour of gold[35], and therefore, he is named as *hiraṇyagarbha*.[36] H.H. Wilson described it as a 'golden-hued deity'.[37] And accordingly his hands are also golden-hued.[38] Sometimes he is described as having green-colored hair[39] and beards.[40]

Uruvyacasa is another epithet that is used to convey the vastness of limbs of Indra.[41] In this *Mantra* the host is calling Indra for drinking of *Soma* juice and saying that, "Come in to our presence. They have called you.You are so fond of *Soma* juice. It is prepared. Come and drink it, for your exhilaration. Vast of limbs, distend the stomach; and when invoked, hear us, (as a father listens to the words of his son).[42] He is *tuvigrīva,*[43]possessing long neck, by which he can easily have his favorite *Soma* drink which he likes the most.

Indra As a war-god

Indra is a great war-god. As a mighty hero he conquers the battles with demons. His greatest enemy is *Vātra* whom he smote with his great thunderbolt. That is why he is called as *Vṛtrahā*.[44]

The ṚgVeda mentions the various aspects of a fight between Indra-and *Vṛtra*: Indra slew *Vṛtra*, demolished his castles, made channels for rivers[45], make the light mount in the high[46]pierced the mountains and delivered over the cows. Heaven and earth trembled with fear when Indra afflicted *Vṛtra* with his thunderbolt.[47] Besides,

Indra is said to have defeated many minor demons or dark forces such as *uraṇa*,[48] *viśvarūpā*,[49]*arbuda*,[50]*paṇī*[51]*ṇamuci* and so on. He is associated with the conquering of *dāsas* or *dasyus* the human-foes.[52]

4. His weapons

As a war-god Indra is a wielder of good weapons. His favorite weapon is thunderbolt which is generally described as fashioned for him by *Tvaṣṭā*. Besides, he is said to be armed with a bow and arrows. He has a hook too for his weapon.

5. The Chariot of Indra

The chariot of Indra through which he moves, is made of gold,[53] and the bearers of that golden chariot are two shinning horses, known as *hari.*[54] *Ābhugaṇa*, known as the creator of Indra's chariot and horses.[55]As we know that our mind moves very fast. But the chariot of Indra is faster than our mind[56], because it is the wind-gods who serves as the carriers of that chariot.[57] So, they are called *indra-sārathis:.*[58]

Indra is famous as *harivat*[59] because in Sanskrit the word *hari* means horse and Indra is always ready with his horses for *Soma* drink and for war also. There are so many epithets, mentioning lord indra's relationship with his horses as well as with his chariot. Such as, *harivat,*[60] *hariṣṭhā*[61], *ratheṣṭhā* [62].

The chariot of Indra is always ready and protected by the shining horses.[63]The horses of Indra are of green color,[64]with hair like the feathers of a peacock.[65] These horses are mentioned as sleek-backed in ṚV.[66] Generally the number of Indra's horses are two[67], but some of the *Mantras* mention the number as one hundred[68], and sometimes as one thousand[69]. With golden colored body, those horses are very speedy in their movement. They bring Indra as his two wings bear along the falcon.[70] Their movements are dependent upon the *stuti* of the invoker. [71]

Thus, these are the descriptions of the vehicle of Indra by which he moves to the war field as well as to the place where sacrifice is performed.

6. Indra as a Ruler

Indra is the most powerful deity of the Vedic age. He is an independent ruler, known as *Svarāṭ*. He is the king, holder of the thunderbolt, is the king of all that moves and moves not and of creatures who are tamed and horned. Over all living men, he rules as a sovereign containing[72] all as spokes within the felly. He, the *vāṣabha* is the lord of races. He is the king of both worlds.[73] He is the lord of heavenly treasures and all terrestrial wealth that earth possesses.[74]He is the lord of people.[75]He is the lord of bliss.[76] He is unrivalled suzerain of the whole universe.[77]He controls all efforts and achievements.[78] He is the master (*Pati*) of the whole animate world,[79] heaven,[80] people, [81]tribes, [82]movements,[83] energy,[84] strong luster,[85] rivers full of bounties,[86] and joyous song[87]. He is the *samrāṭ*, the sovereign of the vast extended heaven and the regions. He is the director of wealth or rays of light. He is the only lord of universe.[88] The word *gopati* used for Indra also conveys his lordship over the regions that he created. Even the earliest and foremost *devas*

submitted their powers to his supreme dominion.[89] Indra is, thus, the supreme lord in the Ṛg-Veda. Everything in the universe is governed by him.

7. Indra as a Soma-drinker

Indra delights in drinking *Soma*, which symbolically represents the delight of existence. Indra's immense cosmic power is attributed to the copious quantities of *Soma* that he consumes. The intoxicating power of *Soma* was thought to provide both gods and mortals with such attributes as immortality and invincibility. *Soma* played an indispensable role in Vedic sacrifices, and humans commonly offered the beverage to the gods so they might maintain their transcendent qualities. While each of the gods consumed a portion of the *Soma* offered at Vedic ceremonies. Indra was said to consume most of those all, which increased his already immense strength, and therefore, rendered him the most powerful god. In this way, Indra came to be the focus of the *Soma* ritual.[90]

There is a close connection between Indra and Soma,[91]the delight of existence. A *Mantra* from ṚV says that *Soma* and Indra are great friends.[92] In entire ṚV Indra is famous for his name *Somapā*, the drinker of *Soma*. This shows Indra's intimacy with *Soma*. By drinking *Soma* juice Indra feels extremely pleased and gives the worshipper all that he desires. By drinking of this *Soma* juice Indra is filled with luster[93]and is able to win the wealth[94]and destroy the foes[95].

Indra and *Soma* are so closely associated that on most occasions the one is not mentioned without explicit or implicit reference to the other. It is indeed after heavy drinking of *Soma* that Indra is rendered capable of his heroic tasks. *Soma* is a God, a myth, a plant, and the special juice extracted from it, which is utilized in many sacrificial and other rites. It is the celestial drink that is invoked. One of the most important tasks of Indra was the liberation of the world from the dominion of the fearful dragon Vṛtra, who was maintaining the universe in drought and gloom; the dragon was slain, the waters flowed, the shadows were dispelled, the sun rose, and the light shone. Thus, Indra is hailed as conquering Lord and as savior and, because of the work of liberation, achieved in partnership, Indra and *Soma* are said to give life to the world, for water, light, and sunshine are the necessary conditions for life.

Indra and *Soma* are thus intimately connected with light because they drive away all shadows, all evil. They co-operate in the task of bringing light to the world, and Soma, the sacrificial drink, the all-purifying *(pavamāna)*, is often praised as "Lord of Light." The identification of *Soma* with light, he is called *indu*, bright drop-derives no doubt from the appearance of the sacred liquid which is of a yellow-golden hue *(hari)*. The poets highly praise *Soma's* luminosity, which may also be connected with his inebriating effect. *Soma*, the sacred drink drunk by Indra, not only inspires Indra to perform mighty deeds but is himself a God who performs great cosmic actions: he makes the sun and the dawn shine; he is the Father of Heaven and Earth; it is to please him that the winds blow and the rivers flow. He is even praised as possessing the whole universe, including its five regions. He is also, and independently of Indra, a great and heroic warrior who

wins all his battles. No evildoer, no wicked person, can withstand his mighty and luminous power, "for you, *Soma* purifier, repel all enemies.

8. Indra as a creator

Indra in *Veda* is portrayed as *janitā*[96] (the Creator). He is the generator of horses, cows,[97] heaven, earth,[98]sun,[99] and is also the father of the fathers.[100] He is the father (*pitā*).[101] He is the maker of the waters,[102] of lights,[103] and of valiant riches.[104] He is creating his Māyā, from various shapes.[105] He is the supreme creator of the universe.[106] He is described as Brahman, the creator.[107] He is *kṛtabrahmā*.[108] He is the maker of law (*dharmakṛt*).[109]

9. The Divine Helper and friend of the worshipper

Indra as the helper, deliverer and advocate of his worshippers. He is frequently called the friend of his worshippers. Indra is invoked as a friend (*sakhā*) for more than thirty times in the ṚV. He extends his friendly hand to those who seek his friendship. Thus, says the Veda : 'You are a helping friend to those who look for thy friendship.[110] he is the friend of sages (*sakhā munīnām*)[111] and of friendly people (*sakhā sakhānām*). [112] he is the friend of the blessed ones (*sakhā somyānām*).[113] He is the ever-fresh friend (*mitra naviyān*) to the *dextral* person. He is addressed as, "Thou, lord of friends, art thy friend's best supporter."[114] He is again prayed by the host that he may never withdraw from us his friendship, but be our guard and strong defender.[115]He bestows wealth on the pious man who offers libations to him. Owing to this liberality, he receives the attribute *Maghavān*, the bountiful.

10. His Antagonistic nature

Indra is sometimes described as one who is unfriendly to others. He is the only god who breaks the harmony of heaven. He fought against the gods; destroyed the chariot of the dawn;[116] once he defeated *Sūrya*[117]and stolen the wheel of *Sūrya*[118] threatened to slay his faithful followers *marutas*.

In this way, Indra is described in the ṚV as the possessor of terrible as well as placid qualities. He is the destroyer of the wicked ones but a great friend of the godly devotion.

References

[1] John.Muri, *Original Sanskrit texts*, vol.5, p.115.

[2] R.L. Kashyap, *Indra Lord of divine mind*, p.1.

[3] *Ibid.*, p.1-2.

[4] ṚV 10.90.13.

[5] ṚV 9.96.5.

[6] ṚV10.73.10.

[7] ṚV 3.48.2, ṚV 4.18.5.

[8] ṚV 4.18.4.

[9] ṚV8.45.5, 77.1.

[10] ṚV 1.32.2.

[11] ṚV 2.17.2.

[12] ṚV 3.48.2.

[13] ṚV 4.17.4.

[14] ṚV 10.54.3.

[15] ṚV 3.53.6.

[16] ṚV 10.86.11-12.

[17] AB 3.22.
[18] AB 3.22.
[19] ṚV 1.82.5.
[20] ṚV10.58.11-12.
[21] ṚV 10.86.8.
[22] ṚV5.55.5.
[23] ṚV 6.59.2.
[24] ṚV 10.90.13.
[25] ṚV 2.16.2.
[26] ṚV 3.36.8.
[27] ṚV 8.17.8.
[28] ṚV 8.17.8.
[29] ṚV 8.33.5.
[30] ṚV 4.2.19.
[31] ṚV 6.41.2.
[32] ṚV 1.101.10.
[33] ṚV 6.17.2.
[34] ṚV10.105.5.
[35] ṚV 1.7.2, 8.55.3.
[36] ṚV 5.38.2.
[37] H.H. Wilson, *Ṛig-Veda sahnita,the first astaka*, p. 294.
[38] ṚV 7.34.4.
[39] ṚV 10.96.5-8.
[40] ṚV 10.23.4.
[41] ṚV 1.104.9.
[42] H.H. Wilson, *Ṛig-Veda sahnita,the first astaka*, p.269.
[43] ṚV 8.17.8.
[44] ṚV 10.74.6.
[45] ṚV 1.32.12; 2.12.12; 4.26.6.
[46] ṚV 1.6.3; 1.121.2.
[47] ṚV 1.80.14.
[48] ṚV 2.14.4.
[49] ṚV 10.8.8-19.
[50] ṚV 2.14.4; 2.11.20; 1.51.6.
[51] ṚV 6.51.14.
[52] ṚV 1.130.7; 8.32.2.
[53] ṚV 6.29.2.
[54] ṚV 4.15.8, 5.27.2.
[55] ṚV 1.111.1, 5.31.4, 8.56.8.
[56] ṚV 10.11.2-21.
[57] ṚV 4.48.2.
[58] ṚV 4.46.2.
[59] ṚV 5.31.2.
[60] ṚV 6.22.3.
[61] ṚV 3.49.2.
[62] ṚV 4.6.22-5.
[63] ṚV 10.44.2.
[64] ṚV 1.81.3, 3.45.1.
[65] ṚV 3.45.1.
[66] ṚV 8.6.42.
[67] ṚV 2.18.7.
[68] ṚV4.46.2, 8.1.9-24.
[69] ṚV 6.47.18, 8-1, 9-24.
[70] ṚV 8.34.9.
[71] ṚV1.82.2, 2.18.3, 8.17.2.
[72] ṚV 1.32.15.
[73] ṚV 6.47.16.
[74] ṚV 2.14.11.
[75] ṚV 4.17.30; 8.64.3.
[76] ṚV 6.37.2;6.20.3.
[77] ṚV 6.36.4.
[78] ṚV 8.37.5.
[79] ṚV 9.101.5.
[80] ṚV 8.13,8-9;98,4-6.
[81] ṚV 6.36.4.
[82] ṚV 6.45.16; 8.13.9.
[83] ṚV 6.45.10.
[84] ṚV 10.23.3.
[85] ṚV 10.23.3.
[86] ṚV 10.180.1.
[87] ṚV 3.31.18.
[88] ṚV 8.37.3.

[89] ṚV 7.21.7.

[90] B.B. chouby, *The new vedic selection.*

[91] Ṛ.L Kashyap, *Indra lord of divine mind*, p.23.

[92] ṚV 1.4.10.

[93] ṚV10.89.5.

[94] ṚV10.120.4.

[95] ṚV5.44.3.

[96] ṚV 1.129.11;8.99.5.

[97] ṚV 8.36.5.

[98] ṚV 8.36.4.

[99] ṚV 3.49.4.

[100] ṚV 4.17.17.

[101] ṚV 3.31.12, 4.17.17, 8.6.10; 8.52.5; 10.8.7; 10.22.3.

[102] ṚV 8.90.19.

[103] ṚV 8.16.10.

[104] ṚV 1.5.9;1.8.1.

[105] ṚV 3.53.8.

[106] ṚV 8.92.8.

[107] ṚV 8.16.7.

[108] ṚV 6.20.3.

[109] ṚV 3.49.4.

[110] ṚV 5.167.18.

[111] ṚV 8.17.14.

[112] ṚV 1.84.4.

[113] ṚV 4.17.7.

[114] ṚV 1.70.5.

[115] ṚV 4.16.20.

[116] ṚV 2.15.6

[117] ṚV 10.43.5

[118] ṚV 1.1.5-4;4.30.2

Bibliography

. The *Ṛgveda-Saṃhitā* (Ed.) R.L.Kashyap, S.Sadagopan, Sri Aurobindo Kapali Sastri institute of Vedic culture, Banglore, 1999

. The *Ṛgveda*-Saṁhitā (Ed.) Haryana: Sahitya Samsthan, V.S.2041

1. *Indra and Varuṇa in Indian Mythology,* Usha Choudhury, Delhi, 1982.
2. The Worship of the sky God, E.O. James, University of London, 1963.
3. *Jayanti*, Kāvyakaṇṭha Gaṇapati Muni Centenary Commemoration Volume, Karnataka,1978.
4. *Indra: Lord Of Divine Mind*, R.L. Kashyap, Sri Aurobindo Kapali Sastri institute of Vedic culture, Banglore, 1999
5. *Nayana*: Biography of Vasiṣṭha Gaṇapati Muni, Gunturu Lakshmikantam, Tr. (G.Krishan), Hyderabad,1978.
6. *Glory of Vasiṣṭha Gaṇapati*, S.R. Leela, Sri Aurobindo Kapali Sastri institute of Vedic culture, Banglore, 1999.
7. *A Vedic Reader For Student*, Arthur Anthony Macdonell, Oxford University Press, London, 1965
8. *The Gods of India*: their History, Character, and Worship, Rev.E.Osbern Martin, Indological Book House, Varanasi, Delhi, 1940.
9. *TheVedic Experience: Mantramañjarī*, Raimundo Panikar, M.L.B.D, Delhi, 2002.
10. *Mahātapaswi*,Tr (Smt.Sonti Anasuyamma), A.V. Ramana, Mumbai.

11. *Guru And The Disciple*: Bhagavan Ramana and Ganapati Muni, S. Ramaswamy, Tr. (A.R.Natarajan), M.L.B.D, Delhi, 1998.

12. *Ṛgveda me Indra*, Sudha Rostogi, Varanasi, 1981.

13. *Bhagavan and Nayana,* S. Sankaranarayana, Sri Ramanasraman, Tiruvannamali, 1997.

14. *The Secret of the Veda,* Sri Aurobindo, Sri Aurobindo Ashram Trust, Puducherry.

15. *Hymns to the Mystic Fire*, Sri Aurobindo, Sri Aurobindo Ashram Trust, Puducherry

16. *Hindu Mythology Vedic and Puranic*, W.J. Wlikins, Indological Book House, Varanasi, Delhi, 1973

17. *Selected Works of M. P. Pandit*, Vol. 4, 5 and 6, Dipti Trust, Puducherry

18. Indra, Critical study of, and Varuaṇa in the *Vedas*, *Mahābhārata* and principal *Purāṇas*. Arya, Usha Delhi, 1966, Ph.D.

19. Indra, Critical study of the vicissitudes in the mythological life of, in Vedic and Sanskrit literature. Saksena, Manju Allahabad, 1969, Ph.D.

20. *Indra-devatā, Vaidika tathā Saṃskṛta sāhitya men*, (H). Shefali Lucknow, 1994, Ph.D.

21. Indra in *Ṛgveda*. Upreti, Jai Datta, Garhwal, 1980, Ph.D.

22. Indra in the light of Vedic and post-Vedic literature. (H). Sharma, L.K. Raipur, 1973, Ph.D.

23. Indra in the post-Ṛgvedic literature: An examination of the source of Indra's degradation as it appears in the *Purāṇas*. Godbole, Ganesh Hari Bombay, 1954, Ph.D.

24. The new vedic selection part II by Dr. Braja Bihari Chaubey, published by Bharatiya vidya prakashan, Kachaurigali, Varanasi, 1965, 1973

● **Sanskrit Department, Utkal University,**
Vanivihar, Bhubaneswar (Orissa)



Spoken Sanskrit : its Past and Present

Sadananda Das

(अद्यत्वे सम्भाषणसंस्कृतं नवीनविधारूपेण स्वीकृतं भवति। व्यावहारिक-प्रचलित-संस्कृत-शब्दानां प्रयोगमाध्यमेन, सरलक्रियापदानां प्रयोग-माध्यमेन सामान्यजनानां कृते संस्कृतसम्भाषणं कथं सुकरं भवेदिति विषये शोध: प्रचलति। अद्यावधि नैकाभि: संस्थाभि: प्रत्यग्र-सामग्र्य: निर्मीयन्ते सम्भाषणसंस्कृतमभिलक्ष्य। पक्षान्तरे देववाणी संस्कृतं विश्वस्य प्राचीनतमभाषासु अन्यतमम्। वैदिके काले, पौराणिके काले च संस्कृतं सम्भाष्यते स्म। आलेखेऽस्मिन् सम्भाषण-संस्कृतस्य प्राचीनरूपं नवीनरूपं च विमृष्टम्।)

I. Spoken Sanskrit: Its Past:

Sanskrit, one of the ancient and significant languages of the world, is an important language in the Indo-European Language family. Through Indo-Iranian sub family it became a prominent and the oldest language in the Indo-Aryan language family. It is one of the oldest languages of the Indian subcontinent and the liturgical language of Hinduism, Buddhism, and Jainism. Now it is one of the 22 official languages of India.

It is a matter of joy and satisfaction that Sanskrit, the one-time lingua franca of India, has developed through ages, standing to the test of time and history and overcoming the obstacles of its path. Through its status, it ocupied once, has changed since then, still it has a wider and more voluntary area of communication than any of the old languages of the world. For the people, who are related with the cultural life of India, not to say of those who are interested in the study of its history and culture, Sanskrit is still the main source from which they get inspiration and the untold truth. Many reasons have been advanced as to its uninterrupted continuity. Still the fact remains that it is as living a language today as it had ever been.

The name Sanskrit is an Anglicization of *saṃskṛta* (perfective participle of the root *kṛ* (*karoti)* – 'to do, to make', with the prefix *saṃ*, together or completely), means `refined', `polished', `cultivated', `correct', and `sanctified' or 'perfected'. It has always been regarded as the 'high', noble language and used mainly for religious, spiritual, philosophical and scientific discourses. However, before the term Sanskrit used for this language, it was known as *bhāṣā,* or even *devabhāṣā, devavāṇī, surabhāratī, bhāratī, gīrvāṇavāṇī, sarasvatī,*.[1] From the above terms it is interesting to note here that one of the terms for speech is called `*bhāratī'* (*vāk/vāc*). It may be understood in two meanings in this context i.e. the goddess of speech and that which belongs to Bharatas. In its second meaning it may have had originally an ethnic sense, meaning

language of the Bharatas. Bharatas were the most prominent of the Indo-Āryans at an early period of time, whence also the indigenous name of India, *Bhāratavarṣa* or *Bhārata* has been derived[2]. Sanskrit in its narrower sense applies to standard classical Sanskrit as regulated by the grammarians but may be conveniently used more widely as equivalent to old Indo-Āryan. In ancient India knowledge of Sanskrit was a marker of social class and educational attainment. It was taught mainly to the members of higher class. Sanskrit as the language of learned or educated class, thus, existed alongside the *Prākṛts* (vernaculars), which evolved into middle Indo Aryan languages and later into the contemporary modern Indo-Aryan languages.

As we see from the Ṛgvedic period, Sanskrit was a spoken language in those days. Starting from the earliest hymn of the ṚV ``down to the present day there has probably been no period in which Sanskrit in (the wider sense of the term, including the language of both the Vedic and the classical periods) has not been used, to some extent, both for the purpose of literature and at the same time as a spoken language"[3]. It had been in India for many centuries past more than a language of commentary and learned communication as Latin, in medieval Europe. And its creative period continued untill after 1400 A.D. This earliest Vedic Sanskrit which was entirely in poetry, therefore, must have differed, no doubt, from the spoken language of that time in the same manner as poetic compositions in every time and place has been different from the language of ordinary life.

As we see there is a big change in the language of *Ṛgveda*, down to the language of *Brāhmaṇas* and *Upaniṣads* and further to the classical period. Now a language which undergoes certain changes in a definite manner is certainly not dead. Changes can only come about through the influence of the living language. And therefore, there would not be sufficient reason for doubting the continuity of a spoken Sanskrit throughout the whole of Vedic period.

Thus, there is a very good evidence, to show that this continuity was not broken, and that during the classical period, a spoken Sanskrit existed side by side with the literary speech, differing from it in the same manner as our day-to-day speech differs from the language of our books. Some examples of this can be clearly noticed in the works of grammarians. As we know grammar like astronomy, mathematics and any other science had its origin in the study of the *Veda*. It's first beginning is seen in the *padapāṭha* of the *Ṛgveda* ascribed to Sākalya. Later on among the grammarians the greatest names are those of Yāska, Pāṇini, Kātyāyana, Patañjali and others (starting from about 600 B.C. upto 150 B.C.). Yāska, whose *Nirukta* or `Etymology' of the Vedic Language may be considered as the earliest known example of the use of strict classical Sanskrit prose. In the *Nirukta* of Yāska[44] , we come across with the words like *bhāṣāyāṃ*, *bhāṣante*, and *bhāṣate*, which show that Sanskrit was spoken in the days of Yāska. This is further explained by the statement that the Easterners used *dāti*, while the Northerners used *dātra*, and that the Kambojas used *śavati*, while the *āryas* used *śava*. The idiomatic use of certain particles seems to be based on spoken Sanskrit (20-16; 21-17). Here *bhāṣā* is contrasted with *nigama*; bhāṣā non Vedic Sanskrit, *nigama* Veda. So *bhāṣā* may mean both spoken Sanskrit and non-Vedic Sanskrit. What we can see here is that

the speech which was actually spoken was being analyzed is obvious from the *Nirukta*, where the words *bhāṣāyām*, `in the spoken word/languages, *bhāṣante*, `they speaks, *bhāṣyante* `spoken occur. Yāska also differentiates the language of the *Veda* by calling it *nigama,* but at the same time he establishes the relationship between the two by saying that they speak the *nigama* roots by creating from the spoken roots, and therefore, the speech (root) are in the *nigama* (roots). *athāpi bhāṣikebhyo dhātubhyo naigamāḥ kṛtāḥ bhāṣyante. athāpi naigamebhyo dhātubhyo bhācikāḥ kṛtāḥ bhāṣyante*. (30-18-19). *bhāṣā* as Rajavade comments, is both spoken Sanskrit and non-Vedic Sanskrit. Thus, these two words *bhāṣā* and *nigama* were used to describe the same language which bore certain relationship without being strict linguistic systems. (*bhāṣāyām, iveti bhāṣāyāṃ ca anvadhyāyaṃ ca. nçnam iti vicikītsārthīyo bhāṣāyām ubhayam anvadhyāyam.*

After Yāska in the time of Pāṇini, the great grammarian, who lived in the northwest part of India (about 500 B.ṃ), and whose grammar of the spoken literary language of his day known as *Aṣṭādhyāyī*, dominates all succeeding Sanskrit literature. Pāṇini clearly calls the language with which he deals *laukika*, that which is used in ordinary life, and distinguishes it from the *chāndasa* or poetical language of the *Vedas*, and the grammarians generally starting from Yāska up to Patañjali apply the term *bhāṣā* or speech to classical Sanskrit, from the root *bhāṣ-* to speak - a term which could not possibly have been used to denote a dead language. ``The evidence that the language with which they deal was a real living spoken language is overwhelming"[5].

The language Pāṇini describes, is a form of early Indo-āryan: Sanskrit (*saṃskṛta*). ``He composed his work in Sanskrit, and he could assume of his audience all members of which must have been native speakers of this language a knowledge of conventions of use known to him and to be all other native speakers from their own usages[6]. Pāṇini calls it simply, *bhāṣā* `language or `spoken language' as opposed to the archaic Vedic language, what we call Sanskrit. He often says: *iti bhāṣāyām, iti chandasi* by making a distinction in his grammar between *bhāṣā* ``the colloquial language and *chandas* ``the Vedic language. To make it more clear, as Madhav Deshpande says ``these two were seen as being distinct forms of a unified Sanskrit language. While literally the word *bhāṣā* denotes ``language, in fact, it actually refers to the upper-class language in the relation to which other forms of languages were considered as substandard"[7].

This is also observed by Patañjali. I would like to quote here Cardona: ``the language Pāṇini describes is the speech of persons referred to as *śiṣma*, (cultured and learned people who want to speak correctly and who therefore, have studied grammar) an elite of model speakers characterized as much by their moral qualities as by their language. It is most plausible to consider that in Pāṇini's time the language he used and described in his grammar was the major vehicle of learned discourse and ritual in use among members of a community, wide spread through the north of the subcontinent, that constituted a linguistic and social elite, and that this language then coexisted - as Sanskrit noin later times—with vernaculars used in less formal circumstances and by other speakers[8].

The term *bhāṣā* is used at least seven times in Pāṇini's Aṣṭādhyāyī[1]. He refers from time to time saying *iti bhāṣāyām,* or *laukika* or *loke*, and *iti chandasi*. In his description he also refers to some of the regional variations by quoting dialect features, mentioning the usages particular to northerners (*udicām*), and easterners (*prācām*). He also mentions the observations of teachers by saying (*iti ācāryāṇām*) and refers to ten scholars by name[2]. He further takes note of features particular to a more archaic form of Indo-Āryan, known to him from Vedic literature, both in general (*chandasi*, in sacred literature), and in Vedic literature and in specific Vedic traditions and works.

Pāṇini gives a lot of optional rules which also shows that this language was a living language and very much a spoken language in his time and many exceptional rules point out towards various regional sources of its vocabulary. Another point needs to be mentioned here that the very basis of a grammar depends on a spoken language. Grammar was an attempt to discipline and explain the behaviour of a spoken language and not for creating an artificial language. Therefore, grammar is called *śabdānuśāsanam*.

It has been often seen that Sanskrit readily assimilated new words and usages drawn from local languages which existed alongside it, in all ages and everywhere. Absorbing the language to some extent to the prevailing local languages made it more accessible to the local people. The intrusion of roots and other grammatical elements, words, and phrases into Sanskrit in every age indicates that it has been used for communication with people other than *paṇḍitas*. Therefore, there should be no doubt about the existence of Sanskrit as a spoken language. Some more examples about its spoken forms may be noticed from the works of the grammarians and from some scholarly literature in which it occurs occasionally. For instance Pāṇini gives a number of exceptional forms as ready-made. Patañjali also adds many popular idiomatic forms and draws attention to the case of forms which can be deduced from the grammatical rules. Patañjali also remarks that the regularly formed second person plural forms of certain verbs: *neśa* (Ê*naś*,-) you destroyed, *sasna*, (√*snṛ,-*) bathed, *jaghna*, (√*han,-*) killed, *çca*, (√*vas*,-) resided, *tera*, (√*tṛ*) crossed, *cakra*, (√*kṛ,-*) made, *peca*, (√*pac*,-), cooked, are no longer in use, instead the forms (*yçyam*) *nacmāḥ*, *snātāḥ*, *hatavanta*, *ucitāḥ*, *tV̄rṇāḥ*, *kṛtavantaḥ* and *pakvavantaḥ* are used in their place. He does not say from this that the rules are wrong. Rather his opinion is that he does not know all the usages and they may exist in other parts of the country. This shows his idea and usage of the language and at the same time suggests the two levels of the language i.e. spoken language and scholarly language. We can also draw similar evidences from the day-to-day usage of our languages such as Sanskrit, English, Hindi, Oriya, Bengali, Marathi or any other language. An educated person speaks one language at home, another at work, another in a gathering of learned people and so on. What we do now-a-days in India can be appropriately given as an example of the situation of spoken Sanskrit at the time of Patañjali. I speak in Oriya at home, in the institute with my other colleagues in Hindi, with my director in English, with a Sanskrit scholar in Sanskrit. Even speaking the same language in two different groups also grammatically

differs. The scholarly language is based on rules of grammar and the language spoken among the common people does not follow the rules strictly. Another reason may be of accepting certain words from outside. Satyakama Verma believes that: ``the concept and evolution of *uṇādis* is also said to be indicative of accepting certain words from outside. Such attempts originate from the very assumption that Sanskrit was developing through popular usage; though one may still argue that its usage was limited to a particular stratum. We cannot deny that this stratum was wide enough to cover the whole of the country. The words of one particular region may be found current in nationwide usage in any contemporary Sanskrit literature[11]

Sanskrit was used in at least two different levels. This example of *Rāmāyaṇa* shows these two different levels of the use of this language. Here we can see in some occasions one of the characters uses a particular type of speech, either polished or colloquial. In some cases the polished form of speech is marked as *Saṃskṛta*, 'polished'. According to J.L. Brockington, ``this is never opposed to *prākṛta*, which always has its basic meaning 'of ordinary people, common', and is not used to denote a type of speech."[12] On this point he quotes Jacobi and confirms by his own analysis of all occurrences of *Prākṛta* in the text.

Two levels of the same Sanskrit language are used in *Rāmāyaṇa* which suggests that different levels of people spoke different types of Sanskrit. Thus, when *Hanumān* is thinking how to address Sītā in order to avoid terrifying her, he decides to speak in ``human polished speech (*mānuṣaṃ vākym* 19b) in contrast either to his own monkey speech as Jacobi considered, or more naturally to the polished speech of *brāhmaṇas* (*dvijātiriva saṃskṛtām*) which risks confusion with Rāvaṇa; apparently here learned, *brāhmaṇised* speech is contrasted with 'human', that is ordinary speech but both called Sanskrit'': [13]

अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।
वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्॥(5-17)

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥(5-18)

Here we can see an example where the same language is used in two different levels in human polished speech and in polished speech of *brāhmaṇas (dvijātiriva saṃskṛtām)*. Therefore, it is not always true to see Sanskrit in opposition with Prākṛta, which is considered as an ordinary language.

Many of the Sanskrit dramas suggest that it coexisted along with prākṛtas, spoken by those with better education. If we closely look at the classical Sanskrit literature, epics, prose works, poetries, and dramas, we find a lot of examples of the existence of spoken Sanskrit at that time. It reveals the two levels of the language which are well represented there. The two styles can clearly be distinguished: the descriptive and the spoken. In Sanskrit drama they are clearly separated. There is the dialogue in prose and there are lyrical expressions in verse. In a work where the two styles of poetry and dialogue are well balanced, there we have many examples of spoken Sanskrit. The play of *Mṛcchakaṭikam,* (The little clay cart) of

Śūdraka offers one of the best examples of this where in a number of passages spoken Sanskrit becomes vivid. The following few sentences from the above text might be sufficient to give you an idea about the presence of spoken Sanskrit in those days.

चेटी - आर्य, अवनमय दृष्टिम्। पश्य आर्याऽम्।

विदूषकः - स्वस्ति भवत्यै।

वसन्तसेना - अये, मैत्रेय स्वागतम्। इदम् आसनम्। अत्र उपविश्यताम्।

विदूषकः - उपविशतु भवती।

वसन्तसेना - किं दर्शयामि तम् अलङ्कारम्।

वसन्तसेना - मैत्रेय, कथं न ग्रहीष्यामि रत्नावलीम्। .... आर्य, विज्ञापय तं द्युतकरं मम वचनेन आर्यचारुदत्तम्। अहम् अपि प्रदोषे आर्यं प्रेक्षितुम् आगच्छामि इति। (4th act)

चेटः - भवतु। एवं भणिष्यामि। अरे, प्रश्नं ते दास्यामि।

विदूषकः - अहं ते मस्तके पादं दास्यामि।

चेटः - कथं पारावतं पश्यति। मां न पश्यति। भवतु। अपरया लोष्टगुटिकया पुनरपि ताडयिष्यामि।

विदूषकः - किमिदानीमत्र कथयिष्यामि। भवतु। चारुदत्तं गत्वा प्रक्ष्यामि। अरे, मुहूर्तकं तिष्ठ। भो वयस्य! प्रक्ष्यामि तावत्। कस्मिन्काले चूता मुकुलिता भवन्ति?

चेटः - द्वितीयं ते प्रश्नं दास्यामि। सुसमृद्धानां ग्रामाणां का रक्षां करोति?

विदूषकः - भवतु। संशये पतितोऽस्मि। भवतु। चारुदत्तं पुनरपि प्रक्ष्यामि।......

चेटः - एषा सा आगता वसन्तसेना।

विदूषकः - भोः अपि जानासि, किं निमित्तम् ईदृशे दुर्दिने आगता इति।

चारुदत्तः - न सम्यग् अवधारयामि।

विदूषकः - मया जातम्। (4th act)

There are a number of such examples in other dramas like *Cārudatta*, *Svapnavāsavadatta*, and *Karṇabhāra* etc. of Bhāsa, from which we can understand that spoken Sanskrit is present everywhere and well documented in the literature. But it has to be searched for amidst scholarly Sanskrit. This indeed shows the fact that the traditional *paṇḍitas* used the language at two levels.

One or two more instances from other literature will also make this idea clear. We find a reference in the *Rājataraṅgiṇī* of Kalhaṇa which shows that Sanskrit was spoken in the noble families at that time. A possible clue to termination of Sanskrit as a spoken language is provided by Kalhaṇa who describes Saṃkaravarman (883-902) in the following way:

कल्यपालकुले जन्म तत्तेनेव प्रमाणितम्।
क्षीवोछितापभ्रंशोक्तेर्दैवी वागस्य नाभवत्।।

"Thus this (king >, who nonot speak the language of the gods but used vulgar speech fit for drunkards, showed that he was descended from a family of spirit-distillers". (tr. Stein)[14]

This refers to the fact that the power had passed to the brothers of a queen, who was born in a family of spirit-distillers.

Since Kalhaṇa was writing a chronicle, and Saṃkaravarman lived not too long before his own time, his account suggests that around this time, it was common for Sanskrit to be spoken in noble families, where it was apparently learned by listening.

There are evidences that Sanskrit was used for communication purposes. It was used in inscriptions. Sometimes we find the use of purely Sanskrit and sometimes Prakrit mixed with Sanskrit. ``The first inscription of importance that is purely Sanskrit which has come down to us issues from the *kṣatrapa* king Rudradāman (150 B.ṃ.). It is the first dated example of ornamental descriptive style of classical Sanskrit poetry and the first attestation of the use of Sanskrit for official purposes in a royal court."[15] Sanskrit came into epigraphic use in the first century B.C. according to the generally accepted dating for the oldest Sanskrit inscriptions i.e. Ayodhyā, the Ghosuṇi, and the Hāthībā stone inscriptions.[16] Except with these few examples from the first century B.C., the earliest Sanskrit inscriptions are found in Mathurā, which has provided many records of the first and second centuries A.D., i.e., the time of the śaka, Kṣatrapa and the early Kuṣāṇas, which are written in Sanskrit or a dialect very closely approaching it. The earliest of the Sanskrit inscriptions from Mathurā are probably those of the time of the Kṣatrapa coāsa, who is dated with reasonable certainty to the early years of the first century A.D.[17]

Sanskrit has also been used in the neighbouring countries beyond the eastern borders of India. In the Hinduised kingdoms of south East Asia, the monarchs, especially the builders of the temples and monuments of Cambodia, have very closely followed their Indian counterparts. They have written their history in Sanskrit poetry of a very high level. ``The presence of a large number of Sanskrit inscriptions extending as far away as Borneo and issuing from royal courts points to the fact that Sanskrit was a language of international diplomacy"[18].

Examples of Sanskrit used as a language of communication between different regions and different nations for purposes of travel, trade, etc. are also found. We do not have plenty of direct evidences in this regard, but there are some indications available which supports this view. ``The Chinese pilgrim Yi-tsing (635-713) who set out for India by sea in 671 made a long stopover at Śrīvijaya (Palembang in the island of Sumatra). He learnt spoken Sanskrit there, arrived in India at *Tamralipti* in Bengal in 673 and was able from his arrival to use the language. He found it to be useful for his travels as well as his research. He visited the places sacred to Buddhism, made a long stay at Nalanda, returned to *ṃhina* in around 685, carrying with him a large number of Sanskrit texts, and devoted the rest of his life to translating them into Chinese. Thus we observe that Sanskrit was the language of travelers. While this appears to be quite natural inside India, it is interesting to see

that Sanskrit could be learnt in the 7th century in Sumatra. This indicates that it was internationally used for practical purposes."[19]

Another example of the use of Sanskrit language for communication purpose between different regions in India is found in the *Naiṣadhīyacarita* of Śrīharṣa (12th cent.). The verse says :

अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृतिमभिव्यवहारवत्सु।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न जनैरचिह्नि।। (10.30)

जनैः कुण्डिनस्थैलोऽकैः दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु राजसु मध्ये सौवर्गऽवर्गो देवसमूहो नाचिह्नि नातर्कि, देवत्वेन न ज्ञात इत्यर्थः। किं भूतेषु नरेषु ? अन्योन्यभाषानवबोधात् परस्परभाषाबोधाभावात् या भीतिः तस्या हेतोः संस्कृत्रिमाभिः प्रकृतिप्रत्ययनिर्वचनरूपेण संस्कारेण निवृत्ताभिः सर्वसाधारणीभिर्वाग्भिः कृत्वा व्यवहारवत्सु परस्परं व्यवहार कुर्वत्सु। परस्परं (देश) भाषानवबोधभयात् संस्कृतमेव वदन्ति। संस्कृतस्य देवमनुष्यसाधारणत्वात् एते देवाः मनुष्या इति तत्रत्यैर्न ज्ञाता इति।

The gods could not be distinguished by the people among those kings, who, coming from various regions, talked in Sanskrit, for fear of their not understanding one another's regional language. Sanskrit being the language of the gods, the latter spoke Sanskrit as well as the mortal kings. Therefore, it was difficult to recognize who were the gods and who were the kings in that assembly.

Sanskrit was used as a scientific and technical language. We have plenty of examples available in the Vedic literature. The texts on *Vedāṅgas*, such as grammar (*vyākaraṇa*), metrics (*chandas*), phonetics (*śikṣā*), vocabulary or etymology (*nirukta*, *nighaṇṭu*), ceremonial activities (*kalpasūtra*), and astronomy (*jyotiṣa*), practical geometrical constructions in the construction of a brick altar of special shape (*śulba sūtras*), which were written in Sanskrit. We have also texts on mathematical formulas (Līlāvatī) and even on Aeronautics engineering (*Yantrasarvasva* etc.) which were available in Sanskrit language which reveal the starting point of scientific expositions in India and even Sanskrit remained the quasi-exclusive medium of scientific expression until the Moghul period in India.

Between 12th and 17th century a few manuals were specially written to promote spoken Sanskrit. A text called "*Ukti-vyakti-prakaraṇa*" or "The Book of the Elucidation of Speech", is a bilingual Sanskrit and Old Kosali text composed by Paṇḍita Dāmodara in Benaras in the 12th centuryA.D. It was intended as an instructional manual for teaching Sanskrit to the speakers of old Kosali vernacular. In the text Dāmodara insists that Sanskrit should not be learned only in a passive, scholarly way, but must also be used actively as an everyday language.[20] Further he feels that Sanskrit is a practical language and the purpose of learning Sanskrit is not merely to become an abstruse pedant, but rather to use it as a living, spoken language. Another bilingual text called *Bāla-śikṣā* was composed by Thakura Saṃgrāma Siṃha in 1336 A.D. It had also a similar purpose of teaching spoken Sanskrit. Some more texts were composed for a similar purpose of teaching spoken Sanskrit: *Ukti-ratnākara* by Sadhusundara Gaṇi, monolingual texts such as *Gīrvāṇapada-mañjarī* of Varadarāja and *Gīrvāṇavāṇa-mañjarī* of Dhuṇḍirāja were composed in

17th century or even later. Another text called *Lekha-paddhati,* a manual for the composition of letters and documents in Sanskrit was written in Gujarat in the 15th century A.D. It is similar in style, content and language in comparison with *Uktivyaktiprakaraṇa*. So it is very clear from these texts in medieval times that a popular form of Sanskrit coexist during this period which was used in the compositions of letters and documents and in speech as well. So it is evident that spoken Sanskrit existed at all times until the present day and now after the independence of India more efforts are made to popularize Sanskrit in all possible levels of society. It is not restricted any more only to the academic field, rather spreads to other fields like film industries and so on. Let us see the Present position of Sanskrit Study in India which will throw more light on the position of spoken Sanskrit in the present day society.

II. Spoken Sanskrit: Its Present:

Sanskrit is the heart of the unity of traditional Indian civilization and culture. Therefore, there is a very strong sentiment which underlines a strong motivation to revive this ancient language. The teaching, the study, and literary work in this language have never been interrupted. Efforts are currently being multiplied in all directions to maintain, develop and renew them. Sanskrit is taught in secondary level as well as at the higher levels in a more advanced way. It is taught in general schools as a compulsory as well as an optional subject and also taught according to traditional methods, in the specialized manner in the traditional schools called *pāṭhaśālā, vidyāpīṭha, vidyālayas, gurukulas,* and in traditional colleges and traditional universities. There are a lot of traditional girl's schools, high schools, and colleges functioning in many parts of the country. To give a few examples of such schools I would add the names of Pāṇini kanyā pāṭhaśālā, Mātā Ānandamayī kanyā pāṭhaṣālā in Varanasi, An Ārṣa kanyā gurukula Mahāvidyālaya in Narela, near Delhi and Maharṣi Dayānanda Vedavidyālayas in Delhi and in different parts of India. There are hundreds of traditional Sanskrit schools, *pāṭhaśālās* which are engaged in teaching Sanskrit from 3rd, 4th classes, A number of Ādarśa Sanskrit Mahāvidyālayas/collages and Research Institutes have been set up which are functioning under Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi and are deeply engaged in promoting Sanskrit studies by traditional method and around fourteen Sanskrit universities where a course of teaching in all the major subjects including scientific literature, is available in Sanskrit. The Rashtriya Sanskrit Sansthan, which was established on 15th October 1970 as an autonomous organisation under the Societies Registration Act for the development and promotion of Sanskrit learning all over the country has now since May, 2002, been declared as Deemed University on the recommendation of University Grants Commission by the Ministry of Human Resource Development, Department of Higher & Secondary Education. It is a premier Institution for promoting Sanskrit studies in India and abroad. It is engaged in :

a) Establishment of Campuses in different states.

b) Conducting the teaching of Sanskrit in the traditional method at secondary,

Under-graduate, graduate, Post-graduate and Doctorate level.

c) Imparting Sanskrit teacher's training at graduate, Post-graduate level i.e. B.Ed., M.Ed. (*śikcāśāstrī* syllabus)

d) coordination of research works in various disciplines of Sanskrit learning.

e) Implementation of the schemes of the Ministry of Human Resource Development for promotion of Sanskrit.

f) Establishing Sanskrit libraries, manuscripts collection centres and editing as well as publishing the rare manuscripts and books of importance.

g) Running correspondence courses for learning Sanskrit.

There were seven traditional Sanskrit Vidyāpīṭhas (colleges) functioning under Rashtriya Sanskrit Sansthan and three more Vidyāpīṭhas have been set up during recent years. Now all these ten Vidyāpīṭhas are functioning in different parts of the country as different campuses of Rashtriya Sanskrit Sansthan.

There are a large number of private initiatives aiming to popularize the use of Sanskrit or spoken Sanskrit. Viśva Saṃskṛta pratiṣṭhānam, Sārvabhauma Saṃskṛta prachar pariṣad, in Varanasi, Lokabhāṣā pracāra samiti in Orissa, Saṃskṛta Bhāratī in Bangalore and many other small organizations are actively engaged in promoting spoken Sanskrit. Over the last 7/8 years Rashtriya Sanskrit Sansthan has also become active in promoting spoken Sanskrit by organizing spoken Sanskrit camps in various colleges, schools and private institutes including universities.

Since some years the University Grants Commission has introduced vocational subjects at undergraduate level. A course on functional Sanskrit has been introduced in some universities to encourage the recitation of Vedic *mantras* for producing Vedic priests who can perform different Hindu rituals. The study of Sanskrit is also encouraged in spiritual level by different spiritual movements and Ashramas such as Chinmaya Mission, Maharshi Mahesh Yogi Ashram, Bhaktivedanta Swami Ashram, Harekṛṣṇa Movement, Swami Shivananda Aśram and many others.[21]

For some years a village called Muttur in the state of Karnatak in South India has been promoted as a Sanskrit Village. In recent times it has become known for Sanskrit speaking. Most families of this village use Sanskrit as their daily language. Another village known as Jhiri under Rajgarh district of Madhya Pradesh, central India has also come to the media news where Sanskrit is taught and learned as a daily conversational language. People in this small village including small children, women, elderly people, and school-going children, literate and illiterate speak in Sanskrit. Samskrit Bharati started conducting Samskrit Sambhāṣaṇa camps in the village in 2002. Since then there has been such a strong motivation and interest among the villagers towards this ancient divine language that everybody in the village turned to learn Sanskrit. Another news paper has recently published news that residents of a small town in Rajasthan use Sanskrit in daily communication to keep the ancient language alive. Whenever they meet, residents of Kaperan town greet one another with '*namo namaḥ*'. Kaperan is considered to be the stronghold of Sanskrit language in the desert state and about 25 families irrespective of their

social status are trying to keep the language alive by using it in daily communication. Khada town in Banswara district is another area where Sanskrit is used for daily communication.

Some Sanskrit lovers with an outstanding interest in Sanskrit have started Kindergartens in Sanskrit medium. The Shri Vatsa Bālamandiram of Mumbai which has also a branch in Pune is an example of this type of effort in promoting the study of Sanskrit from the very childhood.[22]

In the cultural life of the country Sanskrit has strengthened its position in a more respectable and popular manner. Numerous audio and video cassettes, CDs and DVDs of prayes, *bhajans*, *stotra* and *mantra*-recitations and recitation of *Bhagavadgītā* and many other such religious and spiritual texts in Sanskrit have come to the market. An internet site http://www.raaga.com/channels/sanskrit/albums.asp also offers a special opportunity to listen thousands of songs, *mantra* and *stotra* recitations in Sanskrit online. In addition to this, classical *rāgas* and songs are presented in Sanskrit by reputed singers.

Sanskrit language is highly respected among all classes and communities of people, and therefore, as a mark of special tastes it is used in various communications from wedding invitations to obituary notes.

The use of Sanskrit verses (*ślokas*) as mottos, as headings on different magazines and books to reflect their ideologies, at the entrances of public institutions and offices such as Theatres, Banks, Schools and Universities, shows a great popularity of Sanskrit. A number of quotations are used as mottos by many institutions. I may quote some examples here: *aharniśaṃ sevāmahe*, (we serve you day and nights), used by Telecom department, *yogakṣemaṃ vahāmyaham* (I bear your insurance of life and property) used by the Life Insurance company, *satyameva jayate* (Let Truth prevail) used on Indian Currency notes, *uttiṣṭhata jāgrata prāpya varānnibodhata*, used by some, *vidyayā vindate vasu*, used by some others, *yo' nucānaḥ sa no mahān* used by Rashtriya Sanskrit Sansthan and the University of Poona, *nāmyaṃ bhinnarucerjanasya bahudhāpyekaṃ samārādhanam*, used by some Nāṭya Mandira (Theatre) in Pune.

Sanskrit is not excluded from the major media. There are television programmes in the form of plays, children's programmes, religious serials etc. entirely in Sanskrit, daily news bulletins in Sanskrit on all India radio broadcast all over India twice a day, mornings (06.55-07.00 a.m.) and evenings (18.10-18.15 p.m). For some years the Sanskrit news has been broadcast on Television once a day. In the early years it was once a week but its popularity has made it a daily programme. More than a hundred periodicals including daily, quarterly and monthly news magazines are regularly published in Sanskrit. A daily news paper called Sudharmā, The only Sanskrit Daily (http://sudharma.epapertoday.com/epaper/yr = 2011& mth=5&d=12), is published in Mysore, Karnatak. Another daily news paper in Sanskrit called ``Saṃskṛtavartamānapatram", (http://www.sasnkritnewspaper.com/4-6-2011.pdf), edited by Mr. Prafull Purohit, from Badodara, Gujarat has been published since last year. A monthly magazine for children, Cāndamāmā, (http://

www.chandamama.com/ lang/ SAN/ index.htm), Chandamama India Ltd. No.2 Ground Floor, Swathi Enclave, Door Nos. 5 & 6, Amman Koil Street, Vadapalani, Chennai- 600026, with a circulation of 5,000 copies is published in more than 13 Indian languages including Sanskrit. Another monthly magazine in Sanskrit, called *"Saṃbhāṣaṇa-saṃskṛtam"*, is published by Saṃskṛtabhāratī, Bangalore. There exists a Sanskrit literary production which is growing day by day. Moreover, a new literature is produced nowadays that can be called modern Sanskrit literature: it includes all varieties of topics from stories to poetry, from politics to philosophy and from satire to detective stories. Thus we can divide Sanskrit literature into three categories: Vedic Sanskrit, Classical Sanskrit and Modern Sanskrit. Assemblies of Sanskrit poets (*kavisammelanam/kavisamavāya*) are organised from time to time in different places and on different occasions where poets and scholars come together to read and recite their poetry in Sanskrit. In fact, in recent years this has been a special attraction at the Oriental Sanskrit eonferences and the World Sanskrit Conferences.

For some years a review magazine called *Dṛk* has been published from Allahabad which reports and reviews the works written in modern Sanskrit. It is a matter of joy to mention that the number of published works in modern Sanskrit is growing day by day. Looking at the poets and their poems I believe that we have very talented and gifted poets like Bhāsa, Kālidāsa, Bhavabhūti, Bhartṛhari etc among us even in these days.

Rashtriya Sanskrit Sansthan is also engaged in producing Audio and Video cassettes, CDs and DVDs of classical and modern Sanskrit plays, songs and stories which has become very useful tools in learning spoken Sanskrit. Similar audio visual materials have also been produced by Saṃskṛta Bhāratī, Bangalore including a number of books and other teaching materials. In recent years, Internet has been a general platform for scholars to share information in and on Sanskrit related matters. One can find a lot of clips and videos on YouTube about Sanskrit teaching, songs, classical plays, talks, advertisements and so on. Some examples of a few clips on YouTube will help us to see to what extent Sanskrit is being used in the modern Media: http://ckuik.com/Spoken_In_Sanskrit.

A lot of electronic texts of Sanskrit language have been shared on the internet for the use of scholars. Recently, I have come across a news item in one of the daily English newspapers saying that Bollywood stars like Akshaya Kumar and Saif Ali Khan are learning Sanskrit for a better understạnding and a better use of this language, for these days Sanskrit is more and more often used in the Bollywood movies. Three feature films have been made in Sanskrit such as Ādiśaṅkarācārya, Śrīmadbhagavadgītā and Svāmī Vivekānanda, of which the first has bagged awards continuously for two years.

Traditional Sanskrit theatre is surviving in the traditional regional dramatic performances such as Kuttiattam in Kerala, Oḍiśi in Orissa, Pālā singing, a cultural programme in Orissa, Kucipudi in Andhra Pradesh, Bharata Nāṭyam in Tamil Nadu and other forms in other regions. Attempts have been made by Rashtriya Sanskrit

Sansthan, by the students and scholars of its different campuses, by private organisations such as Jñāna Pravāha, a centre for Cultural Studies, Varanasi, and by some others from time to time to stage ancient Sanskrit dramas like Śakuntalā, *Svapnavāsavadattam, Mṛcchakaṭikam, Karṇabhāra* and others. Rashtriya Snskrit Sansthan has published some DVDs of some of these stage performances which are available for scholars and lovers of Sanskrit plays to see and enjoy.

Various other activities are being undertaken in connection with Sanskrit studies. Festivals such as *Kālidāsa-Samāroha*, a festival which is organized annually at Ujjain in honour of the great Sanskrit Poet Kālidāsa. Rashtriya Sanskrit Sansthan for the last six years has been organizing a festival called *Kaumudī-mahotsava* (earlier known as *Vasanta-mahotsava*), in which traditional dramas are staged by the students of its various campuses located in different states of the country. In this effort 63 dramas have been staged and presented in DVD form.[23] Recital of modern Sanskrit poetry, such as *kavi-sammelana*, *kavi-samavāya*, *kavi-bhāskarī*, Symposiums on traditional sciences, *śāstrārthas*, debate competitions, and competitions of verse compositions are being organised annually and periodically in various educational and cultural institutions to sharpen the wisdom of Sanskrit.

A new trend has been seen for some years now that often members of Parliament or different legislative assemblies are found to be taking the oath of secrecy in the Sanskrit language. Even some ministers and chief ministers have created their websites in various languages, including Sanskrit.

Recently in the Himalayan state of Uttarakhanda, the Sanskrit language has been passed and declared as the second official language of the state.

Some seven or eight years ago, when the famous pop singer Madonna went to learn Sanskrit from a renowned Sanskrit scholar in Varanasi, it attracted the attention of many people all over the world. Therefore, seeing the various Sanskrit related activities not only in India but in various parts of the world, it is difficult to believe Sanskrit to be an ancient or an extinct language.

A language lives by the will of the people who use it. The traditional scholars (*paṇḍitas*) of today are, of course small in number, but they are present everywhere. Their circle continues to widen through the spirit of innovation of the milieus that claim a modern Indianness. Sanskrit is their instrument, for this language has shown itself capable of preserving itself, always adapting itself, always enriching itself.

Although Sanskrit is often regarded as an extinct language, it is in fact an important living language for it is still spoken. It is a language of great vitality even in these days and will certainly be so in the days to come. It is not the language of the past but the language of the present and future. The number of its speakers and users may be small, but it is certainly growing day by day. It is used as a medium of education, ritual, worship, prayer, and a language of social interaction which is becoming more and more popular.

It was and still is being used for the composition of a variety of literature

secular as well as religious including dramas, novels, short stories and poetry. Now even detective stories (*spaśakathā*), modern poetry with and without metre, children's story books, and many other varieties of literature are being produced. It is still strongly encouraged in the Indian education system as can be seen from the large number of students coming to the traditional colleges as well as universities for Sanskrit studies without any discrimination of gender, cast or creed.

Moreover, since some years Sanskrit has become of great interest to computer scientists who find its importance in computer use and application. Therefore, it cannot be termed *mṛtabhāṣā* (extinct language) but rather *amṛtabhāṣā* (eternal language). It has survived because of its intrinsic value. There is something perennial, of permanent value in Sanskrit which has kept it alive through the ages. Therefore, it is tempting to conclude this paper on Sanskrit and spoken Sanskrit by saying that in spite of ups and downs in the status and position of Sanskrit during the past centuries, it will survive as long as there is the quest for knowledge, respect for values, faith in culture and interest. It will survive as long as there are mountains and rivers on the earth.

References

1 *Brāhmī tu bhāratī bhāṣā gīrvāgvāṇī sarasvatī*, Amarakośa

2 See Burrow, T: The Sanskrit Language, Motilal Banarasidas, Delhi, 2001, p. 1.

3 Rapson, E. J. "In what degree was Sanskrit a spoken language?" JRAS: 435-456. (Followed by discussion at the General Meeting by Rhys Davids, F.W. Thomas, G.A. Grierson, Fleet, JRAS: 457-487, 747-749.) 1904, pp. 338-339.

4 Yāska's Nirukta, Ed, by V.K. Rajavade, 2nd ed. BORI, Poona, 1993.

5 Rapson: p. 443.

6 See Cardona, Georg: Pāṇini: His Works & Its Tradition, Vol. I. Background and Introduction, MLBD, Delhi, 1988.

7 Deshpande, Madhav: Sanskrit and Prakrit, Sociolinguistic Issues, MLBD, Delhi, 1993, p.2.

8 Cardona, op. cit.

9 See Pāṇini. 3.2.108 *bhāṣāyāṃ sadavasaśruvaḥ*, ; 8.4.45, *pratyaye bhāṣāncā c nityam.*

10 The names of ten teachers are: Āpiśali, Kāśyapa, Gārgya, Gālava, Cākravarmaṇa, Bhāradvāja, Śākaṭāyana, Śākalya, Senaka, and Sphoṭāyana.

11 Sanskrit: A Living Tradition, Studies in Indology, Bharatiya Vidya Prakashan, New Delhi, p.55, 1981.

12 Brockington, J.L.: Righteous Rāma, The Evolution of an Epic, OUP, Delhi, 1984, p.187.

13 *Ibid*. p.188.

14 Kalhaṇa's *Rājataraṅgiṇī*, A cronicle of the kings of Kashmir, by M. A. Stein, MLBD, Delhi, 1989.

15 Filliozat, P. S.: The Sanskrit Language : An Overview, History and Structure, Lingistic and Philosophical Representations, Uses and Users, tr. by T.K. Gopalan, Indica Books, Varanasi, 2000, p. 107.

16 See Salomon, Richard: Indian Epigraphy, A Guide to the Study of Inscriptions in Sanskrit Prakrit, and the other Indo-Aryan Languages, OUP, 1998, p. 86

17 *Ibid.* P. 87. For early Sanskrit inscriptions from western India, Deccan, Southern India and other regions, see also pp. 86-96.

18 See Filliozat, 108.

19 *Ibid.* 109.

20 Salomon, Richard: The *Ukti-Vyati-Prakaraṇa* as a manual of Spoken Sanskrit. Indo Iranian Journal 24: pp13-25, 1982.

21 See Bhate, Saroja: Position of Sanskrit in Public Education and Scientific Research in Modern India, in Ideology and Studies of Sanskrit, contributions to the history of the Sanskrit Language, ed. By Jan. E.

M. Houban, E. J. Brill, Leiden, 1996, p.397.

22 *Ibid*.

23 See *Kaumudī-mahotsavaḥ* 2008-09, edited by Prof. Radhavallabha Tripathī, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi.

● **Institute of Indology and Central Asian Studies**
University of Leipzig, Germany



A Ṛgvedic Hymn (X.190) and Modern Cosmology

Paramba Shree Yogamaya

(ऋग्वेदिकमन्त्रास्तथाधुनिक-विश्वोत्पत्तिसिद्धान्तश्चेत्यस्मिन् आलेखे आधुनिक-वैज्ञानिकैः विश्वस्य या परिकल्पना कृता येषां सिद्धान्तानां च विकासः कृतः ते सर्वे सिद्धान्ताः ऋग्वैदिक- सूक्तान्तर्गतेषु मन्त्रेषु विद्यन्ते। पुरुष-सूक्त-हिरण्यगर्भ-सूक्त प्रजापति-सूक्त-वाक्-सूक्त- नासदीय-सूक्तेषु विश्वोत्पत्ति-सम्बद्धानि प्रमाणानि उपलभ्यन्ते। वस्तुतः वैदिक-मन्त्रेषु निहितो विचार एव वैज्ञानिकाविष्करणस्य प्रेरणास्रोतः।)

0. Introduction

The multifaceted nature gives instincts to think that 'why the leaves of the trees are green', 'why the feather of the peacock is multicoloured and marvellous', 'from where the earth came from', 'from where the stars and planets are from' etc. All these cosmos-based questions in human mind are the root cause of scientific inventions. How this universe is created or from where and when the creation started, is the subject of Particle Physics now.

In *Ṛgveda*, the first knowledge source for the mankind, there is a hymn known as *bhāvavṛttam(X.190).* It is known to each and every *dvija* as *'aghamarṣaṇa-sūkta'* who performs the *sandhyā* or *sandhyā-upāsanā. 'Aghamarṣaṇa'* means dispeller of sin. Here the seer of this hymn is *Aghamarṣaṇa*; so the hymn is named after him. The seer *Aghamarṣaṇa* has vizualized the hymns which consists of three *mantras* only. In *Niruktam*, one of the six *Vedāṅga*, it is said that *'mananāt mantram'* that which is cognised.[1]

The description of *sṛṣṭitattva* or cosmology is found from the *Ṛgveda* to the *Purāṇa Literature*. Non-truth has no existence and truth has never non-existence.[2] This creation is only a transformation. It is the *vivarta* (revolution) and not the *pariṇāma* (result/product) of *Brahman.*[3]

There are many philosophical hymns in *Ṛgveda* which are related to *sṛṣṭitattva* viz. *Puruśa-Sūkta* (X.90), *Hiraṇyagarbha* or *Prajāpati-Sūkta* (X.121), *Vāk-Sūkta* (X. 125), *Nāsadīya-Sūkta* (X.129) and this *Bhāvavṛttam* (X.190).

1. Modern Cosmology

The modern Science got a developed form with the invention of the theory of gravitation and the general theory of relativity by Einstein. There are many theories regarding cosmology in modern science viz.

(i) Big Bang Theory

(ii) Laplace's Theory

(iii) Weizsacker's Theory

(iv) Jean's Theory

(v) Tidal or Planetesimal Theory etc.

Among these theories Big Bang is the most appreciated one. The universe is expanding since Big Bang. So, the past universe was different from the present universe. We can say that the past universe was denser and hotter. This is the view of the American Scientist George Gamow. In 1929 Edwin Hubble discussed that the galaxies are going farther and farther from each other and their speed of recession is high also.

This universe has come from the Big Bang. Before that t=0. The book entitled *The First Three Minutes* gives an exposition in this regard.[4] This universe was a denser hot particle in $15x10^9$ years back.

2. The Rgvedic Description (X.190)

The word **bhāvavṛtta** means description regarding the creation or the beingness of the creation.[5]This hymn gives us a scientifically systematic order of creation.

(i) The 1st Verse

ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसोऽध्यजायत/
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।। (ZV X/190/1)

Which means from '*abhiddhāt tapasaṇ*' from all shining penance or warmth[6] ṛta and satya are created. Then *rātri* and and *arṇava samudra* are created. Here the word ṛta means motion[ṛ(gatau)] and the word *satya* means stability or existence[*as(sthitau)*][7].The word '*rātri*' symbolizes rest or inertia. The neutral state of existence and motion is known as *tamas* or rātri in Taittiriya Saṃhitā.[8] According to Sāṃkhya Philosophy it is Prakṛti with the three qualities i.e. sattva, rajas, tamas or existence, motion and inertia.

In modern science the all shining warmth is Big Bang which must had a minute's existence. Then the explosion took place and the process of creation and expansion started. It is the second stage i.e. motion. When the universe is expanding where is the place of inertia? The expansion itself is inertia because "a body at rest remains at rest and a body in motion remains in motion when no external force is acting on it'' [Newton's 1st Law of Motion].

Then the '*arṇavasamudra*' or ocean of energy came into being. This word symbolizes energy in a very large scale. The energy from Big Bang is the cause of this universe. '*arGāAsi* santi yasmin sa arṇava%'. Where there is motion there is energy. Motion is one form of energy or we can say there is no motion without energy. As energy is needed for any action; so it is obvious that the creation of the universe is just an expression of an ocean of energy.

(ii) The 2nd Verse

समुद्रादर्णवादधिसवंत्सरौ / अजायत/
अहोरत्राणिद्विश्वस्य मिष्तो वशी// (ZV X/190/2)

Then the oscillatory state came out from that ocean of energy. The etymological meaning of '*saṃvatsara*' is given in *Jaiminīyopaniṣad Brāhmaṇa* as 'which is being hot or which is bright or splendid that is saṃvat. There is a black *aura* within the splendid which is known as 'sara'.[9]Here the splendidness is the symbol of increasing and the black *aura* is the symbol of decreasing. It is a state of up and down or pulsation or palpitation. The word 'sara' [sṛ(gatau)] means motion within or which has inherent motion. So, the word '*saṃvatsara*' suggests the starting state of pulsation. In modern science we can say it as oscillatory state.

Then the creation of '*ahorātrāṇi*' is indicated in the *mantra*. The word '*ahorātrāṇi*' usually means day and night in Classical Sanskrit. But when there were no Sun or moon then what about the days and nights? As the source is ocean of energy the word '*ahna*' means *prakāśayukta* or with light means the capacity to generate light within. In science it is known as luminous matter. So the word *rātri* is just opposite of it, means which has no such capacity or it is non-luminous matter.

(iii) The 3rd Verse

सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथ स्वः।। (ṚV X/190/3)

Here the word *'sūryacandramasau'* also does not mean Sun or moon. In *Niruktam*, one *Vedāṅga* among the six it is said that 'sūrya *sartervā* / sviryatervā (Ni. 12/10)'. It means the round mass which has motion and light. The word '*candramas*' means a dark round mass. In *Śatapatha Brāhmaṇa* it is said that '*rātirvai candramāh*'. This dark round mass has also motion. Because the word '*candra*' is from the root 'caṇ' which means motion. So the word *sūrya* means the round mass which have their own light and motion means stars and the word *candra* means the round mass which have not their own light or dark and have motion means the planets.

Then the word 'dauṇ' means ('divu' krīḍā..dyuvi...) which is giving light means the Sun here. As Sun deity is for *dyusthāna* (*Niruktam*, Ch.7). After the description of stars and planets in general here Sun and our planet earth are described particularly. In *mantra* the word '*pṛthivḥ*' is for our planet Earth. The word *'antarikṣa'* means atmosphere.[10] The word '*svaṇ*' means *svarga* the space without atmosphere or the sky between earth's atmosphere and Sun.[11]Here the atmosphere and the space without atmosphere are described separately. That space is '*mahākāśa*' which is all pervading.

In the *mantra* it is said that all the cosmic creation is being hold by '*dhātā*'. '*dhātā*' means who upholds. In *Veda* it is *'dhātā'* or '*ṛta*' or the cosmic law or order and in *Vedānta* it is *Brahman*. But science knows it as nature only.

We can see the cosmological sequences by comparing each as follows:

ṚV X/190	*Meaning*	*Possible Meanings according to modern Science*
1. *abhiddhā tapaḥ*	*all shining warmth*	*Big Bang*
2. *satyam, ṛtam, rātriḥ*	*sattva, rajas, tamas Existence,*	*Motion, Expansion*
3. *samudro ar Gavaḥ*	*unending energy*	*Ocean of Energy*
4. *saṃvatsara*	*palpitation*	*Oscillatory state*
5. *ahorātrāṇi*	*śukla and kṛṣṇa/ which has the capacity to generate light within and which has no such capacity*	*Luminous and non-luminous matter*
6. *sūryacandrama-sau*	*the round mass which has light and motion & the dark round mass which has motion only*	*Stars and Planets*
7. *dyauḥ*	*Āditya/Sūrya*	*Particularly the Sun*
8. *pṛthivḥ*	*our planet*	*Particularly the Earth*
9. *antarikṣam*	*vāyumaṇḍala*	*atmosphere*
10. *svaḥ*	*mahākāśa*	*Heaven/ the space between the Sun and earth's atmosphere/ inter-stellar (vacuum)*

3. Conclusion

The word '*yathāpūrvam*', as it was previously indicated that the creation described in the hymn is not the first creation. In each and every *kalpa* the cycle of creation is the same. It can be compared with the Big Bang theory.[12] Creation and desolution = Big Bang & Big Crunch.

The philosophy and symbolism play a great role to understand and interprete the hymns in the *Veda*. There are much more meanings yet unfold and concealed in the *Vedas*. But each and every interpretation will be less as long as the interpreter has not attained the state of a ṛiṣi or seer.

So many valuable and less touched fields are there. Starting from the *Vedas*, *Brāhmaṇas*, *Āraṇyakas*, *Upaniṣads*, *Vedāṅgas*, *Purāṇas*, *Smṛtigranthas*, *Dharma-śāstras* and last not the least, the technical sciences like *Bṛhadvimānaprakaraṇa* of *Yantrasarvasva* of *ṛṣi Bharadvāja*, *Vimānacandrikā* of *ṛṣi Narayana*, *Vyomayānatantra*

of *Śaunaka, Yantrakalpa* of Garga, *Yānabindu* of *Vācaspati*, *Khemayānapradīpikā* of Cakrapāṇi, *Vyomayānārka-prakāśa* of Dhuṇḍinātha, *Samarāṅgaṇasūtradhāra* of Bhojarāja, *Sūryasiddhānta* of Bhāskārācārya, Āryabhaṭṭiyam of Aryabhatta, *Vaidika-gaṇita* of Swami Bharati Krisna Tirtha etc. are there which can contribute a lot for new inventions and progress of science and technology. During the course of discussion if something new and unique will come out with the help of reason and science then it will be a great achievement for all which require interdisciplinary approaches.

References :

1. *Mananāt mantrāḥ*, *Niruktam*, Ch.VII/ 3/ 12
2. नासतो विद्यते ब्रह्मणो नाभावो विद्यते सतः। (*SrīmadBhagavadgītā* 2/16)
3. .... इदं चराचरजगद् ब्रह्मणो विवर्त्तो न परिणामः (*The Bhāvabodhinī commentary, Vedāntasāra* 11)
4. Steven Weinberg (Nobel laureate), *The First Three Minutes*, Flemingo Books, New York, 1976.
5. भावो भवनं सृष्टिस्तत्र वृत्तः प्रवृत्तो भाववृत्तः। (*Durgabhāṣyam, Niruktam*, p. 344)
6. *Vaidika kośa*, Part-1, p.369
7. *Vaidika kośa*, Part-3, p. 1410
8. तमो रात्रिः (*Taittirīya Saṃhitā* 1/5/95)
9. असौ एव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भवति तत् संवत् यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं वत्सर इत्यधिदैवतम्। (*Jaiminīyopaniṣad Brāhmaṇam* 2/20)
10. Vaman Shivram Apte, *Sanskrit English Dictionary*, p.27
11. Idb, p.631

Bibliography:

1. *Niruktam with the Commentary of Durgācārya*, Chaukhamba Sanskrit Samsthan, Delhi, Reprint 2002.
2. *ṚgvedaSaṃhitā*, Vaidika Samsodhana Maṇḍala, Poona, 2nd. ed. 1972.
3. *Srimad Bhagavad Gitā*, Gita Press, Gorakhpur.
4. Apte, Vaman Shivram, *The Student's Sanskrit English Dictionary*, MLBD, Delhi, reprint, 1993.
5. Hawing, Stephene, *A Brief History of Time(From the Big Bang to Black Hole)*, originally published in Britain by Bantam Press, a division of Transworld Publishers Ltd. 1988.
6. Hawing, Stephen, *Black Holes and Baby Universes*, do.
7. Panda, Hrishikesh, *Vishva* (in Oriya), Vijṇāna Bharati, Alamachand Bazar, Cuttack, 2nd ed. 1999.
8. Sharma, Ramamurti, , *Cosmogony in the Vedas*, Dharma Hinduja International Centre of Indic Reserach, Delhi, 1st ed. 1995.
9. Surendra Kumar, *Ṛgveda men vividh vidyaen*, Sanjaya Prakashan, Delhi, 1st ed. 2000.
10. Swami Ramakrishnananda, *The Universe and Man*, Śri Ramakrishna Math, Mylapore,

11. Upadyaya Chandra Shekhar and Anil Kumar, *Vaidika Kośa, Part1 -3*, Nag Publisher, Delhi, 1st ed. 1995.

12. Varma, Rajendra, *Vedic Cosmology*, New Age International (P) Limited, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi, 1996.

13. Vartak, Padmakar Vishnu, *Scientific Knowledge in the Vedas*, Dharma Hinduja International Centre of Indic Reserch, Delhi, 1st ed, 1995.

14. Weingberg, Steven, *The First Three Minutes*, Flemingo Books, New York, 1976. Madras, 1993.

15. Wilson, H.H., *The Ṛigveda Saṃhitā*, Cosmo Publications, Delhi, reprint 1977.

● Shantinagar, Bhapur Nayagarh, Orissa 752063



सूर्यसिद्धान्त : एक पाठ्यग्रन्थ

सर्वनारायण झा

(*Sūryasiddhānta*, believed to be taught by the sun, is an authentic and ancient work of Indian astronomy and astrology. The work has been first quoted by *Varāhamihira* (550 AD) in his work *Pañcasiddhāntikā*. Inspite of that, some mysteries still persist on the issues like the original version of the basic text. Some baseless hypotheses are being made even today on this particular issue. However, the fact is : no changes have been occurred in the original text even after thousands of years. As a result, the number of verses remain the same as they were commented by Ranganatha in 1495 AD.)

सूर्यसिद्धान्त एक प्रामाणिक और सवसे अधिक पाठकप्रिय भारतीय सिद्धान्त-ज्योतिष का ग्रन्थ है। फिर भी इनके मूलपाठ, लेखक और काल आदि न केवल रहस्य बने हुए हैं, अपितु उपर्युक्त सन्दर्भ में सम्वद्ध शास्त्र और तदितर विद्वानों द्वारा आधारविहीन अटकलें/अनुमान लगाये जाते रहे हैं। सम्प्रति उपलब्ध सूर्यसिद्धान्त के संस्करणों में पाठ्यांश प्रायः समान हैं। रङ्गनाथ (1495 A.D.) ने जितने श्लोकों पर टीका लिखी आज भी सूर्यसिद्धान्त में वे ही श्लोक हैं। अद्यावधि कोई अन्तर नहीं आया। सूर्यसिद्धान्त का सर्वप्रथम उद्धरण वराहमिहिर (550 A.D.) के पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

'पूर्वाचार्यमतेभ्यो यद्यच्छ्रेष्ठं लघुस्फुटं बीजम्।
तत्तदिहाविकलमहं रहस्यामम्युद्यतो वक्तुम्।।1।।

पौलिशरोमावासिष्ठसौरपैतामहास्तु सिद्धान्ताः।
पञ्चम्यो द्वावाद्यौ व्याख्यातौ लाटदेवेन।।2।।

पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकप्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ।।3।।

वराहमिहिर (550 A.D.) और रङ्गनाथ (1495 A.D.) के बीच लगभग 900 वर्षों का अन्तर है। इन नौ सौ वर्षों में पञ्चसिद्धान्तिका के सूर्यसिद्धान्त के पाठ से रङ्गनाथ की टीका वाले पाठ तक सूर्यसिद्धान्त का पहुँचना चिन्तन का विषय है। सूर्यसिद्धान्त के वर्तमान स्वरूप को संक्षिप्त कर वराहमिहिर ने अपने पञ्चसिद्धान्तिका में स्थान दिया या पूर्व में संक्षिप्तरूप ही था जिसे परवर्ती अज्ञात विद्वानों ने विस्तृत किया। इसका अन्तः या बाह्य साक्ष्य नहीं मिल पाया है। हो सकता है आज के ओपेन सॉफ्टवेयर की तरह सूर्यसिद्धान्त का परिवर्द्धन होता रहा हो। वराह और रङ्गनाथ के मध्य 900 वर्षों का काल सिद्धान्तज्योतिष की दृष्टि से सर्वोत्तम काल रहा है- ऐसा माना जा सकता है; क्योंकि इस बीच आर्यभटीयम् (आर्यभट्ट), ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त एवं खण्डखाद्य (ब्रह्मगुप्त 628 A.D.), लघुभास्करीय और महाभास्करीय (भास्कर I ब्रह्मगुप्तसमकालीन),

भास्कर प्रथम द्वारा लिखित आर्यभटीय की टीका, लघुमानस (मुञ्जाल 662 A.D.), ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त की टीका (पृथूदक 860 A.D.), बृहत्संहिता की टीका और खण्डखाद्य की टीका (भट्टोत्पल 966 A.D.), पाटीगणित (श्रीधर 991 A.D.) सिद्धान्तशेखर और श्रीपतिपद्धति (1039 A.D.), राजमृगाङ्करण (भोजराज 1042 A.D.), करणप्रकाश (ब्रह्मदेव 1092 A.D.), भास्वतीकरण (शतानन्द 1099 A.D.), अद्भुतसागर (बल्लालसेन, 1160 A.D.), मकरन्दसारिणी (मकरन्द 1438 A.D.), आर्यभटीयम् की टीका (सोमेश्वर . ...), महाभास्करीय की टीका (गोविन्दस्वामी ....), लघुभास्करीय की टीका (शङ्करनारायण 869 A.D.), लघुभास्करीय की टीका (उदयदिवाकर 1073 A.D.), सिद्धान्तशिरोमणि (लीलावती, बीजगणित, गणिताध्याय), करणकुतूहल (भास्कर द्वि. 1114 A.D.), गोविन्दस्वामी द्वारा लिखित महाभास्करीय की टीका (सूर्यदेव 1191 A.D.), महाभास्करीय की टीका की टीका (मक्कीभट्ट 1377 A.D.), लघुभास्करीय और महाभास्करीय की टीका (परमेश्वर 1431 A.D.) इत्यादि लिखे गये। इन कृतियों में विभिन्न मतों का उल्लेख प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों के कृतियों के साथ भी उद्धरण प्राप्त हैं। उद्धृत बहुत सारी ऐसी भी कृतियाँ हैं जो आज तक उपलब्ध नहीं हैं फिर भी अनेकं स्थानों पर प्रसङ्गवश उनको उद्धृत किया गया है।

खगोलविदों के उपर्युक्त कृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह काल सिद्धान्त-ज्योतिष का स्वर्णिम काल था। इसी समय बहुत ही बड़े-बड़े विद्वान् हुए। नए-नए सिद्धान्तों की स्थापना हुई। बीजगणित, रेखागणित, ज्यामिति और गोलसम्बन्धी प्रपञ्चों का अतिसूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत हुआ। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि किसी भी ग्रन्थ में, किसी भी रूप में सूर्यसिद्धान्त की पंक्तियों का उद्धरण के रूप में उल्लेख नहीं किया गया। किसी ने भी दूसरे ग्रन्थों में या टीकाओं में इनके श्लोकों, सिद्धान्तों या सूत्रों को उद्धृत नही किया। अस्तु।

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त को अधिकार और अध्याय की दृष्टि से दो विभागों में रखा जा सकता है। पहला अधिकार-भाग और दूसरा अध्याय-भाग। क्योंकि इसमें एक से ग्यारह तक अधिकार (1. मध्यमाधिकार, 2. स्पष्टाधिकार, 3. त्रिप्रश्नाधिकार, 4. चन्द्रग्रहणाधिकार, 5. सूर्यग्रहणाधिकार, 6. छेद्यकाधिकार, 7. ग्रह युत्यधि कार, 8. नक्षत्रग्रहयुत्यधिकार, 9. उदयास्ताधिकार, 10.शृङ्गोन्नत्यधिकार, 11. पाताधिकार) हैं।

दूसरा अध्याय-भाग है। इसमें तीन अध्याय हैं- 1. भूगोलाध्याय, 2. ज्योतिषोपनिषदध्याय, 3. मानाध्याय। इस भाग में एक और अध्याय बीजोपनयनाध्याय नाम से प्रसिद्ध है। यह अध्याय रङ्गनाथ (1495 A.D.), के पूर्व से स्थापित है। रङ्गनाथ ने अपने गूढार्थप्रकाश टीका में मानाध्याय के 23 वें श्लोक[2] की टीका में लिखा है कि *''यत्तु एतत्ते परमाख्यातमित्यादि[3] श्लोकः क्वचित् पुस्तकेऽस्मात् श्लोकात् पूर्वं नास्ति। किन्तु माननिरूपणान्तस्थदिव्यं चार्क्षमित्यादिश्लोकान्तं मानाध्यायसमाप्तिं कृत्वाग्रे यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा। तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्ध्नि संस्थितम्।।''* इत्यादि श्लोकाः ....। रङ्गनाथ के अनुसार उनके समय सूर्यसिद्धान्त की जो प्रतियाँ उपलब्ध थीं उनमें किसी-किसी में *''एतत्ते परमाख्यातम्''*[3] श्लोक नहीं था। दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही है कि बीजोपनयनाध्याय नामक श्लोकात्मक चौथा अध्याय भी किसी-किसी प्रति में है। उनके कथन से ऐसा लगता है कि उन्होंने बीजोपनयनाध्याय को सूर्यसिद्धान्त के अध्याय के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसे अतिरिक्त माना है। रङ्गनाथ के मत को आधार मानकर श्री सुधीकान्त भारद्वाज ने भी इसे सूर्यसिद्धान्त का भाग स्वीकार नहीं किया है। उनका भी कहना है कि कालक्रम से किसी ने इसे सूर्यसिद्धान्त के अन्त में जोड़ दिया है।[4] लेकिन महावीर प्रसाद श्रीवास्तव ने सूर्यसिद्धान्त के विज्ञानभाष्य में ग्रन्थकार द्वारा इस अध्याय को लिखा जाना स्वीकार किया है। साथ ही इस सम्भावना से भी इनकार नहीं किया है कि किसी अन्य विद्वान् ने इस अध्याय को बाद में जोड़ दिया होगा।[5]

रङ्गनाथ की टीका से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट प्रतीत होते हैं- 1. उन्होंने सूर्यसिद्धान्त की कई प्रतियाँ देखीं थीं। 2. प्राय: सभी प्रतियों में समान पाठ थे। 3. कुछ प्रतियों में मानाध्याय में एक श्लोक का पाठान्तर था और 4. बीजोपनयनाध्याय, किसी-किसी प्रति में अन्त में बाद में विद्वानों ने जोड़ा है। यह सूर्यसिद्धान्त का मूल पाठ नहीं है। इसीलिए रङ्गनाथ ने उन पद्यों की टीका भी नहीं की है।

महावीर प्रसाद श्रीवास्तव का चिन्तन है कि मयासुर ने प्रयोग के आधार पर जीवन में जो अनुभव किया होगा उसे ग्रन्थ के अन्त में बीजोपनयनाध्याय के रूप में परिशिष्ट की तरह जोड़ दिया होगा। यह चिन्तन भी युक्तिसंगत लगता है। साक्षात् भगवान् सूर्य के द्वारा दिया गया उपदेश होने के कारण इस ग्रन्थ के मध्य में कोई भी प्रक्षिप्त पाठ नहीं है। ग्रन्थ की संरचना इस तरह क्रमबद्ध और सुगठित है कि न ही एक श्लोक प्रक्षिप्त किया जा सकता है और न ही एक भी श्लोक निकाला जा सकता है। आर्ष ग्रन्थ होने के कारण इसका सभी आचार्यों ने सम्मान किया है। आज तक किसी भी आचार्य ने इस ग्रन्थ की आलोचना नहीं की है। जबकि ब्रह्मगुप्त ने तो अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आलोचना करते हुए नामपुर:सर आर्यभट तक की आलोचना की है। लेकिन उन्होंने भी सूर्यसिद्धान्त की आलोचना नहीं की। यहाँ तक कि भास्कराचार्य प्रथम जो ब्रह्मपक्ष के अनुयायी थे, अपने ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने आर्यभटीय की टीका भी लिखी। उन्होंने पञ्चसिद्धान्तिका में वर्णित सूर्यसिद्धान्त सहित पाँचों सिद्धान्तों की चर्चा तो की है, मन्वन्तर आदि के प्रसङ्ग में सूर्यसिद्धान्त से पृथक् मान भी स्थापित किया है लेकिन प्रतिपदोक्त सूर्यसिद्धान्त की आलोचना नहीं की है।[6]

आर्षग्रन्थों की संरक्षा की परम्परा है। श्रुतिपरम्परा से ये ग्रन्थ सुरक्षित एवं संरक्षित रहते हैं। सूर्यसिद्धान्त भी उसी श्रेणी में आता है। इसलिए इसमें परिवर्तन का दु:साहस किसी ने भी नहीं किया होगा। अन्यथा इतने लम्बे समय तक पाठान्तर नहीं होना एक असम्भव-सी बात है। कमलाकर ने तो *"वेद एव रवितन्त्रम्"* कहते हुए आदर दिया है।

सूर्यसिद्धान्त के अंग्रेजी अनुवादक और टीकाकार ई. बर्जेस ने द्वितीयाध्याय[7] के 28 से 30 एवं 45 वें श्लोक, चतुर्थाध्याय के 6, 7 और 9 वें श्लोकों और छठे अध्याय के 23 वें श्लोकों को यथास्थान न रहने की बात कही है। तृतीयाध्याय के 9-12 श्लोकों की प्रामाणिकता पर भी प्रश्नचिह्न लगाया है। यह प्रश्नचिह्न उचित नहीं है। तर्क के रूप में उन्होंने कहा है कि द्वितीयाध्याय के 28-30 श्लोकों में वर्णित विषयों का उपयोग अव्यवहित पर में नहीं है। यह तर्क असंगत है। क्योंकि उक्त श्लोकों में- The sines of various arcs, such as the sine of declination, the base sine (भुजज्या) and the perpendicular sine (कोटिज्या) are taught to be determined . बाद के श्लोकों में चाप के ज्याओं का आनयन किया गया है। इसलिए उन श्लोकों की स्थापना यथास्थान है - ऐसा कहा जा सकता है। जब-जब जिस ज्या-मान की जरूरत हो, उससे अव्यवहित पूर्व में उस मान को कहना, यह भी एक पद्धति हो सकती है लेकिन विभिन्न ज्या-मानों को एकत्र कहना त्रुटि नहीं है अपितु एक विधा ही है जिसका पालन ग्रन्थकार ने किया है।

द्वितीयाध्याय के 45 वें श्लोक के सन्दर्भ में ई. वर्जेस की टिप्पणी भी उपयुक्त नहीं है जिसमें उन्होंने कहा है कि 45 वाँ श्लोक 29 वें श्लोक के बाद आना चाहिए। यहाँ उनका तर्क है कि केन्द्र शब्द पहली बार वहीं प्रयुक्त हुआ है। वस्तुत: 45 वें श्लोक में एप्सीस के समीकरण के सूत्र का प्रसङ्ग है न कि केन्द्र का।

इस तरह सूर्यसिद्धान्त की परम्परा में दोष के अन्वेषण का औचित्य नहीं है। आवश्यकता सैद्धान्तिक विश्लेषण और अद्यतन करने की है। वस्तुत: गणित अद्यतन दृक्सिद्ध नहीं है ऐसा आज तक मैने सुना ही

है। किसी भी विद्वान् ने ऐसा दावा नहीं किया है कि उन्होंने सूर्यसिद्धान्त से सीधे गणित किया है और वह दृक्सिद्ध नहीं हो पाया। किसी विद्वान् ने इस तरह के विश्लेषण वाला ग्रन्थ भी नहीं लिखा है जिससे इसका स्पष्टीकरण प्राप्त हो सके। अस्तु।

सुधीकान्त भारद्वाज के इस विचार से मैं सहमत हूँ कि ऐसा सम्भव है कि पाठों के क्रम के विषय में टिप्पणी ई. वर्जेस की न हो। इसे विटने (Whitney) ने स्वरूप दिया हो। क्योंकि सूर्यसिद्धान्त का अनुवाद और उसकी टिप्पणी आदि ई. वर्जेस ने परिवर्द्धन के लिए विटने को दी थी।

वैसे तो ई. वर्जेस या विटने की टिप्पणी को इतना महत्त्व नहीं देना चाहिए क्योंकि उन्होंने शास्त्रीय दृष्टि से न तो कोई गम्भीर सिद्धान्त प्रस्तुत किया है और न ही किसी सिद्धान्त विशेष का शास्त्रीय दृष्टि से खण्डन किया है। चूँकि उन्होंने Precession of equinox के विषय में टिप्पणी कर दी और वह टिप्पणी भी आधारहीन। इसलिए भारतीय खगोल ज्ञान और सूर्यसिद्धान्त के पक्ष को प्रस्तुत करना आवश्यक लगा। श्री वर्जेस का कहना है कि भारतीयों को Precession of equinox का ज्ञान नहीं था। तद्विषयक सूर्यसिद्धान्त के तृतीयाध्याय के श्लोक सं. 9–12 प्रक्षिप्त हैं।[8]

इस पक्ष में उनका तर्क यह है कि ब्रह्मगुप्त ने विषुव (equinox) के गति (motion) की चर्चा तो नहीं की है लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से इसे स्वीकार करते हुए आनुपातिक ग्रहसाधन में उपयोग भी किया है। वराहमिहिर ने भी उक्त गोचरीय स्थिति को स्वीकार किया है। ब्रह्मगुप्त ने कल्पगत वर्ष को 12000 से भाग देकर शेष को 3/200 से गुणा करने को कहा है। ऐसा करने पर संशोधित मध्यमसूर्य आता है। इस बिन्दु पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने पर प्रतीत होता है कि यह तो सूर्यसिद्धान्त के अनुपात का रूपान्तरण ही है क्योंकि सूर्यसिद्धान्त का मानना है कि विषुवविन्दु को पूर्ण भ्रमण करने में 7200 वर्ष लगते हैं। अर्थात् 7200 वर्षों में एक भ्रमण। इसे आनुपातिक रूप से इस प्रकार लिखा जा सकता है, जैसे– 1/7200।

चूँकि 7200 वर्षों में एक परिलम्बन होता है

इसलिए 7200000 वर्षों में कितना ? = (1 x 1000)/7200000 .... (1)

हजार परिलम्बन पूर्ण मानकर ....(1) को 1/7200000 लिखा जा सकता है। इसे सृष्ट्यादिगतवर्ष से गुणा करने पर अंशादि में मान आएगा। उसे कलात्मक बनाने के लिए 60 से गुणा करने पर निम्नलिखित स्वरूप आएगा–

$$\frac{\text{सृष्ट्यादिगतवर्ष} \times 60}{7200000} = \frac{\text{सृष्ट्यादिगतवर्ष}}{12000}$$

भागफल (Quotient) पूर्ण परिलम्बन में आएगा। शेष (Fraction) इसे 3/200 से गुणा करने का सिद्धान्त ब्रह्मगुप्त का है। इसका अभिप्राय यह है कि 200 वर्षों में अयन चलन 3अंश है। इसे यदि विकला में रूपान्तरित करें तो (3अंश x 60 x 60) / 200 = 1080 / 200 = 54 कला होगी।

सूर्यसिद्धान्त में भी प्रतिवर्ष अयनचलन 54 विकला ही माना गया है। उपर्युक्त गणित/अनुपात से ऐसा लगता है कि ब्रह्मगुप्त ने अपने गणित में अयनगति को स्वीकार तो किया है लेकिन प्रतिपदोक्त कहा नहीं है। उसमें यह भी हेतु हो सकता है कि ब्रह्मगुप्त ब्राह्मपक्ष के अनुयायी थे और उपर्युक्त सिद्धान्त/मान सौरपक्ष का है। इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से अपने गणित में इसका उपयोग करते हुए भी प्रतिपदोक्त सूर्यसिद्धान्त के मान/सिद्धान्त का उल्लेख करने में परहेज किया है।

सन्दर्भसूची

1. पञ्चसिद्धान्तिका, वराहमिहिर श्लो.सं. 2-4
2. दिव्यं चार्क्षं ग्रहाणां च दर्शितं ज्ञानमुत्तमम्।
   विज्ञेयार्कादिलोकेषु स्थानं प्राप्नोति शाश्वतम्।। -सू.सि.माना., श्लोक-23
3. एतत्ते परमाख्यातं रहस्यं परमाद्भुतम्।
   ब्रह्मैतत् परमं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम्।। -सू.सि.माना., श्लोक-22
4. *Sūryasiddhānta* : An Astro-Linguistic Study, Page-68.
5. महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, विज्ञानभाष्य, पृ. 806.
6. एवमनुश्रूयते अयं किल स्वायंभुवसिद्धान्तः कुसुमपुरनिवासिभिः कृतिभिः पूजितः, सत्स्वाप पौलिश-रोमक-वसिष्ठ-सौर्येषु। (आर्यभटीय II.1., पृ. 46)
7. S.S., page 386. E. Burgess.
8. त्रिंशत्कृत्यो युगं भानां चक्रप्राक्परिलम्बते। तद्गुणाद् भूदिनैर्भुक्ताद् द्युगणाद्यदवाप्यते।
   तद्दोस्त्रि दशाप्राप्ता विज्ञेया अयनाभिधाः। तत्संस्कृताद् ग्रहात् क्रान्तिच्छायाचरदलादिकम्।।10।।
   स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद् द्वये। प्राक् चक्रं चलितं हीने छायार्कात् करणागते।।11।।
   अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथोऽधिके। एवं विषुवती छाया स्वदेशे या दिनार्धजा।।12।।

● राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, गंगानाथझापरिसर, आजाद पार्क, इलाहाबाद



Mental Health Practices
Yogic Approach and Integral Possibilities*

Kishor Kumar Tripathy

('योग: कर्मसु कौशलम'थवा 'समत्वं योग उच्यते' इति योगस्य लक्षणं गीतायां सुष्ठु प्रतिपादितं वर्तते। वस्तुत: अस्माकं स्वास्थ्येन सह योगस्य साक्षात् सम्बन्ध: वरीवर्ति। तच्च स्वास्थ्यं शारीरिकं भवतु मानसिकं वा सर्वत्र योगस्य महत्त्वमनुभूयते। अस्मिन् शोधलेखे सर्वप्रथमं किं नाम मानसिकं स्वास्थ्यमिति विमृष्टम्। ततस्तदर्थं कीदृशो योग: अभ्यसनीय: इत्यपि सुव्याख्यातम्। अत्र यौगिक-चिकित्साया: मनोवैज्ञानिक-पक्षा: अपि चर्चिता:। योगेन सामान्य-चेतनं दैवचेतनेन परिवर्त्य दैवं जीवनं प्रति प्रेरयति।)

0.1. Introduction

Mental health can be identified as an absence of a major mental health condition or mental disorders. True mental health must include not only psychological fitness but also the simultaneous physiological and spiritual well-being. Mental health indicates that mind draws its power from the spirit, transmits it to all the body organs and stimulates their coordinated functions. Mental health is also identified as 'emotional health' or 'well-being' and its important as good as physical, vital, mental, psychical and spiritual health which enables us to face the challenges of life and to enjoy the beauty of life. A good mental health indicates not just the absence of mental disorders. It also involves a positive sense of well-being. The aspects of a good mental health indicate to think of mental health is different from mental disorders and illness. Good mental health is identified by personal growth, sense of purpose and positive relationship with others. Good mental health is identified and recognized by a persons flexibility and ability to fulfill a number of key functions and activities, such as- ability to control the negative emotions; to learn; to understand; to feel; to experience; to create and maintain positive relationship with others; to face the challenges of life; to live a life with full of possibilities and to experience the reassures of life through the psycho-spiritual aspects of life. Good mental health can also be identified as the positive sense of well-being.

0.2. Mind and Mental health practice

Mental health is closely associated with mind as well as other aspects of human life. Mental health is a subject of study, research and exploration which is closely associated with mind. Mind is identified as the exposition of knowledge, wisdom, science and compassion in the major psycho-philosophical and Yogic traditions of the world. Mind is recognized as the immortal substance by which the unknown can be known, unexplored can be explored, secrets can be experienced and the treasures of mental faculties can be achieved. These innovations of the mind and its psychological faculties are clearly mentioned in the Yogic scriptures. The Science of *Yoga* is the unique discovery of the Vedic and Yogic

traditions ad the ancient seers have very scientifically studied the aspects of mind and its management. The whole Vedic philosophy is the living example of the psychological perspectives of the Vedic seers. The psychology of *Yoga* can be compared with the *Manomayakośa.* In the Vedic literature, Mind is identified as *Agni, Brahma* and *Prajāpati* etc.[1] According to *Ṛgveda*, Mind is the basis of life and it is connected as a divine light with the soul.[2] Mind is the basis of light, Mother of knowledge and the source of intellect and wisdom. It is through mind, by which the divinity of the self can be achieved. Mind is the instrument by which the synthesis of knowledge and action can be performed. Mind is the basis of immortal light [3] and mind is originated from the Sacrifice. The *Upaniṣads* also discusses about the existence of mind.[4] *Chāndogya Upaniṣad* presents that mind is the self, world and *Brahman*.[5] The achievement of the supreme state of mind is also discussed by the Vedic seers.[6] Mind is the light of lights.[7] Mind is the basis of *Prajñā* (cognition), *Cetas* (Recollection) and *Dhṛti* (Retention) and it placed in all the creatures. It is through mind, by which every task can be accomplished.[8] Mind is the substance of past, present and future and through Mind the wise men performs their action. The existence of mind is discussed in the *śivasaṃkalpasūkta* of the *Yajurveda.* Mind is the basis of action, knowledge, strength and power.[9] Mind is the basis of life, by which the physical, vital, mental, psychical and spiritual faculties can be experienced, realized, invented and applied and the beauty, divinity and immortality of life can be achieved. The practice of mental health is still continued since the dawn of human civilization. There is a tendency among the modern people now-a-days that all the humanistic, scientific, logical knowledge and information of the mankind has been discovered from the innovations, activities, experiences and experiments of the scientific discoveries and technological advancement of the modern world. This opinion may be true fractionally. According to Sri Aurobindo 'When the ancient thinkers of India set themselves to study the soul of man in themselves as others, they, unlike any other nation or school of early thought, proceeded at once to a process which resembles exactly enough the process adopted by modern science in its study of physical phenomena. For their object was to study, arrange and utilize the forms, forces and working movements of objective matter. The material with which they had to deal was more subtle, flexible and versatile than the most impalpable forces of which the physical Sciences have become aware; its motions were more elusive, its processes harder to fix; but once grasped and ascertained, the movements of consciousness were found by Vedic psychologists to be in their process and activity as regular, manageable and utilizable as the movements of our physical forces.[10] The concept of mental health practice is first mentioned in the Vedic scriptures, as the earliest available human consciousness to mankind.

This statement of Sri Aurobindo reveals the evolution of mental health practice from the Vedic period. We find different aspects and characteristics of mental health practices in the Vedic and post-Vedic literary heritage which is mentioned in a symbolic manner and reveals the secret of human life. In this regard, the ancient insights of Vedic seers have inspired the human civilization and Vedic knowledge system became a source of inspiration for innovation.

0.3. Yoga and Mental Health: Psychological Perspectives

Yogic psychology marks an important place in the evolution of human thought process. In Yogic tradition, the psychological perspective of Yoga is also important as well as other

aspects of yogic science. It is through mind, by which transformation of consciousness is possible and life becomes integral and divine. The psychological aspects of Yoga prove that perfection is the process of transformation of consciousness and it controls the motion and emotion of the psychological faculties of human life. Therefore, in the process of psycho-analysis and mental perfection, Yogic psychology proves the importance of mind. Mind is identified as the main instrument for freedom and bondage. Mind is the instrument by which the mental faculties become capable to make life beautiful and prosperous. The achievement of the supreme consciousness can be possible through mind. According to the Vedas, mental faculties are associated with extra-ordinary powers, like- immortal light, divine strength, knowledge and purity etc. Purification is the basis of mind and it generates perfection. Therefore, purity of the mind is regarded as the basis for the development of the mental faculties. *Ṛgveda* states that 'May the oblations offered by me be for my prosperity. May my ambitions attain success? May I not be indulged in committing sin. O Gods, bestow knowledge on me.[11] Mind is the light of light and provides strength to the sacrificer and when the sacrificer achieves mental strength, then the inner life becomes more potential and it is applicable for the attainment of perfection. Life is full with possibilities and challenges. But a balance can be maintained through the inner strength and there are tremendous possibilities of not only in the materialistic life; but also in the spiritual life. Yoga is the science of human possibilities and through the practice of Yoga, a higher level of consciousness can be achieved.[12] The psychological perspective of Yoga describes that, psychological health is also associated with the spiritual, physical, mental, vital and psychical aspects of life and these faculties do also lead to perfection. The role of mind is very important for the progress of life. It is through the power of mind, by which the real existence of life and the knowledge of the universe can be achieved.[13] The psychological characteristics of Yoga helps to develop from unconscious to conscious, from unmanifest to the manifest and from bondage to salvation. According to the doctrine of Yoga, a psychologically healthy mind is capable to understand the perfection of life. Yogic principles for mental health practice are one of the most experienced and popularized branch for the management of mental health. Yoga is the science of life which enables the human being to attain the highest potential and state of consciousness, Yogic doctrines can create a positive, holistic and integral approach towards life and mental health practices. Yogic methods have positive outlook towards life and for the world. Yoga helps to reduce stress, create a peaceful and calm mind. Yogic methods have the positive impact that influences for an overall adjustment in psychological challenges. The first and foremost application of Yoga is the management of human mind leading to the unity and divinity.

0.4. Mental Illness and Yoga: Therapeutical Perspectives

Mental illness is identified by a range of negative thoughts, feelings, emotions, like- anxiety, depression, delusion, sadness, hopelessness, helplessness, self-identity problem, and feeling of emptiness and a range of other symptoms. These signs and symptoms are the conditions associated with mental illness. Mental illness can be cured with appropriate therapeutically applications. The causes of mental health cannot be identified with only one factor; but it is the combination of different factors, i.e. Biological (Abnormal balance of special chemicals in the brain, Genetic factors; injury of brain, poor nutrition and defects in brain etc.); Psychological (Disturbance in early brain development; experience related with

emotional, physical and sexual; violence in domestic life, death of parents, fear of diseases and fear of death etc.); Physical (Physical illness; injury of certain areas of the body; problems in nervous system; disturbance in systematic life; negative attitudes and lack of proper treatment etc.) and Social (negative environment at home, living in poverty, death of parents, unsafe environment, wrong beliefs, practices, expectations of social status, environmental disaster, violence and war etc.). The above causes are chiefly responsible for certain disorders, which are called as mental illness. Mental disorders are different from patient to patient including different characteristics and symptoms. There are different kinds of mental disorders, like- Psychotic Disorders (*Schizopherenic* and *Schizoaffective*), Mood Disorders(Bipolar, depression, mania etc.); Sleep Disorders (Insomnia, Narcolepsy, Sleep walking, *Hypersomnia* etc.); Sexual Disorders (*Dyspareunia, Fatishism*, Addiction to sex, Sexual *Mascochism*, sexual desire disorders), Anxiety Disorders, eating Disorders (Anorexia *Aervosa, Bilimia*); Personality Disorder (Identity problems, Thought of suicide); Stress disorders, Pain Disorder, Conversation Disorders, and Dissociative disorders etc. In connection to the research and scientific discoveries, the modern man has developed a system of psychotherapeutical practices, which is identified as Psychotherapy. Psychotherapy is one of the experienced and organized branches of therapy which helps to reduce mental disorders. These therapeutical applications are experienced through the study of various psychological disorders and quite helpful for the management of mental illness.

Yogic perspective of Psychotherapy basically responsible for the management of various problems related to mind and its various diseases. Yogic perspective pf Psychotherapy provides an integral approach for the management of disorders or diseases related to mind. The Therapeutical application of Yoga is characterized by a system of mental health practices that helps to treat mental illness. The objectives of Yoga therapy represents man's first attempt to combine the traditional disciplines and techniques with modern medicinal applications. The purpose of Yoga is the holistic treatment of a numbers of psychological disorders. Yoga therapy presents that the cause of mental disorder is the result of an ambiance in the spirit-body-mind complex.[14] Yoga therapy as a discipline of mental health practice related with the overall development of human life. Yoga therapy for psychological disorders is a system of health care that helps to treat human dispositions with an integral manner. The line of treatment prescribed in Yoga therapy may be helpful to reduce mental illness. *Patañjali,* the father of Yoga presents a psycho-spiritual system for the management of mental health system. *Rājayoga* (*Yoga* of Royal Knowledge) has its special position and it is identified as the classical systems of *Yoga.* The main goal of *Rājayoga* is *Kaivalya* through mental representations of the nature, powers of the mind, ideology and mental discipline. *Rājayoga* instructs the eightfold application for perfection[15] i.e. *Yama* (Self-restraint in actions), *Niyama* (Fixed Observance), *Āsana* (postures), *Prāṇāyāma* (Breath control), *Pratyāhāra* (Mind-control in sense engagements), *Dhāraṇā* (Concentration), *Dhyāna* (Meditation) and *Samādhi* (Fully integrated consciousness). According to *Patañjali, Yama, Niyama, Āsana, Prāṇāyāma* and *Pratyāhāra* are identified as the means for external perfection and *Dhāraṇā, Dhyāna* and *Samādhi* is subjected to the means for internal perfection.[16] This external and internal process of *Yoga* directed by *Patañjali,* deals with the different aspects of human life, like- ethical, physical and meditative

practices. Through *Rājayoga*, methods have been discussed to combine the mental and physical powers for the achievement of perfection in life.[17] In connection to the therapeutical application of Yoga, postures, breathing practices, psychic gestures, lock, meditation, chanting of *mantras*, self-study and positive outlook towards life etc. also plays an important role for the management of mental and other problems of life. Practice of yogic postures are chiefly helpful for the functioning of the endocrine system and creates a harmony with various bodily functions. Yogic practices have greater impact for the overall development of human life. Practice of yogic postures create physical perfection including better circulation, improved postures, relation, improved concentration, excellent memory and cognitive function. The benefits of breathing practices are as follows : nourishment of oxygen, purification of blood, development of thought process and concentration. It increases vitality, cleanses Prāṇic blockages, enables the brain centres, reduces mental excitation, induces muscular relaxation, generates a feeling of sensation, strengthen the voice, removes diseases etc. The techniques of *Prāṇāyāma* regulate the vital-force to attain a higher state of vibratory energy.[18] In Haṭhayogic tradition, greater emphasis has been given to *Ṣaṭkarmas* or cleansing practices which are also helpful for stress management. The psycho-spiritual aspects of psychic gestures provides instant relief in many illness, cure of insomnia and memory loss, development of a courteous disposition, concentration, awareness, creative psychic relaxation etc. Chanting of the holy *mantras* generates an extra-ordinary melodious effect in the mind. Modern physicians also refer the practice of holy *mantras* for the purification of mind and its different faculties. In the process of the therapeutical application of *Yoga*, meditation also useful for the management of mental disorders and challenges. Meditation is the process of art of living through which the greater possibilities of life can be explored, experienced and achieved. Meditation techniques are widely recommended and applicable for the management of mental health system. In connection to the above practices, Yoga of Knowledge, Action and Devotion etc. also useful for the management of mental health system. *Yoga* of Knowledge provides the means to achieve integral knowledge, by which limitation and ignorance can be fulfilled. Yoga of action is primarily a way of spiritual practice which teaches the purpose of life. Yoga of Devotion chiefly deals with the promiscuity of God, Devotion and the Devotee. The Devotee feels the spirit of Devotion and makes consistent effort to achieve the supreme existence. Yoga of Self-perfection discusses the means for the discovery of the Soul and Self-realization. Apart from the above yogic practices, psychological aspects like improvement of self-help qualities, confidence, proper counseling, psychotherapy, medicines, relaxation therapy, nutritional management etc. also plays an important role for the treatment of mental illness. In this regard one can see the outstanding contribution of yogic practices for mental health system. These ideas were explored through the divine consciousness of the holy sages and it is also being researched and experimented by the modern people. Yogic way of life management is applicable for theoretical knowledge and practical application. *Yoga* therapy is a system of traditional indigenous system which can provide a psycho-spiritual, physio-psychic and socio-cultural dimension for the achievement of the hidden secrets of life.

0.5. Research findings related to Yoga Therapy

The Psychological aspects of *Yoga* as a branch of therapeutical practice and application have got tremendous reputation in the modern world. The scientific investigation and innovative ideas of the modern man has explored the hidden secrets of yogic practices for the benefit of physiological as well as psycho-spiritual and socio-cultural aspects of human life. Some of the prominent researches in this area : 'Positive Health- Integrated approach of *Yoga* Therapy'(2006),[19] 'Effect of Yogic exercises on Human Physical efficiency'(1975),[20] '*Yoga* and biofeed back in the management of hypertension'(1973),[21] 'Physiological effects of yogic practices'(1983),[22] 'Effect of *Yoga* based lifestyle intervention of subjective well-being'(2008),[23] 'Stress and its Management by *Yoga*'(1980),[24] 'Yogic Management of Psychiatric Disorders'(2010),[25] 'Yoga and Mental Health'(2010),[26] '*Prāṇa Vidyā* and Positive Lifestyle'(2010),[27] 'Psychology Perspective on Stress and Health'(1999)[28] and '*Yoga* Psycho Therapy and Its Applications'(2007)[29] etc. The above are few of the research works which emphasizes the tremendous result of yogic practices for the management of health system. Apart from that there are thousand and thousand numbers of researches related to the therapeutical application of *Yoga*. Some of the findings are: (1) '*Yoga* Therapy helps healing physical suffering and mental maladies, tensions, strain and stresses of the first modern life of industrial civilization and culture leading towards moral crisis and mental anxieties, confusions and mental conflicts.'[30] (2) 'The first and foremost sphere of operation in *Yoga* is the human mind. It is, therefore, hardly surprising, albeit a little appreciated fact, that Yoga and in particular Tantric Yoga has accumulated a vast store of experiential information about the functions and states of consciousness.'[31] (3) 'The significance of the yogic techniques of purification of the psyche *(Chittaśuddhi)* lies in blasting mental flux composed desire impression *(Vāsanā-saṃskāras)* which transforms the consciousness into pre consciousness.'[32] (4) '*Yoga* can make significant contribution to the thought and techniques of psychoanalysis cum therapy. The comparative serenity of psychotherapeutic techniques and *Yoga* can serve this purpose.'[33]

In this regard one can find the tremendous effect of *Yoga* for the management of mental as well as other aspects of health and its management. The making of an ideal man and his environment is the prime need for the substance of human civilization, which the yogic principles are definitely exhibit. Yoga is a health system of personal wellness and development which shows the overall development of physical, vital, mental, psychical and spiritual by teaching the basic principles of life. According to Sri Aurobindo the objective of Integral *Yoga* is to refold life in the truth of the spirit and for that purpose to transform the roots of all we do from the mind, life and body to a greater consciousness above mind.' The psychology of integral perfection indicates that mind is related with different aspects of life, i.e. physical, vital, psychical and spiritual. Clinical psychology and modern medicinal systems have also accepted the integrative approach of yogic practices. In this regard, new researches and innovative ideas of the modern man will be a source for the discovery of the traditional knowledge system for the management of various health problems of the modern civilization.

0.6. Conclusion

Mental health practice is a positive attitude towards life. The importance of mental health practice is chiefly responsible for not only the management of several psychological

problems; but also for the development of different aspects of life. Mental health is a major system of human life because all the other aspects of life, i.e physical, vital, psychical, spiritual, emotional, social and cultural etc. are completely regulated by mind. Therefore, the hidden possibilities of life can be explored and the innovations are only possible only through a positive mind. Especially mental wellness is a major requirement for the modern man, as modern civilization is facing several problems and the personality crisis are growing more and more. In this regard, yogic practices for mental health system are recognized as a major branch of health practices. *Yoga* is the ancient and indigenous form of mental health practices which contain the basic characteristics and possibilities of mental health practices. There are several practitioners of *Yoga*, who follow the theory and practice of *Yoga* for the development of mental faculties. The concept and practice of *Yoga* originated in the ancient times by the mystic seers. *Yoga* is one of the greatest sciences of human possibilities that the Vedic Seers have gifted to the world of innovations and discoveries. *Yoga* is the scientific, systematic and standardized form of physical, vital, metal, psychical and spiritual disciplines by which the evolution of the individual can be accelerated. *Yoga* is the system of personal wellness encompassing physical, vital, mental, psychical and spiritual entities of human life with an integral manner. Yogic life is a current of the cosmic world and the powers of *Yoga* are latent in all human beings. Human being has the latent capacity to develop the different aspects of life by combining the psychological faculties with the other aspects of life. Yogic practices are recognized as a branch of holistic science which is applicable for the conservation of health system and the achievement of transformation, by which the beauty of life can be explored and experienced. In this regard, the present research system in the psychological factors of *Yoga* has discovered various possibilities related to the management of mental as well physical, vital, metal, spiritual health system. There are tremendous scopes in this field for systematic research and the future research trends should give special emphasis for the management of traditional knowledge system for the benefit of the modern world.

* Paper presented at the International Conference on 'Science, Spirituality and Humanity: Transcending Discipline Barriers,' (17-19 February, 2011) Shivaji College, University of Delhi.

Notes and References :

1 मनो ब्रह्म, Gop B 1/2/11; मनोवाग्नि: , SB 10/1/2/3; मनो वै प्रजापति: TB 3/7/1/2

2 ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृश्यतेकं मनो जिवष्ठं पतयतस्वन्त:।
विश्वे देवा समनस: सकेता एकं क्रतुमभि वि यन्ति साधु।। RV 6/9/5

3 मनो ज्याति...। TB 3/7/6/16

4 चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्।। AU 2/4
प्रज्ञाय मन: समारुद्य मनसा सर्वाणि ध्यानान्पाप्नोति।। Kaus U 3/6

5 मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म, मन उपास्व।। CU 7/3/1

6 धियो यो न: प्रचोदयात्।। YV 36/3

7 दुरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मन: शिवसङ्कल्पमस्तु। YV 34/1

8 यत् प्रानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान् ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिसङ्कल्पमस्तु। YV 34/3

9 आ न एतु मनह पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्य दृशे। क्ल 3/54

10 Sri Aurobindo,
'Essays Divine and Human',
Pondichery: Sri Aurobindo Ashram Publication Department, Pp. 314-315

11 मह्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूतिसत्या मन्सो मे अस्तु।
अनो मा नि गां कतमाच्चनाहं विश्वे देवासो अधि वोचता नः।। RV 10/128/4

12 Ganesh Shankar (2007),
'Yoga Psychotherapy and its Application, ' p. 77

13 Kireet Joshi (2006), *'Glimpses of Vedic Literature, '* p. 248

14 Usha Lohan , (2006) *'Scientific Investigation of Yogic Practices, '* New Delhi
: Satyam Publishing House.

15 यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।। YS 2/29

16 त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। तदपि बहिरङ्गं निर्वीजस्य। YS 3/7-8

17 *Rājayoga*
– the path we deal with chiefly in this book
– is the science of physical and mental control. Often called the 'royal road', it offers a comprehensive method for controlling the waves of thought by turning our mental and physical energy into spiritual energy. Lucy Lidell & et. Al. (1983), *'Text Book of Yoga,'* p. 19

18 *Ibid.* p.363

19 Dr. R. Nagarathna and Dr. H.R. Nagendra, (2006), *'Integrated Approach of Yoga Therapy '*. Swami Viveknanda Yoga Prakashana, Bangalore ,

20 Nayar HS, Mathur RM Kumar RS (1975) 'Effect of Yogic Exercises on Human Physical Efficiency', *Indian Journal of Medical Research,*

21 Patel J((1973) 'Yoga and Biofeed Back in the Management of Hypertension', *Lancet*
2 1053-1055,

22 Selvamurty W, Nayar HS, Joseph S (1983) 'Physiological Effects of Yogic Practices', *NIMHANS* J1:71-80

23 Sharma R, Gupta N, Bijlani RL(2008) 'Effect of Yoga based Lifestyle Intervention of Subjective well-being', *Indian Journal I of Physio Pharamacol* 2008, 5292) 123-131,

23 Udup KN (1980) *'Stress and Its Management by Yoga,'* Varanasi Press , 305-321,

24-25 Basawaraddi IV (2010) *'Yogic Management of Psychiatric Disorders,'* New Delhi: MDNIY,

25-26 Bhogal, RS (2010) *'Yoga and Mental health,'* Lonavala: Kaivalyadhama,

26 . Vaze DR (2010) *'Prāṇa Vidyā and Positive Lifestyle,'* Lonavala; Kaivalyadhama,

27-28 Mishra G & Verma S 91999) *'Psychology Perspective on Stress and Health,'* New Delhi: Concept Publishing Company,

28-29 Ganesh Shankar (2007) '*Yoga PsychoTherapy and Its Applications*, New Delhi : Satyam publishing House, P.122, and

29-30 Usha Loha, (2006) '*Scientific Investigation of Yogic practices*,' New Delhi: Satyam Publishing House

31 George Feuerstein (1975), '*Text Book of Yoga*,' London : Ebury Press, p. 143

32 Ganesh Shankar (2007) '*Yoga Psycho Therapy and Its Applications*,' New Delhi : Satyam publishing House, P.122, Wood, Ernest. E. (1968) '*Practical Yoga: Ancient and Modern* ,' California: Wilshire Book Company.

33. Ibid, P.121.

Select Bibliography :

Behanan, Kavoor. T. (1937) '*Yoga: A Scientific Evaluation*,' New York: Dover Publications.

Chhina, G.S. & Singh, Baldev (1976) 'Whither Scientific Research on *Yoga*,' *PNSYYSM*, New Delhi: CCRIMH, pp. 290-302

Choudhury, Brahma Ram & et al. (2004) 'Perception of consciousness in Vedic Vāngmaya,'

PNCSCVH, Bangalore : World Association for Vedic Studies, p. 32

Dr. R. Nagarathna and Dr. H.R. Nagendra(2006), *Positive Health- Integrated approach of Yoga Therapy.* Swami Viveknanda Yoga Prakashana, Bangalore,

Ganesh Shankar (2007) *Yoga Psycho Therapy and Its Applications*, New Delhi: Satyam publishing House, P.122,

Iyenger, B.K.S. (1985) '*The Art of Yoga*,' London: Unwin paperbacks.

Lohan, Usha. (2006) '*Scientific investigation of Yogic Practices*.' New Delhi: Satyam publishing House.

Mishra G & Verma S 91999) *Psychology Perspective on Stress and Health*, New Delhi: Concept Publishing Company,

Nayar HS, Mathur RM Kumar RS (1975) Effect of Yogic exercises on Human Physical efficiency, *Indian Journal of Medical Research*,

Pandey, Kirti, D. (2004) 'Vedic Mind and its Management,' *PNCSCVH*, Bangalore: World Association for Vedic Studies, p. 41

Patel J (1973) Yoga and biofeed back in the management of hypertension, *Lancet* 2 1053-1055, Sarasvati, Satyananda Swami (2004) '*Asana Pranayama Mudra Bandha*,' Munger: Yoga Publication Trust.

Selvamurty W, Nayar HS, Joseph S (1983) Physiological effects of yogic practices, *NIMHANS*

J1:71-80, Shankar, Ganesh (2007) '*Yoga Psychotherapy and its Applications*,' New Delhi: Satyam Publishing House.

Sharma R, Gupta N, Bijlani RL(2008) Effect of Yoga based lifestyle intervention of subjective well-being, *Indian Journal I of Physio Pharamacol* 2008, 5292) 123-131,

Singh, Baladev & Chhina, G.S. (1976) 'Changing Concepts of Human Consciousness form Ancient to modern Times,' *PNSYYSM*, New Delhi: CCRIMH, pp. 284-289

Sri Aurobindo 1970. '*The Life Divine* (*CWSA*, Vols. XVIII-XIX, SABCL, Vols.- XXI-XXII) Pondichery: Sri Aurobindo Ashram Publication Department.

The Haṭhayogapradīpikā (Ed.) Swami Muktibodhananda Saraswati, Munger: Bihar School

of Yoga, 1958.

The Pātañjala-Yogadarśanam (Text with Comm. Of Vyāsa) Swami Sri Brahmalina Muni (Ed.) Varanasi: Chaukhamba Sanskrit Series Office, 1970

Udup KN (1980) Stress and Its Management by Yoga, Varanasi Press, 305-321, Basawaraddi IV (2010) *Yogic Management of Psychiatric Disorders*, New Delhi: MDNIY,

Usha Loha, (2006) *Scientific Investigation of Yogic practices*, New Delhi: Satyam Publishing House

Indira Gandhi National Centre for the Arts,
1, Central Vista Mess, Janpath, New Delhi



पातञ्जल-महाभाष्यस्य लोकवेदत्वम्

बनमाली बिश्वालः

(पतञ्जलि is not just a name. It neither stands just for a person nor for an Institution. In fact, it stands for the whole Nation, i.e.the Greater India that encompassed the geographical boundary from the Kandhar (modern Aphganisthan) in the North-West to the ब्रह्मदेश (modern Mynmar) in the Eastern region. पतञ्जलि's महाभाष्य is a dependable work not only on the issues related to grammar, Linguistics etc. but it is also a source book on some important issues on sociology and anthropology as well apart from the philosophy and the cognitive sciences. The stylistics and methodology adopted by पतञ्जलि has some resemblance with that of Plato's Dialogue which is yet another agenda of serious research. The present paper deals with most common and popular usages (words, sentences, phrases, maxims etc.) which are directly related to a layman and taken from the activities of day-to-day life. An attempt has been made in this paper to prove महाभाष्य as a लोकवेद for it is studded with usages taken from every aspects of human life and environment.)

व्याकरणेपु त्रिमुनिव्याकरणस्य महत्त्वं बहुधा प्रतिपादितमस्ति। तत्रापि वैयाकरणैः यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् इति वदद्भिः पाणिन्यपेक्षया कात्यायनस्य, कात्यायनापेक्षया पतञ्जलेश्च कथनमधिकं प्रामाणिकं वर्तते इति प्रतिपादितम्। किन्तु यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति प्रायोवादः इत्यपि केषाञ्चन मतमुपलभ्यते। वस्तुतः सर्वेषामपि एतेषामाचार्याणां स्व-स्व-स्थाने प्रामाणिकत्वम्। अन्यथा शब्दानां नित्यत्वमेव हीयते। तेन हि सर्वेषामेव मुनीनां प्रामाण्यं न तु यथोत्तरमेव।

वस्तुतः यथा पतञ्जलिना पाणिनिः समाद्रियते तथैव कात्यायनः अपि। स न केवलं कात्यायनस्य वार्तिकानि व्याख्यातानि किन्तु तेषां सम्भावितं प्रत्याख्यानम् उपस्थाप्य तत् समादधाति अपि। किन्तु दार्शनिकपक्षे सः कात्यायनस्य उपरि व्याडेः प्रभावमनुमन्यते। पक्षान्तरे पतञ्जलिः किन्तु कात्यायनापेक्षया अधिकमेव वैदिक-मार्गानुसारी प्रतीयते। कात्यायनात् शताब्देः अनन्तरं पतञ्जलिना अपि पाणिनीय-व्याकरणस्य परिष्करणे महद् योगदानं कृतम्। वार्तिक-भाष्ययोः विषये अधोलिखिता कारिका अस्माकं मार्गदर्शनं करोति -

यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनादृष्टं च भाष्यकृत्।

पतञ्जलिना पाणिनेः सूत्राणि अधिकृत्य वार्तिकानां समावेशनपूर्वकं महाभाष्यमित्याख्यः प्रसिद्धः भाष्यग्रन्थः लिखितः। स्व-सरलतम-शैली-निमित्तं प्रसिद्धं पतञ्जलिना विरचितं महाभाष्यं जनेषु अद्यापि आदृतम् अस्ति।

महाभाष्यस्य परिगणनं भाष्य-विधायां भवति। भाष्यस्य लक्षणम् अस्माकं परम्परायाम् एवं वर्तते -

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैर्वर्णानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।

तदनुसारं सूत्रानुसारिभिः वाक्यैः यत्र सूत्रार्थः वर्ण्यते यत्र च स्व-पदानि अपि वर्ण्यन्ते तद् भाष्यमिति विद्वांसः वदन्ति। पतञ्जलेः महाभाष्ये अपि उपर्युक्तं भाष्य-लक्षणं सर्वथा संघटते। अस्य महाभाष्यस्य प्रसिद्धिः एतस्माद् वक्तव्याद् अनुमातुं शक्यते यत् केनचिद् विदुषा एतदपि उद्घोषितं यत् महाभाष्यं वा पठनीयं महाराज्यं वा पालनीयम् इति। स्वामी विजयानन्दसरस्वती अष्टाध्यायिना सह पातञ्जल-महाभाष्यस्य प्रशंसायाम् उक्तवान्-

अष्टाध्यायी-महाभाष्ये द्वे व्याकरण-पुस्तके।
ततोऽन्यत् पुस्तकं यत्तु तत् सर्वं धूर्तचेष्टितम्।।

महाभाष्यं नाम मूलतन्त्रं वार्तिकं च आधृत्य प्रणीतः महान् ग्रन्थः। एतस्य प्रवक्ता भगवान् पतञ्जलिः वर्तते। कैयट-प्रणीतः प्रदीपः तथा नागेश-विरचितम् उद्योतं च महाभाष्यस्य द्वे प्रसिद्धे व्याख्ये स्तः। वस्तुतः मूलतन्त्रम् आदाय अनेके भाष्यग्रन्थाः प्रणीता आसन् येषां मूलस्वरूपं तु सम्प्रति नैव उपलभ्यते किन्तु तेषाम् अस्तित्वं महाभाष्यम् इति नामकरणादनुमातुं शक्यते। उक्तमेव केनचिद् विदुषा -

वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम्।
पाणिनिं सूत्रकारञ्च................।। इति

एतत्कारिकानुसारं सूत्रकारः पाणिनिः, वाक्यकारः वररुचिः तथा पदकारश्च पतञ्जलि इति व्याकरण-परम्परायां त्रिमुनि-व्याकरणं प्रसिद्ध्यति। एवमपि प्रसिद्धिरस्ति यत् पतञ्जलिः न केवलं व्याकरणशास्त्रे किन्तु योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च ग्रन्थान् निर्माय पाठकान् आत्मानं च उपचकार। एतत्प्रसङ्गे परम्परया प्राप्ता अधोलिखिता कारिका अस्माकं मार्गदर्शनं करोति -

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

किन्तु अत्र मतवैविध्यं वर्तते यद् एतेषां ग्रन्थानां प्रणेतारः नैके पतञ्जलयः आसन् अथवा एकः पतञ्जलिः। योगस्य वैद्यकस्य च रचयितारौ अन्यौ पतञ्जली आस्ताम् इति विद्वांसः वदन्ति। यद् वा तद् वा भवतु अस्माभिः अत्र केवलं वैयाकरणस्य पतञ्जलेः, तस्य महभाष्यस्य वा लोकन्यायमाश्रित्य चर्चा विधास्यते।

भगवान् शेषावतार एव पतञ्जलिः आसीद् इति सर्वजन-स्वीकृतं तथ्यं वर्तते। तस्य मातुः नाम गोणिका इति प्रमाणमुपलभ्यते। वस्तुतः पतञ्जलेः अनेकानि नामानि प्रसिद्धानि सन्ति। नैकेषु ग्रन्थेषु सः अनेकैः नामभिः स्मर्यते। तद्यथा गोनर्दीयः, गोणिकापुत्रः, नागनाथः, अहिपतिः, फणी, फणिभृत्, शेषः, शेषराजः, शेषाहिः, चूर्णिकारः तथा पदकारः चेति। गोनर्द-देश-सम्बद्धत्वेन सः गोनर्दीय इति कथ्यते। वस्तुतः गोनर्दः नाम कश्चिद् ग्रामः सम्प्रदायः वा भवितुमर्हति। यादवप्रकाश-प्रणीते वैजयन्तीकोशे पतञ्जलिः एव 'गोनर्दीयः' इति नाम्ना सम्मतः। कैयटः भर्तृहरिश्च तं 'गोनर्दीय' इति नाम्ना अभिधत्तः। गोणिकायाः पुत्रः इत्यतः सः गोणिका-पुत्रः इत्यपि अभिधीयते। तद्यथा पण्डिता गोणिकापुत्रो काव्यकार इत्याहुरिति नागेशः। अहिपतिः, फणी, फणिभृत्,

शेषः, शेषराजः, शेषाहिः चेति नामानि तस्य शेषावतारत्वं सूचयन्ति। कैयट अपि तं नागनाथः इति नाम्ना अभिदधाति। एवमेव चक्रपाणिः तं चरक-व्याख्यायाः प्रारम्भे 'अहिपतिः' इति नाम्ना स्तौति। तद् यथा –

मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः॥" इति

नागेशः अपि तं पतञ्जलिं 'फणिन्' इति नाम्ना स्मरति। यथा –

फणि-भाषित-भाष्येऽस्मिन् कृतभूरि-परिश्रमः।

नत्वा फणीशं नागेशस्तनुतेऽर्थप्रकाशकम्॥ इति

भोज अपि तं 'फणिभृत्' इति नाम्ना स्मरति। तद्यथा –

वाक्चेतो वपुषां मलः फणिभृता भर्त्रेव येनोद्धृतः। इति

हैमवृहद्-वृत्त्यवचूर्णिकारः अमरचन्दः तं 'श्रीशेषराजः' इति नाम्ना अभिदधाति। चूर्णि इति भाष्यस्य नामान्तरं प्रसिद्ध्यति। क्षीरस्वामी चूर्णिः इति भाष्यस्य परिभाषां प्रस्तौति। तस्य कर्ता इति सः चूर्णिकारः कथ्यते। भर्तृहरि अपि पतञ्जलिं 'चूर्णिकारः' इति पदेन उल्लिखति। पदानां कर्ता इति सः पदकारः भवति। स्कन्दस्वामि-प्रभृतयः तं 'पदकारः' इति नाम्ना अभिदधति। एवमेव उव्वट अपि तं 'पदकारः' इति कथयति।

बहुभिः विद्वद्भिः नैकैः नामभिः बहुधा स्मृतः परम-प्रामाणिकः आचार्यः भगवान् पतञ्जलिः कुत्रत्यः इति सम्प्रत्यपि नैव निश्चितम्। केचित् गोनर्दीयसंज्ञकं तं पौर्वात्यं मन्यन्ते। मत्स्यपुराणे हि गोनर्द-जनपदः प्राच्यदेशेषु परिगणितः भवति। अपरे तु काश्मीरेषु गोनर्दनाम्ना त्रयाणां राज्ञां सत्त्वात् काश्मीरेषु हि गोनर्द-जनपदः अस्ति इत्यपि मन्यन्ते। स्वयं पतञ्जलिः महाभाष्ये पाटलिपुत्र-मथुरा-साकेत-कौशाम्बी-प्रभृति जनपदान् संस्मरति। पाटलिपुत्रे हि तेन चिरमुषितं विद्याध्ययनाय इति, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः चेति महाभाष्यवचनात् प्रमाणितं भवति।[2] तथैव राजशेखरः अपि पाटलिपुत्रे शास्त्रकारत्वेन पतञ्जलेः परीक्षणविषये उल्लिखति। तथा चोक्तं काव्यमीमांसायाम्- पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा अत्रोपवर्ष-वर्षाविह पाणिनि-पिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचि-पतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः इति।

अपरं च पतञ्जलिः अपि महाभाष्ये तथा अन्यत्र च बहूनां देशानां स्मरणं कृतवान् – राम-कृष्ण-विहारभूमित्वेन स्मर्तव्ये एव सर्वैः। कौशाम्बीं च सः वाक्यकार-जन्मभूमित्वेन स्मरति। एवमेव सः असकृत् काश्मीराणां स्मरणं कृतवान्। तद्यथा देवदत्त काश्मीरान् गमिष्यामः तत्र सक्तून् पास्यामः'[3] इति सः समुल्लिखति। अन्यत्र च सः स्मरति यत् काश्मीरेषु गोनर्द-मण्डले जन्म अवाप्य विद्याध्ययनार्थं पाटलिपुत्रं गतः तथा पुष्यमित्रेण च सत्कृतः तत्रैव न्युवास इति। वस्तुतः तस्य हि काश्मीर-गमनोत्कण्ठा तं सततं बाधते स्म इति महाभाष्ये तेन उपस्थापितेभ्यः उदाहरणेभ्यः प्रमाणितं भवति। सक्तून् पास्यामः' इति वचनेन तस्य काश्मीर-परम्परया सह घनिष्ठः सम्बन्धः सूच्यते।

पार्वत्य-प्रदेशे हि भृष्टम् अकायं पेषणके पिष्ट्वा सक्तून् निर्माय जलेन, पयसा, दध्यादिभिः सह वा केवलमपि वा भुज्यते। किन्तु तत्र सक्तवः भुज्यन्ते इति प्रमाणमुपलभ्यते न तु पीयन्ते इति। सक्तूनां पानं तु मध्यदेशीय-प्रभाव एव। सः स्वयमपि तज्जानाति एव। यतोहि सः 'तैलभुक्तं, घृतभुक्तम्' इति समुल्लिखति। किन्तु पाटलिपुत्र-प्रभावात् सः 'सक्तून् पास्यामः' इति कथयति न तु 'सक्तून् भक्ष्यामः' इति। तेन अस्य पतञ्जलेः काश्मीरेषु जन्म, पाटलिपुत्रे च कर्म इति तु स्पष्टमेव। स्थाने स्थाने सः गोनर्दीय-शब्द-प्रयोगेण स्वकीयं जन्मस्थानं स्मरति। केचित्तु गोनर्दीय-शब्देन साम्प्रतिकम् उत्तरप्रदेशस्य गोण्डामण्डलम् आकलयन्ति। किन्तु तन्न समीचीनम्। गोण्डा इति तु 'गोनर्दी' शब्दस्य अपभ्रंशः प्रतीयते। गोभिः सुखेन यत्र पेया नदी विद्यते सा 'गोनदी'। अथवा घास-बहुलत्वाद् यत्र गावो नन्दन्ति सः गोनन्दः, तस्य अपभ्रंशः च गोण्डा इति।

अपरं च काश्मीरेषु एव महाभाष्यस्य सकृदुद्धारः अभवदिति उल्लेखः प्राप्यते राजतरङ्गिणी-प्रभृतिषु प्रसिद्ध-गन्थेषु। एतदपि सम्भवति यत् महाभाष्यं भगवता पतञ्जलिना अन्यत्र लिखितं स्यात् किन्तु तस्य शिष्यैः महाभाष्यं काश्मीरेषु नीतं स्यात्। तस्य शिष्येषु काश्मीराः दाक्षिणात्याः च आसन्। ते च समये समये स्व-सङ्गृहीतं पाठं स्वान् स्वान् प्रदेशान् नयन्तः स्युः। इदमपि सम्भवति यद् विद्वदनुरागशीले पुष्यमित्रे उपरते तस्य पुत्रः अग्निमित्रः मगध-साम्राज्यम् अवाप। स हि विद्याविरतः आसीदिति मालविकाग्निमित्रे चित्रितेन तच्चरित्रेण अग्निमित्रेण अननुमोदितः - भगवान् वार्धक्ये पुनः काश्मीरानेव प्रतिनिवृत्तः स्यात् इत्यपि सम्भवेत्। यद् वा तद् वा भवेत् किन्तु काश्मीरराज्ञा अभिमन्युना, जयापीडेन च भाष्यस्य उद्धारः कृत इति राजतरङ्गिणी प्रमाणयति यथोक्तं तत्र -

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्ध्वा देशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वञ्च व्याकरणं कृतम्।।[4]

एवमेव

तदा भगवतः शाक्यसिंहस्य परनिर्वृतेः।
अस्मिन् महीलोकधातौ सार्धं वर्षशतं ह्यगात्।।[5]

तथ्यमिदं भर्तृहरिः अपि स्मरति वाक्यपदीये। तद्यथा -

प्रायेण संक्षेपरुचीमल्पविद्याहिरगहान्।
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।।

सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ।
अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवान्।।

तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थितनिश्चयः।
बैजिशौभ्वहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।।

आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे सङ्ग्रहप्रतिकञ्चुके। (नाम व्याडिप्रणीतो ग्रन्थः)
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।।

काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः।
पर्वतादागमं दृष्ट्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।।

स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः।[6]

अत्र उभ्यस्मिन्नेव कथने काश्मीरादेव लुप्तप्रायस्य भाष्यस्य उपलब्धिः पुनश्च कालेन प्रणष्टे महाभाष्ये काश्मीरेण राज्ञा जयापीडेन क्षीरादि-विद्वत्साहाय्येन विच्छिन्नं महाभाष्यं पुनः प्रवर्तितमिति राजतरङ्गिणीतः ज्ञायते। तथा चोक्तं राजतरङ्गिण्याम् -

उत्पत्तिभूमौ देशेऽस्मिन् दूरदूरतिरोहिता।
काश्यपेन वितस्तेव तेन विद्यावतारिता।।

वचो मूर्खोऽयमित्येव कस्मैचिद्वदते स्फुटम्।
सर्वज्ञानान् ददच्चक्रे सर्वान् विद्याभियोगिनः।।

देशान्तरादागमय्य व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं महीतले।।

क्षीराभिधाच्छब्दविद्योपाध्यायात्सम्भृतश्रुतः।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीडपण्डितः।।[7]

केचित् पुनः 'तस्माद्देशात्तदागमम्'[8] इत्यत्र 'तस्माद्' इत्येतस्य कस्माच्चिद् दाक्षिणात्य-प्रदेशाद् इति निरर्गलम् अर्थं कुर्वन्ति। तत्तु तेषां प्रान्तप्रीतिरेव भवेत्। वस्तुतस्तु प्रकरणानुसारेण 'तस्माद्' इति पदेन 'काश्मीर-संज्ञकाद्' इत्यर्थः ग्रहीतव्यः। यथा च प्रकरणम्

स्वनामाङ्क-शशाङ्काङ्कशेखरं विरचय्य सः।
परार्ध्यविभवं श्रीमानभिमन्युपुरव्यधात्।।[9]

अनेन एतद् ज्ञायते यद् भगवान् पतञ्जलिः जन्मना, कर्मणा अथवा अन्यैः अपि अज्ञातैः कारणैः च काश्मीरैः सह घनिष्ठरूपेण सम्बद्धः आसीत्। अतः एवमुपसंहर्तुं शक्यते यत् तस्य जन्मभूमिः काश्मीर-मण्डलम् आसीत् तथा तस्य कर्मभूमिः च पाटलिपुत्रम् आसीत् इति।

यथा पतञ्जलेः देशविषये विद्वत्सु विवादः वर्तते तथा तस्य काल-विषयेऽपि पण्डिताः विवदन्ते। वस्तुतः विवादो हि विद्वद्भ्यः वैदुष्य-प्रदर्शनाय उचितम् अवसरं ददाति। वादे वादे तत्त्वबोधः अपि जायते। केचित्तु तं पाणिनि-समकालिकं मन्यन्ते, केचित् पुनः पुष्यमित्र-समकालिकम्, केचिद् अपरे च तं विक्रम-समकालिकमपि स्वीकुर्वन्ति। उपर्युक्तेषु एषु च त्रिषु मतेषु पतञ्जलेः पाणिनि-समकालिकत्वमिति मतस्य समर्थनं केवलं वादार्थमेव वादः इति प्रतीयते। तत्र समर्थं प्रमाणं नोपलभ्यते।

राजतरङ्गिणीकारस्य मतानुसारेण अभिमन्युः हि बुद्ध-निर्वाणानन्तरं सार्द्धैकशत-वर्षाण्यभित आसीत्। तदा महाभाष्यं हि प्रणष्टम् आसीदिति तस्य कथनेन महाभाष्यस्य तस्मादपि पूर्ववर्तित्वं सिद्ध्यति। कनिष्कस्य अवस्थितिम् अपि तत्कालमभितः एव मन्यते राजतरङ्गिणीकारः। यद्यपि वास्तविकं तथ्यमिदानीमपि गुहासु निहितं प्रतीयते, एतत्प्रसङ्गे च महद् अन्वेषणम् अपेक्ष्यते तथापि सामान्यतः अभिमन्युः हि पुष्यमित्राद् अनन्तरवर्ती वर्तते एव। राजतरङ्गिणीकारः तु अभिमन्योः अनन्तरवर्तिनि 1302-मितवर्षा अभितः विक्रमस्य अवस्थितिं मन्यते। महाभाष्यस्य अभिमन्योः पूर्ववर्तित्वम् अपि तत्रैव वर्णितम् इति दृष्ट्या तु पतञ्जलेः अवस्थितिः विक्रमपूर्व-पञ्चदश-शतकमभितः सम्भवति। तेन हि विक्रम-पूर्व-पञ्चदश-शतकम् आरभ्य दशम-शतकात् पूर्वपर्यन्तं सामान्यतः पतञ्जलेः अवस्थितिम् अनुमातुं शक्यते। अतः सामान्यतः विक्रमपूर्व-दशमशतकमेव पतञ्जलेः स्थितिकालः इति मतं समीचीनं प्रतीयते। 'अरुणद्यवनः यवनः', 'साकेतम्', 'अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्', 'अनुशोणं पाटलिपुत्रम्', 'मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः', 'पुष्यमित्रसभ', 'इह पुष्यमित्रं याजयामः', 'पुष्यमित्रो यजते', 'याजका याजयन्ति"-इत्यादीनि महाभाष्य-गतानि वाक्यानि च आदाय पण्डिताः पतञ्जलेः अवस्थिति-विषये स्वाभिमतं पक्षम् उपस्थापयन्ति।

तत्र यवनः साकेतम्' इति वाक्ये लङ्-लकारस्य प्रयोगम् आदाय तत् च प्रयोक्तुः दर्शनविषयं मत्वा 'मिनाण्डर' इति संज्ञकस्य यवनस्य आक्रमणेन सह संयोजयन्ति। किन्तु यवनस्य उल्लेखस्तु प्राचीनेषु पुराणेषु अपि दृश्यते। केन सह घटना इयम् अन्विता इति न शक्यते यथार्थतः वक्तुम्। किन्तु अत्र वेदवेदाङ्ग-पुराणादिषु उपलब्धानि प्रमाणानि अस्माकं शरणम्। भागवत-विष्णुपुराणादि-ग्रन्थानुसारेण धर्मराजस्य युधिष्ठिरस्य शासनकाले सप्तर्षय एकस्मिन् नक्षत्रे शतं वर्षाणि तिष्ठन्ति स्म। यदा ते पूर्वाषाढासु विचरन्तः आसन् तदा नन्दाभिषेकः सम्पन्नः। ते च यदा श्रवणेषु आसन् तदा युधिष्ठिरः जनिं लेभे। स च युधिष्ठिरः 89- मिते वर्षे साम्राज्यम् अवाप तथा द्वानवतितमे वर्षे अश्वमेधेन ईजे च। तेन हि कलेः 2094 मितेषु वर्षेषु व्यतीतेषु पुष्यमित्रस्य अभिषेकः अभवद् यस्य प्रधानाचार्यः पतञ्जलिः आसीद् इति प्रायः सर्वैः स्वीक्रियते। एवं तस्य अवस्थितिः विक्रमपूर्व-दशमशतमेव न्याय्यम्। तदनुसारं भगवतः पतञ्जलेः समयः ई.पू. द्वितीयशतकं (150 B.C.) स्वीकर्तुं शक्यते।

पतञ्जलिना महाभाष्यातिरिक्ता अपि केचन ग्रन्थाः लिखिताः। तेषु अधोलिखिताः प्रसिद्धा ग्रन्थाः उल्लेखम् अर्हन्ति- महानन्दकाव्यं, चरक-परिष्कारः, सिद्धान्त-सारावली, कोषग्रन्थः, आर्यापञ्चाशीति, साहित्यशास्त्रं तथा लोहशास्त्रं च। समुद्रगुप्तः स्वकीये कृष्णचरिते पतञ्जलेः महानन्दकाव्यं स्मरति। अवशिष्टग्रन्थानां प्रणेता कतमः पतञ्जलिः इति अधुना अपि इदमित्थं नैव निर्णीतम्। केचित्तु चरकम् अपि पतञ्जले एव नामान्तरं मन्यन्ते।

पतञ्जलिविरचितं महाभाष्यं नाम पाणिनीय-व्याकरणस्य कश्चन प्रामाणिकः व्यख्याग्रन्थः वर्तते। भर्तृहरेः कथनानुसारेण इदं महाभाष्यं हि सर्वेषामेव न्याय-बीजानाम् आकरग्रन्थ अस्ति। वस्तुतः पाणिनीयं च व्याकरणम् अन्य-व्याकरणापेक्षया अभिनवम् आसीत्। तेन इदं व्याकरणं सर्वेषामेव कृते आकर्षकं सञ्जातम्। एतद् व्याकरणम् अधिकृत्य नेकैः विद्वद्भिः वृत्तिग्रन्थाः, वार्तिक-ग्रन्थाश्च लिखिताः। पुराकाले पाणिनीय-सूत्राणाम् उपरि व्याख्याग्रन्थानां प्रणयनं नाम किमपि प्रतिष्ठाजनकं कार्यम् मन्यते स्म। अत एव सूत्रान्तर-प्रणयने समर्थाः व्याडि-प्रभृतय आचार्याः अपि स्वतन्त्ररूपेण सूत्र-प्रणयनम् अकृत्वा तेषामेव सूत्राणां व्याख्याने प्रवृताः अभवन्। एवं सति वृत्ति-वार्तिक-ग्रन्थानां तु कश्चित् प्रवाह एव उद्भूतः। एतेन सूत्राणां मौलिक आशय एव रूपान्तरितः। यथा 'प्राचां देशे' इत्यत्र 'प्राचाम्' इति पदग्रहणम् ''आचार्य-निदेशार्थं व्यवस्थित-विभाषार्थञ्चेति मत्वा आचार्याः यस्याचामादिस्तद्वृद्धसञ्ज्ञं भवति देशे बोध्ये प्राचां मतेन'' इति व्याख्यान्ति। अन्ये तु 'प्राग्देशे' इति व्याख्यान्ति। एवमेव सूत्रान्तरेषु अपि तदिदं प्रामाणिकम् अपि शास्त्रं विपन्नं दृष्ट्वा भगवता पतञ्जलिना सूत्राशय-संरक्षकं प्रमाणशास्त्रं महाभाष्यं प्रणीतम्। अनेन हि व्याख्यान-मुखेन व्याकरण-दर्शन-सिद्धान्तानाम् अपि तेन निरूपणं कृतं यद् आधारीकृत्य भर्तृहरिणा स्वकीयं वाक्यपदीयं प्रणीतम्।

भाष्यं नाम वार्तिक-व्याख्यानमिति सामान्य-प्रसिद्धिः। यत्र वार्तिकानि न सन्ति तत्र प्रायेण भाष्यमपि न दृश्यते। अतः संवादशैल्यां हि प्रोक्तं महाभाष्यमिदं मुख्यतया कात्यायन-कृतानां वार्तिकानामेव व्याख्यानमस्ति। वस्तुतः वार्तिकानि एव अवलम्ब्य अस्य ग्रन्थस्य प्रायः प्रवृत्तिः। किन्तु एतत् तु सूत्र-समर्थकम् एव। यत्र वार्तिककारेण सूत्रकार आचार्यः पाणिनिः प्रत्याख्यातः, तत्रापि पतञ्जलिः तस्य समर्थकः प्रतीयते। तत्रापि सः स्वकीये महाभाष्ये युक्त्या सूत्राणि एव मण्डयति। स्वतन्त्ररूपेण अपि अत्र कानिचिदेव सूत्राणि व्याख्यातानि। सूत्राणां वार्तिकानाञ्च यत् न्यूनत्वं तत् सर्वं भाष्येण पूरितम्। अत्र सांख्यिकी एवं वर्तते - चतुर्दशप्रत्याहारसूत्रैः समम् अष्टाध्याय्याः 3995 सूत्रेभ्यः 1689 सूत्राणामुपरि भाष्यमुपलभ्यते। तेषु तेन 1228 सूत्रेषु कात्यायनस्य वार्तिकानां, 26 सूत्रेषु अन्येषामाचार्याणां वार्तिकानां भाष्यमयी व्याख्या कृता। 435 सूत्रोपरि स्वतन्त्ररूपेण भाष्यमुपन्यस्तम्। 36 सूत्रेषु वार्तिककारस्य मतं भ्रान्तियुतं मत्वा पाणिनेर्मतं समर्थितम्। 16 सूत्राणि अनावश्यकानि मतानि। वस्तुतः पतञ्जलिना अनेकत्र कात्यायनस्य आक्षेपात् पाणिनिसूत्राणां रक्षा कृता। एवं यद्यपि पतञ्जलिः कात्यायनस्य वार्तिकानां प्रथमो भाष्यकारो नासीत् किन्तु सः श्रेष्ठो भाष्यकारस्तु आसीदेव। सूत्राष्टाध्यायी-क्रमेण पञ्चाशीत्याह्निकेषु लिखितम् एतत् महाभाष्यम् इदानीं द्वात्रिंशदाह्निकमात्रम् उपलभ्यते। एषः गद्यशैल्या प्रणीतः संस्कृतव्याकरणस्य प्रमाणभूतः मूलग्रन्थो वर्तते। वस्तुतः ब्राह्मणारण्यकानामनन्तरयं प्राचीनतमः श्रेष्ठः गद्यग्रन्थः वर्तते। अस्य ग्रन्थस्य निरूपणपद्धतिः मौलिकी तथा तर्कशैल्याधृता वर्तते।

महाभाष्यस्य उद्धारः प्रथमं चन्द्राचार्येण कृतः इति अस्माभिः पूर्वमुक्तम्। द्वितीयः उद्धारश्च क्षीराख्येन विदुषा कृतः इति राजतरङ्गिण्यां स्पष्टं प्रतिपादितं वर्तते। एवं पुनः पुनः उद्धारे सति यत्र कुत्रचित् मौलिकता रूपान्तरिता भवेदपि किन्तु तथापि ग्रन्थान्तरापेक्षया महाभाष्यम् इदानीमपि मौलिकग्रन्थ-रूपेण स्वीकृता वर्तते।

वस्तुतः दुरूह-व्याकरण-सम्बद्धमपि एतत् महाभाष्यं सरलं सरसं च वरीवर्ति। अत्र प्रयुक्ता संवादशैली प्रतिपाद्य-विषयाणां स्पष्टरूपेण उपस्थापनाय नितान्तमेव समर्था वर्तते। वस्तुतः अत्र स्वीकृतायाः शैल्याः सरलता

प्राञ्जलता च विस्मयावहा वर्तते। अत्रत्या विषय-प्रतिपादन-क्षमता च अनन्यपूर्विका एव अस्ति।

'शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा' इति माघ-कवेः रुक्तौ व्याकरणशास्त्रे महाभाष्यस्य प्रथमाह्निकस्य वैशिष्ट्यं सम्यक् सङ्केतितम् अस्ति। यथा गुप्तचरैः विना राजनीतिः न शोभते तथा पस्पशाह्निकं विना शब्दविद्या च न शोभते। एवमेव अन्या एका कारिका पस्पशाह्निकस्य प्रशस्तौ मुखरा दृश्यते -

शास्त्रेष्वाद्यं व्याकरणं मुख्यं तत्रापि पाणिनेः।।
रम्यं तत्र महाभाष्यं हृद्या तत्रापि पस्पशा।।

किन्तु वस्तुस्थितिः तु एवं वर्तते यत् न केवलं प्रथमाह्निकात् किन्तु सम्पूर्णात् महाभाष्यात् तत्कालिक-भारतीय-समाजस्य, संस्कृतेश्च पर्याप्तं ज्ञानं भवति। वस्तुतः अत्र भारतीय-संस्कृतेः, राजनीतेः, राजतन्त्रस्य, शासनस्य, दण्डस्य, शिक्षायाः, सदाचारस्य, धर्मस्य, दानस्य, व्रतस्य, कृषेः, वेश-भूषायाः, भक्ष्याभक्ष-सामग्रीणां च सर्वाङ्गीणं निदर्शनं द्रष्टुं शक्यते। किं बहुना, अत्र सम्पूर्णरूपेण तात्कालिकी भारतीया पद्धतिरेव दिग्दर्शिता। पतञ्जलिकालीन भारत, (प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बिहारराष्ट्रभापापरिषद्, पटना) इत्यनेन विशिष्ट-ग्रन्थेन देशस्य, लोकस्य, समाजस्य, धर्मस्य, दर्शनस्य, शास्त्रस्य च महान् उपकारः सञ्जातः इत्यत्र नास्ति अतिशयोक्तिलेशः।

महाभाष्ये लोक-न्यायाः

सर्वथा लोकप्रचलित-भाषायां प्रोक्तत्वा महाभाष्यमिदं सर्वत्र लोकप्रियं सञ्जातम्। अस्य हि यथार्थानुवर्तिता सर्वातिशायिनी वर्तते। अस्मिन् प्रसङ्गे सूतवैयाकरणसम्वादप्रसङ्गे 'देवानां प्राप्तिज्ञः न तु इष्टिज्ञः' इति कथनं महत्त्वपूर्णमस्ति। वस्तुतः महाभाष्यकारः तु उभयः एव आसीत्-प्राप्तिज्ञः इष्टिज्ञश्च। व्यवहारे प्राप्त्यपेक्षया इष्टेः एव अधिकं महत्त्वं भवति। सूत्राणाम् एव अनुसरणं प्राप्तिः, प्रयोगाणाम् अनुसरणं च इष्टिः। पतञ्जलिः जानाति यद् भाषा नैसर्गिकी भवति। व्याकरणसूत्रैः साधुशब्दनिष्पत्तिस्तु भिन्ना कथा। किन्तु तेषां प्रयोगप्रसङ्गः भिन्नः। सारथीत्यस्मिन्नर्थे व्याकरणनियमैः निष्पन्नः शब्दो वर्तते 'प्रवेता' इति। किन्तु लोके 'प्राजिता' इति शब्दस्य प्रचलनं वर्तते। इष्टिज्ञत्वेन पतञ्जलिः लोकप्रचलितं शब्दं साधुं मनुते।

महाभाष्ये 'शब्दगुडमात्रं', 'काकपेया नदी', 'चञ्चा' (तृणमयः पुरुषः) चेत्यादीनां लौकिक-शब्दानां प्रयोगाः तस्य व्यावहारिकपक्षं द्योतयन्ति। एवमेव तत्र प्रयुक्तानि लोकव्यवहार-सम्बद्धानि वाक्यानि अपि तस्य प्रभावोत्पादकतां साधयन्ति। पतञ्जलिः महाभाष्ये शताधिकाः परिभाषाः तथा त्रिशताधिकांश्च लैकिक-न्यायान्, दृष्टान्तान्, उपमानान् वा प्रयुक्तवान्। तेषु केचन एव लैकिक-न्यायाः, दृष्टान्ताः, न्यायस्वरूपाः शब्दाः तथा कानिचित् उपमानानि, सुभाषितानि वाक्यानि च अत्र उदाह्रियन्ते येषां समाजे बह्व्यः व्यावहारिक्यः उपयोगिताः भवन्ति। तद्यथा सामाजिकोपयोगिताः, राजनैतिकोपयोगिताः, अर्थनैतिकोपयोगिताश्चेति।

यथासम्भवमत्र तेषां किमपि वर्गीकरणमपि कृतं वर्तते। तद् यथा -

आयुर्विज्ञान-सम्बद्धानि वचनानि

- मूत्राय कल्पते यवागूः। उच्चाराय कल्पते यवान्नम्।[10]
- श्लेष्मघ्नं मधु।[11]
- पित्तघ्नं घृतम्।[12]
- दधिभोजनमर्थसिद्धिरादिः।[13] (अर्थसिद्धेः समीपम् उच्यते)।

व्यावहारिक-शब्दानामर्थविज्ञान-परकाणि वचनानि

- तुन्दपरिमृजोऽलसः[14]
  (यो हि तुन्दं परिमार्ष्टि तुन्दपरिमार्जः स भवति।)
- निवासो नाम यत्र सम्प्रत्युष्यते। अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्[15]
- भक्षं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते[16]
- व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते[17]
- यूपश्च नाम पश्वनुवन्धार्थमुपादीयते[18]
- दक्षिणापथे महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते[19]
- त्रयः प्राच्याः त्रयः उदीच्याः त्रयो मध्यमाः सर्वे निवासलक्षणाः[20]
- शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजस्वेव[21]
- यो हि राष्ट्रे प्रायेण भवति तत्र भवोऽसौ भवति[22]
- बुध्यते यद् राष्ट्रं नाम कश्चन राज्ञः अधीनस्थः प्रदेशः भवति
- सौर्यं हिमवतो शृङ्गे। तद्वान् सौर्यं हिमवान्[23]
- गुहा गिर्योषधयोरिति वक्तव्यम्। गूढिरन्या[24]
- घटेन तरति घटिकः[25]
- दारयन्ति इति दाराः, दीर्यते तैर्दाराः चेति[26]।

प्राणिविज्ञान-सम्बद्धानि वचनानि

- हस्ती-मशकयोस्तुल्यः सन्निकर्षः[27]
- मातृकं गोवोऽनुहरन्ते[28]
- पैतृकमश्वा अनुहरन्ते[29]
- व्याददते पिपीलिकाः पतङ्गमुखम्[30]
- नगरघातो हस्ती[31]
- कपोतः शरदं पश्पशाते[32] (कपोतः शरदृतौ मैथुनं काङ्क्षते इत्यर्थः)
- हंसस्य वरटा योषित्[33]
- श्वानः खल्वपि मुमूर्षवः एकान्तशीलाः सूनाक्षाश्च भवन्ति[34]
  (मरणासन्नाः श्वानः एकान्तशीलाः सूनाक्षाश्च भवन्ति।)
- गोषु कृष्णा बहुक्षीरा[35]
- गौरिवाकृतनोशारः प्रायेण शिशिरे कृशः[36]
- गोमयाद् वृश्चिको जायते[37]
- गोलोमाविलोमयोर्दुर्वा जायन्ते[38]।

सामाजिक-सांस्कृतिक-धर्मशास्त्र-परकाणि वचनानि

- अब्राह्णणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। अब्राह्णणोऽयं यो गच्छन् भक्षयति[39]।
- तैलं न विक्रेतव्यम्[40]
- घृतं न विक्रेतव्यम्[41]
- गाव: सर्पपाश्च विक्रीयन्ते[42]
- न स्त्री वंश्या। अपर आह द्वावेव वंशौ - मातृवंश: पितृवंशश्च[43]
- आत्मम्भरिश्चरति यथमसेवमान:[44]

  (कुक्षिम्भरिण: चाटुकाराश्च हीना: मन्यन्ते स्म।)
- अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी[45]
- प्रियतद्धिता: दाक्षिणात्या:[46]

  (तद्यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये तयो: तद्धितरूपे प्रयुज्येते।)
- ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्येय:[47]
- अभक्ष: ग्रम्यकुक्कुट: अभक्ष: ग्रम्यशूकर:[48]
- खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायामगम्यायाञ्च[49]
- वरतनु। सम्प्रवदन्ति कुक्कुटा:[50] (प्रात:काल: अभवदिति सूच्यते)।

शकुनशास्त्रसम्बद्धानि वचनानि

- वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।

  पीता भवति शस्याय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्।।[51]
- जायाघ्नस्तिलकालक:, पतिघ्नी पाणिलेखा[52]।

अभिनव-शास्त्रीयविषय-प्रतिपादनशैली।।

महाभाष्यस्य विषयनिरूपणपद्धति: प्रवाहमयी सम्भाषणात्मिका च वर्तते। कठिनविषयाणां प्रारम्भ: 'इदमिह सम्प्रधार्यम्' इत्यनेन वाक्येन क्रियते। येन पाठक: सावधान: जागरुकश्च भवेत्। पतञ्जलि: पूर्वपक्षस्य स्थापनामपि तटस्थतया तन्मयतया च करोति तथा 'विषम उपन्यास:' इत्यादिवाक्यै: उत्तरपदस्य प्रतिपादनं करोति। मध्ये मध्ये 'किं वक्तव्यमेतत्', 'कथमनुच्यमानं गंस्यते' इत्यादिभि: सम्वादात्मकै: वाक्यै: पाठकानां ध्यानमाकर्षति। कदाचिद् 'यथा न दोषस्तथास्तु' इति वदता तेन पाठकस्योपरि निर्णयस्य भार: स्थाप्यते, कदाचित् 'यथान्यासमेवास्तु' इत्युक्त्वा सूत्रकारं समर्थयति। कदाचिद् 'गोनर्दीयस्त्वाह' इति कथयित्वा अधिकग्राह्यपक्षं पुष्णाति, कदाचिद् 'उभयथा गोणिकापुत्र:' इति उक्त्वा उभयपक्षस्य समर्थनं करोति। कदाचिद् 'देव एव जानाति' इति उक्त्वा विनोदात्मकोक्तै: पाठकमनांसि रञ्जयति। एवं पतञ्जलिना व्याकरणसदृश: क्लिष्ट: नीरसश्च विषय: सरसीकृत:।

व्यङग्योक्तय:

वस्तुत: अस्य ग्रन्थस्य सरसत्वे तस्य आकर्षणमयी भाषा एव कारणं विद्यते। विरोधीनां तर्क-खण्डनावसरे तेन बहुधा कटाक्षपूर्णा व्यंग्यमयी भाषा प्रयुक्ता। एवं शुष्कसिद्धान्तानां निरूपणेऽपि तादृशी भाषा स्फूर्तिदा

प्रतीयते। यथा –

- कश्चेदानीं भवतो मत्सरः यदि सर्वं लोकोऽभ्युदयेन युज्यते[53]
- कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः[54]
- सैषोभयतस्पाशा रज्जुर्भवति[55]
- अनुगृहीता स्मो यैरस्माभिः[56]
- आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचक्षते[57]

  (हिन्दीभाषायाम् – पूछे खेत की, कहे खलिहान की)
- प्रमत्तगीत एष तत्र भवतः[58]
- अद्यत्वे वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति[59]।

उपमानानि

एवमेव महाभाष्यप्रयुक्तानि उपमानानि तत्रत्याः न्यायाः, सूक्तयः, दृष्टान्ता अपि अतीव रमणीया वर्तन्ते। एतेषां प्रयोगे ग्रन्थशैल्यां महती रोचकता समागता। उदाहरणार्थमत्र तत्प्रयुक्तानि कानिचन सुपरिचितानि प्रभावोत्पादकानि उपमानानि उदाह्रियन्ते

- यदि पुनरिमे वर्णाः शकुनिवत् स्युः। शकुनय आशुगामित्वात् पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते।[60]
- यदि पुनरिमे वर्णाः आदित्यवत् स्युः। तद्यथा, एक आदित्यो नैकाधिकरणस्थो युगपद्देशे पृथक्त्वेपूपलभ्यते।[61]
- कथं पुनरसम्नायलिङ्गं शक्यं द्रष्टुम्। मृगतृष्णावत्। तद्यथा मृगास्तृषिताः पयोधाराः पश्यन्ति न च ताः सन्ति।[62]
- गन्धर्वनगराणि यथा दूरतो दृश्यन्ते उपसृत्य च नोपलभ्यन्ते। तद्वत् खट्वावृक्षयोरसल्लिङ्गम् द्रष्टव्यम्। यथा आदित्यस्य गति सती नोपलभ्यते तद्वत् खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते। यथा वास्त्रान्तर्हितानि द्रव्याणि नोपलभ्यन्ते तद्वत् खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते।[63]
- गोयूथवदधिकाराः। तद्यथा गोयूथमेकदण्डप्रघट्टितं सर्वं समं घोषं गच्छति तद्वद् अधिकाराः[64]।
- अकृतकारि खल्वपि शास्त्रमग्निवत्। तद्यथा अग्निर्य दग्धं तद् दहति, कृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्। तद् यथा पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति।[65] इतरेतराश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते। नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति[66]। व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद्यथा नटानां स्त्रियो रङ्गे यो यो पृच्छति कस्य यूयम् कस्य यूयम्, तं तं तव तवेत्याहुः[67]।

दृष्टान्ताः

उपर्युक्तेषु उदाहरणेषु भाष्यकारः स्ववक्तव्यस्य पुष्ट्यै प्रतिदिनं व्यवहारे समागतानाम् उपमानानामुपयोगः स्वरीत्या कृतः। तेन समानगुणकेनोपयोगेन पाठकः विना तर्केण वक्तुः मन्तव्यं स्वीकर्तुं विवशः भवति। एषा एव स्थितिः भाष्यप्रयुक्तानां दृष्टान्तानामेव वर्तते। उपमानसदृशस्ते सुपरिचिताः दृष्टान्ता अपि सुग्राह्याः वर्तन्ते। अत्र केषाञ्चन दृष्टान्तानामुदाहरणानि प्रस्तूयन्ते। वस्तुतः एतेषु दृष्टान्तेषु अपि केचन न्यायस्वरूपाः वर्तन्ते–

- नष्टाश्वदग्धरथवत् –तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्धः। उभौ सम्प्रयुज्यावहा इति। एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति, ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्त्यस्तु नो सम्प्रयोग इति[68]। व्याकरणे

एषः नष्टाश्वदग्धरथन्यायरूपेण परिचितो वर्तते।

- अभ्यन्तरो हि समुदायस्यावयवः। तद्यथा वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति[69]।
- असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे एषा परिभाषा लोकतः सिद्धा। प्रत्यङ्गवर्ती लोको सन्दृश्यते । तद्यथा पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति ततः सुहृदान्ततःसम्बन्धिनम्।[70]
- न ह्यन्यस्यासिद्धत्वादन्यस्य पुनर्भवो भवति। नहि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य पुनर्भवो भवति।[71]
- नञ्-प्रयुज्यमानः पदार्थं निवर्तयति। कील-प्रतिकीलवत्। तद्यथा कील आहन्यमानः प्रतिकीलं हन्ति।[72]
- प्रसक्तस्य चानभिनिवृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुं नाभिनिर्वृत्तस्य। यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुङ्क्था इति किं तेन कृतं स्यात्[73]
- न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति। नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादेवाहिर्भवति[74]।
- अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीयं पीयते उपस्पृश्यते च। शालयश्च भव्यन्ते।[75]
- आमिश्रस्यायमादेशः उच्यते। स नैव पूर्वग्रहणेन गृह्यते नापि परग्रहणेन। क्षीरोदके सम्पृक्ते आमिश्रत्वान्नैव क्षीरग्रस्तेन गृह्यते नाप्युदकग्रहणेन।[76]
- उभ्यत्राश्रयेनान्तादिवत्। तद्यथा लोके यो द्वयोस्तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यः भवति स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति। यदा तु तमुभौ युगपत् प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्ये भवतस्तत्र यद्यप्यसावविरोधार्थी भवति तत उभयोर्न करोति[77]।

लोकन्यायाः

एवं महाभाष्येण जीवनस्य सामान्य-तथ्यानां सहायताभिः व्याकरणस्य नैके महत्त्वपूर्णाः सिद्धान्ताः परिभाषाश्च सृष्टाः। एतस्य केचन न्यायास्तु अतीव प्रसिद्धाः सन्ति। ते च न्यायाः यद्यपि दृष्टान्ता एव सन्ति किन्तु तदपेक्षया संक्षिप्ताः तथा विशिष्टार्थग्राहिणश्च भवन्ति। केचन प्रमुखाः न्यायास्तावदधोलिखिताः सन्ति

- **स्थालीपुलाकन्यायः** - पर्याप्तोऽप्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय[78]।
- **कूपखानकन्यायः** - तद्यथा कूपखानकः कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति। सोऽप्सु सञ्जातासु तत एव तं गुणमासादयति येन च स दोषो निर्हण्यते भूयसा चाप्यभ्युदयेन योगो भवति[79]
- **कुम्भिधान्यन्यायः** - यस्य कुम्भ्यामेव धान्यं स कुम्भिधान्यः। यस्य पुनः कुम्भ्यां चान्यत्र च नासौ कुम्भिधान्यः।[80]
- **काकतालीयन्यायः** काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालम्। काकतालमिव काकतालीयम्।[81]
- **अविरविकन्यायः** - तद्यथा अवेर्मासमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवत्यविकमिति। एवं च पञ्चसु कपालेषु संस्कृत इति विगृह्य पञ्चकपाल इति च भविष्यति। पञ्चकपालाभ्यां संस्कृत इति विगृह्य वाक्यमेव।[82]

- **एकदेशविकृतन्यायः**- एकदेशविकृतमनन्यवत्[83]।

  (श्वा कर्णं वा पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति नाश्वो न गर्दभः[84])

- आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः (अत्र द्विगता अपि हेतवो भवन्ति)[85]

  एषः प्रयोगः तत्र उपयुज्यते यत्र द्विगता अपि हेतवो भवन्ति। लोके यदा एकेन कार्येण प्रयोजनद्वयं सिद्ध्यति तत्र अस्य न्यायस्य प्रयोगः दृश्यते। 'एक पन्थ दो कार्य' इति हिन्दी-भाषायामुच्यते।

एवमेव अजाकृपणन्यायः, मत्स्यकण्टकन्यायः, धान्यपलालन्यायः, पञ्जरस्थसिंहन्यायः, काकाक्षिगोलकन्यायः, देहलीदीपन्यायः, जलतुम्बीन्यायः, प्रासावासीन्यायः, चम्पकपुष्पिकान्यायश्चेति।

सूक्तयः

महाभाष्ये नैकेषु स्थलेषु मनोरमसूक्तीनां समावेशः दृश्यते। तत्र लोकप्रसिद्धानां सूक्तिनामपि प्राचुर्यं दृश्यते। यथा द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति। तास्ताः सूक्तयः प्रवचनानि च कदाचित् सोदाहरणमुपलभ्यन्ते कदाचिच्च साररूपेण। भाष्यकारेण तासां सूक्तीनामुपयोगः स्वाभिमतपुष्टये एव विहितः। महाभाष्ये समुपलब्धासु सूक्तिषु काश्चन प्रमुखाः सूक्तयः एवंविधाः सन्ति -

- केशेषु चमरीं हन्ति[86]।
- चर्मणि द्वीपिनं हन्ति[87]।
- सीम्नि पुष्कलको हतः[88]।
- समानगुणे एव स्पर्धा भवति। न ह्याभिरूपौ स्पर्धेते। अदूरविप्रकर्ष एव स्पर्धा भवति।
- आसीनं वर्धते विषम्[89] (पातितं विषं स्वयं वर्धते इत्यर्थः)
- कथं नाम स्त्री सभायां साधुः स्यात्[90]।
- एको व्रीहिः सम्पन्नः सुभिक्षं करोति[91]।
- अभ्यन्तरोऽहं लोके न त्वहं लोकः[92] (यदि कश्चन अङ्गं भवति न तु अङ्गी तर्हि एष न्यायः प्रवर्तते)
- फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्[93]
- न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः[94]
- तप्ते भ्राष्ट्रे तिलाः क्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्ते[95]
- न च भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते[96]
- न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते[97]
- नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते[98] (शतनिष्कसम्पन्नेन न स्पर्धते इत्यर्थः)
- एकेन कुद्दालकेन खारीसहस्रम्[99]
- न वै कामानां तृप्तिरस्ति[100]
- बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्[101]
- नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादेवाहिर्भवति[102]

- केवलं सर्पणादेव गोधा अहिः न भवति।
- वेदान्नो वैदिका शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः[103]
- एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति
  (एकेनैव वाक्येन साधुशब्दप्रयोगस्य महत्त्वं प्रतिपादितं वर्तते)
- न हि गूड इत्युक्ते मधुरत्वं गम्यते शृङ्गवेरमिति वा कटुकत्वम्[104]
- देवरक्ताः किंशुकाः 105 यज्ञकर्मणि प्रयुज्यन्ते।
- प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति[106]
- हिमवानपि गच्छति[107]
- वदरीपिटके रिक्तको लोहकंसस्तद्गुण उपलभ्यते[108]।

शब्दन्यायाः

महाभाष्ये प्रयुक्ताः नैके शब्दाः संस्कृतशब्दकोशस्य अमूल्यनिधिरूपाः सन्ति। सम्पूर्णं महाभाष्यं विशिष्टावसरेषु प्रयुक्तैः विशिष्टार्थकशब्दैः समृद्धमस्ति। नैके एवंविधाः शब्दाः भाष्ये प्रयुक्ताः सन्ति येषां कृते सम्पूर्णवाक्यस्यावश्यकता भवति। वस्तुतः अयमेकः स्वतन्त्रविषयः यमधिकृत्य अस्माकं ध्यानाकर्षणमावश्यकम्। अत्रोदाहरणरूपेण केचन एव शब्दाः उदाह्रियन्ते -

- शब्दगूडमात्रम् (शब्दाडम्बरः इति हिन्दी-भाषायाम्)
- उष्ट्रासिकाः (उष्ट्रवत् विविधप्रकारकमुपवेशनम्)
- हतशायिकाः (मृतवत् अव्यवस्थितरूपेण भूमौ लुठनम्)
- काकपेया (क्षीणजला नदी)
- चञ्चा (तृणमयः पुरुषः यः कृषिक्षेत्रे शृगालादीन् पशून् भीषयितुं कृषकैः निर्मीयते)
- सांन्यासिकः (शठे शाठ्यं समाचरणम्)
- भ्रूकुंशः (नाटके स्त्रीभूमिकायामभिनेता पुरुषः)
- अयःशूलिकः (मृदु करणीयं कार्यं यः बलात् सम्पादयति)
- अपस्किरणम् (प्रमुदितैः बलिवर्दैः शृङ्गैः मृत्तिकाखोदनमथवा कुक्कुर-मार्जारादिभिः पदैः भूमिखोदनम्।)
- केशकः (केशप्रेमी पुरुषः)
- अषडक्षीणः (द्वयोः जनयोः मध्ये गुप्तमन्त्रणा)
- वृहतीका (प्रावारकम्)
- पथकः (पद्भ्यां गमने कुशलः)
- आशितंगु (एतादृशं क्षेत्रं यस्य घासाः पशुभिश्चरिताः)
- अन्ववसर्गः (कार्यं कर्तुमनुज्ञा)

- शीतकः (शीघ्रं करणीयं कार्यं यः शैथिल्येन सम्पादयति)
- तन्त्रकम् (सद्यः स्यूतं वम्)
- विपादिका (उत्पन्नः स्फोटः व्रणो वा)
- वहंलिट् (हलं कुर्वन्नेव क्षेत्रं चरन् पशुः)।

एते शब्दास्तु केवलं निदर्शनभूताः। सर्वेषां सङ्ग्रहणे दीर्घा एव सूची भविष्यति। अतएव विरम्यते विस्तारभयात्।

वस्तुतः भाष्यकारेण महत्त्वपूर्णसिद्धान्तानामुपस्थापनविषयेऽपि एतत् सुनिश्चितमेव कृतं यदेतत् शास्त्रमपि सरलतया सरसतया च सुग्राह्यं स्यात्। एतदर्थं तेन सर्वत्र लोकविज्ञानमुदाहृतम्, लोकव्यवहाराश्च आश्रिताः। तस्य अधिसंख्याकास्तर्काः पूर्वपक्षस्य भवन्तु उत्तरपक्षस्य वा भवन्तु लोकाश्रिताः सन्ति। उदाहरणार्थं यदा स वक्तुमिच्छति यत् प्रत्ययानां स्थानं निश्चितं भवेत् अन्यथा ते कदाचित् शब्दस्य आदौ, कदाचित् मध्ये कदाचिद् अन्ते च प्रयुक्ताः स्युः । एतस्मिन् प्रसङ्गेऽपि सः एकं लौकिकमुदाहरणं प्रस्तौति। यथा वत्सा कदाचित् स्वमातुः अग्रे, कदाचित् पश्चात् कदाचिच्च पार्श्वे चलति तथैव एते प्रत्ययाः । एवमेतादृशैः उदाहरणैः भाष्ये नैके न्यायाः, नियमाः, दृष्टान्ताः तथा नैकाश्च परिभाषाः निर्मिताः भवन्ति।

उपसंहारः

महाभाष्यस्य लोकप्रवृत्तिं दृष्ट्वा अथर्ववेदवदेतदपि लोकवेदत्वेनाभिधातुं शक्यते। अत्र तु तत्कालिकं सम्पूर्णं भारतवर्षं चित्रितं दृश्यते। डा. प्रभुदयाल अग्निहोत्रिण- 'पतञ्जलिकालीन भारत' इति पुस्तकं पश्यामश्चेत् तत्र द्रष्टुं शक्नुमो यत् महाभाष्ये तत्कालिकस्य सम्पूर्ण-भारतवर्षस्य भूगोलः चित्रितः वर्तते। पर्वत-वन-नदी-जनपद -नगर-ग्रामाणां विवरणं, समाजसङ्गठनं, वर्णजातिविवरणं तथा विविध-संस्कार-आश्रमादीनां वर्णनं ग्रामवासि-नगरवासीनां चित्रणं, नारीणां स्थितिः, गृहसामग्री-वेशभूषा-भोजन-पान-परिवहन-मनोरञ्जनादि-संस्कृति-चित्रणं, कृषि-वनस्पति-पशुपक्षि-शिल्प-वाणिज्य-धन-मुद्रा-श्रम-श्रमिकाणां चित्रणं, साहित्य-कलाप्रसङ्गे शिक्षास्वास्थ्य-सङ्गीतनृत्यनाट्यादिभिः दृष्टसाहित्य-प्रोक्तसाहित्य-व्याख्यातसाहित्य-उपज्ञातसाहित्य-कृतसाहित्यानां विवरणं तथा शिक्षा-वेदायुर्वेद-ज्योतिर्विज्ञान-स्वरूपं च चित्रितं वर्तते। एवमेव देव-यज्ञ-मूर्तिपूजा-भक्ति-दर्शन-व्रतोपवास-धर्म-धार्मिक-क्रियाणां च वर्णनं विविध-प्रसङ्गेषु उपलभ्यते। अतः महाभाष्यं महाभारतमिति यदि वदामः तर्हि अत्युक्तिः न स्यात्। एतेषु बहवः प्रसङ्गाः लोकन्याय-दृष्टान्तोपमान-सूक्ति-प्रवचनमाध्यमेन आगताः सन्ति।

महाभाष्यस्य रचनाशैली स्पष्टा सरला प्रसादगुणमयी च वर्तते। अत्र दैनन्दिन-व्यवहोरोपयोगि-शब्दानां वाक्यानाञ्च प्राचुर्येण प्रयोगो वर्तते। दीर्घसमासक्लिष्टपदावल्याः प्रयोगः न कुत्रापि दृश्यते। भाषासौष्ठवदृष्ट्याऽपि महाभाष्यं शरीरभाष्यादधिकं सरलमस्ति। अत्र यद्यपि शास्त्रीयग्रन्थरूपेण पारिभाषिकशब्दानां शास्त्रीयशब्दानाञ्च प्रयोगः स्वाभाविकस्तथापि लोकव्यवहारोपयुक्तानां निसर्गसुन्दराणां सुपरिचितशब्दावलीनां प्रयोगात् महाभाष्ये भाषाकाठिन्यं न कुत्रापि समागतम्। अत्रत्या विषयप्रतिपादनशैल्यपि मनोरमा। सरल-सुबोध-निसर्ग-रमणीय-भाषायाः प्रयोगः, स्थाने स्थाने वक्तृत्वच्छटा तथा संवादमयानां वाक्यानां मोहकता भाष्ये विशेषमाकर्षणमुत्पादयन्ति। यत्र प्रतिपाद्यविषयः गम्भीरः कठिनश्च वर्तते तत्र मध्ये मध्ये विनोदयुक्तानि वाक्यानि प्रयुज्य तथा समयोचित-लौकिक-दृष्टान्त-वाक्यानां समावेशं कृत्वा पतञ्जलिना अत्र पाठकजिज्ञासा पठनीयता च समुत्पादिता येन प्रायः समे प्रसङ्गाः सजीवाः अभवन्।

एवमेषु लोकन्यायेषु पूर्णरूपेण भारतीया संस्कृतिः परम्पराश्च प्रतिविम्बिताः सन्ति इति वक्तुं शक्यते। अतः एतेषामात्मसात्करणेन अस्माकं प्राचीन-संस्कृतेः परम्परायाश्च सुरक्षा भविष्यति।

महाभाष्ये प्रयुक्तेषु लोकन्यायेषु पतञ्जलिकालिकी सामाजिकी स्थितिः सामाजिकी चेतना च समङ्किता वर्तते इति अस्माभिः दृष्टम्। अद्यतनीये भारतीये समाजे तु बह्व्यः विसङ्गतयः दृश्यन्ते। सर्वत्र हिंसायाः साम्राज्यं प्रसरदस्ति। महाभाष्यीयलोकन्यायानां प्रचारमाध्यमेन अपि अद्यतनीयसामाजिकव्यवस्थायां परिवर्तनमानेतुं शक्यते इति न रूचिदतिशयोक्तिः।

पुनश्च अद्यत्वे संस्कृतसम्भाषण-प्रसङ्गे व्यावहारिक-शब्दानां कृते उचितशब्दाः नोपलभ्यन्ते। सा एव स्थितिः आधुनिक-संस्कृत-साहित्य-निर्माण-प्रसङ्गेऽपि। परन्तु सौभाग्यात् तादृशाः बहवः शब्दाः महाभाष्ये प्रयुक्ताः दृश्यन्ते। यथा चञ्चा। अस्य शब्दस्य अर्थः भवति तृणमयः पुरुषः यः कृपिक्षेत्रे शृगालादीन् पशून् भीषयितुं कृषकैः निर्मीयते। यतोहि पतञ्जलेः मान्यता इयमस्ति यत् महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः, उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। सन्ति शब्दाः अप्रयुक्ताः इति कथनं तु केवलं साहसमात्रम्' वस्तुतः तन्मतानुसारं सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्[110] यतो हि ''यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः। अथाप्रयुक्ताः न सन्ति'' इति तस्य सिद्धान्तः। वस्तुतः महाभाष्ये प्रयुक्तानां लोकन्यायानां सूक्तिमयवाक्यानां प्रवचनानाञ्च प्रयोगः व्यावहारिक-संस्कृतसम्भाषणे साहित्यनिर्माण-प्रसङ्गे च साक्षात्कर्तुं शक्यते इति महती उपयोगिता एतेषां लोकन्यायानाम्। समकालिकरचनाकारैः स्वकीयं शब्ददारिद्र्यं दूरीकर्तुं महाभाष्यप्रयुक्तान् लोकन्यायान्, शब्दान्, वाक्यांशान्, वाक्यानि, प्रवचनानि, सुभाषितानि च अवश्यं प्रयोक्तव्यानि। अन्यथा कदाचित् तेऽपि पतञ्जलेः एकेन न्यायेनैव आक्षिप्ताः स्युः – नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति[111] इति दिक्।

सन्दर्भाः

1. म.भा., पा. 4.2.93
2. म.भा., 23' झ.3.2.1
3. म.भा., पा. 3.2.114
4. राजतरङ्गिणी 1.176
5. राजतरङ्गिणी 1.173
6. वाक्यपदीये 2.482, राजतरङ्गिणी 1. 176-81
7. राजतरङ्गिणी 4.486-89
8. राजतरङ्गिणी 1.176
9. राजतरङ्गिणी 1.75
10. म.भा., पा. 2.3.13
11. म.भा., पा. 15 6.1.12
12. म.भा., पा. 15 6.1.12
13. म.भा., पा. 6.4.161
14. म.भा., पा. 3.2.5
15. म.भा., पा. 4.3.90
16. म.भा., आ. 1
17. म.भा., आ. 1
18. म.भा., आ. 1
19. म.भा., पा. 1.1.19
20. म.भा., पा. 4.2.138
21. म.भा., आ 1
22. म.भा., पा. 4.3.39
23. म.भा., पा. 1.1.57
24. म.भा., पा. 3.3.104
25. म.भा., आ. 2
26. म.भा., पा. 3.3.20
27. म.भा., पा. 1.4.109
28. म.भा., पा. 1.3.21
29. म.भा., पा. 1.3.21
30. म.भा., पा. 1.3.20
31. म.भा., पा. 3.2.53
32. म.भा., पा. 7.3.87
33. म.भा., पा. 6.3.34
34. म.भा., पा. 3.1.7
35. म.भा., पा. 4.3.42
36. म.भा., पा. 3.3.21
37. म.भा., पा. 1.4.30
38. म.भा., पा. 1.4.30
39. म.भा., पा. 2.2.6
40. म.भा., आ. 2

41. म.भा., आ. 2
42. म.भा., आ. 2
43. म.भा., पा. 4.1.114
44. म.भा., पा. 3.2.26
45. म.भा., पा. 6.1.142
46. म.भा., आ. 1
47. म.भा., आ. 1
48. म.भा., आ. 1
49. म.भा., आ. 1
50. म.भा., पा. 1.3.48
51. म.भा., पा. 2.3.13
52. म.भा., पा. 3.2.52
52. म.भा., आ. 1
54. म.भा., आ. 1
55. म.भा., पा. 6.1.68
56. म.भा., आ. 2
57. म.भा., पा. 1.2.45
58. म.भा., आ. 1
59. म.भा., आ. 1
60. म.भा., आ. 2
61. म.भा., आ. 2
62. म.भा., पा. 4.1.3
63. म.भा., पा. 4.1.3
64. म.भा., पा. ..4.270
65. म.भा., पा. 6.1.171
66. म.भा., पा. 1.1.1
67. म.भा., पा. 6.1.2
68. म.भा., पा. 1.1.50
69. म.भा., पा. 1.1.56
70. म.भा., पा. 1.1.57
71. म.भा., पा. 1.1.65)
72. म.भा., पा. 2.2.6)
73. म.भा., पा. 6.1.37)
74. म.भा., पा. 6.1.50)
75. म.भा., पा. 6.1.50)
76. म.भा., पा. 6.1.85)
77. म.भा., पा. 6.1.85
78. म.भा., पा. 1.4.23
79. म.भा., आ. 1
80. म.भा., पा. 1.3.7
81. म.भा., पा. 5.1.106
82. म.भा., पा. 4.1.89
83. म.भा., पा. 2
84. म.भा., पा. 1.1.56
85. म.भा., पा. 1, पा. 8.2.3
86. म.भा., पा. 2.3.36
87. म.भा., पा. 2.3.36
88. म.भा., पा. 2.3.36
89. म.भा., पा. 3.2.126
90. म.भा., पा. 4.1.15
91. म.भा., पा. 1.2.58
92. म.भा., आ. 1
93. म.भा., आ. 1
94. म.भा., आ. 1
95. म.भा., पा. 1.1.50
96. म.भा., पा. 6.1.13
97. म.भा., पा. 1.1७39
98. म.भा., पा. 5.3.55
99. म.भा., पा. 2.1.69
100. म.भा., पा. 6.1.85
101. म.भा., पा. 2.3.2
102. म.भा., पा. 1.1.23
103. म.भा., आ. 1
104. म.भा., पा. 2.1.1
105. म.भा., पा. 3.1.79
106. म.भा., आ. 1
107. म.भा., 23 पा. 3.2.1
108. म.भा.,' पा. 1.2.30
109. म.भा., आ. 1
110. म.भा., आ. 1
111. म.भा., आ. 1

सन्दर्भग्रन्थसूची

- महाभाष्य (Mbh of) पतञ्जलि, Ed. by Kielhorn, Rev. Edn. K.V.Abhyankar, Bhandarkar Sanskrit Series, Poona,Vol.I (1962), II (1965), III (1972)
- Joshi S.D & Roodbergen J.A.F. : Introduction and Notes to :

___________ : Mbh (पस्पशाह्निकम्), University of Poona,1989

___________ : Mbh (अव्ययीभावतत्पुरुषाह्निकम्), Poona, 1969

___________ : Mbh (अनभिहिताह्निकम्), Poona,1976

___________ : Mbh (समर्थाह्निकम्), Poona,1968

___________ : Mbh (कारकाह्निकम्), Poona,1968

___________ : Mbh (बहुव्रीही-द्वन्द्वाह्निकम्), Poona, 1974

___________ : Mbh (प्रातिपदिकार्थशेषाह्निकम्), Poona,1981

___________ : Mbh (कर्मधारयाह्निकम्), Poona,1971

___________ : Mbh (तत्पुरुषाह्निकम्), Poona, 1973

- Laddu, S.D. : Evolution of Sanskrit language from पाणिनि to पतञ्जलि, CASS, University of Poona, 1974
- Abhyankar, K.V. & Shukla, J.M.: Introduction to Mbh (1-3), BORI, Poona, 1975
- Pathak, S.Shastri & Chitrao S Shastri : Word Index to पतञ्जलि's महाभाष्य, BORI, Poona, 1972
- Mimamsaka Yudhisthira : संस्कृत-व्याकरण का इतिहास, Part III, Ramlal Kapoor Trust, Haryana
- Abhyankar, V.S.: व्याकरण महाभाष्य, मूल आणि मराठी भाषान्तर, (Vol.I), Deccan College Education Society, Poona 1938
- Chakravarti, P.C.: The महाभाष्य, अध्याय 1, पाद 1, आह्निक 1 Introduction), The Indian Historically Quarterly, Vol.I, pp.703-739 Ed. by N.N.Law, Calcutta, 1925,
- Chatterjee, K. C. : पतञ्जलि's महाभाष्य पस्पशाह्निक, Introductory chapter), Ed. with English Translation, Notes & comms. Revised Fourth Edn., Calcutta, 1972
- Filliozat, P.: Le महाभाष्य de पतञ्जलि avecle प्रदीप de कैयट et I udyota de नागेश, अध्याय 1, 9 M (?-1, Institute Francais d'Indologie, pondicherry 1975.
- Roy, K. R. : व्याकरण-महाभाष्य, , (Section-I), Calcutta, 1963
- Shastri, Subramanya, p.c.: Lectures on पतञ्जलि's Mbh, vol.I , आह्निकs 1-3, second Edn., Tiruvayur, 1960
- Trapp, V.: Die ersten finf आह्निकs des महाभाष्यम् , Insdent sche ubersetzt and erklart Leipzig , 1935.
- A Dictionary of Sanskrit Grammar, Gaikwad Oriental Series, Oriental Institute, Baroda, 1977
- महाभाष्यदीपिका of भर्तृहरि, Ed.K.V. Limaye, BORI, Series No.8, Poona, 1970
- वाक्यपदीय of भर्तृहरि, Ed. K.V.Abhyankar & V.P.Limaye, Poona, 1965
- महाभाष्य of पतञ्जलि, with कैयट's प्रदीप and नागेश's उद्योत, Ed.B.B.Joshi, (Fifth Edn.), Bombay, 1951

● राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् (मानितविश्वविद्यालयः),
गंगानाथझापरिसरः, आजाद पार्क, इलाहाबाद-211002 (उ.प्र.)



Book Reviews / पुस्तक-समीक्षा

I

भाणसाहित्यकोषः

प्रहसन-भाण-व्यायोगादयो रूपकभेदाः सुप्रथिताः संस्कृतसाहित्ये, सुविपुलाश्चैषां भाण्डागारः, सुदीर्घश्चैषामितिहास इति विदन्त्येव सुधियः। सहस्राब्दीभ्य एते मञ्चेष्वभिनीयन्ते स्म, लोकमानसमाकर्षन्ति स्मृत्येवेतिहासेष्वेव पठ्यते, स्वरूपमेषामपरिचितमिव यतो हि पाठ्यक्रमेषु न पाठ्यन्ते भाणाः। ''चतुर्भाणी' सुप्रसिद्धाऽस्ति यस्यां वररुचेरुभयाभिसारिका (300 ई.पू.), शूद्रकस्य पद्मप्राभृतकम् (500 ई.), रैयामिलकस्य पादतोडितकम् (800ई.), ईश्वरदत्तस्य धूर्तविटसंवादश्चेति चत्वारो भाणाः सङ्कलिताः। सुप्रसिद्धमिदं पद्यमपि यद् भाण-साहित्यं कालिदाससाहित्यादपि रसनीयतरं घोषयति-

वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामिपकः शूद्रकश्च चत्वारः।
एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य।।

भाणसाहित्यं समस्तेऽपि भारते जनप्रियमभूत किन्तु मन्ये दक्षिणभारतेऽस्य लोकप्रियता वैपुल्यं च सविशेषमासीत्। भाणसाहित्यस्यास्य गवेषणमध्ययनं च कियन्महत्त्वमावहतीति सुस्पष्टमेव। महतः प्रमोदस्यायं विषयो यद् विपुलस्यास्य भाणसाहित्यस्य गवेषणां, समीक्षात्मकमध्ययनं च कृत्वा विविधशास्त्रविचक्षणैस्तिरुपतिस्थ-संस्कृतविश्वविद्यालये व्याकरणविभागाध्यक्षपदमलङ्कुर्वद्भिः, जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृत-विश्वविद्यालयकुलपतिचरः प्रो.के.वी.रामकृष्णमाचार्यमहाभागैरमूल्य एको ग्रन्थः सपद्येव प्रणीतोऽस्ति यः खलु उस्मानियाविश्वविद्यालये, हैदराबादस्थया संस्कृत-अकादम्या प्रकाशितः।

ग्रन्थेऽस्मिन् विविधेषु कालखण्डेषु प्रणीतानां प्रायो द्विशतसंख्याकानां भाणानां परिचयः प्रदत्तोऽस्ति यः पाठकानां चक्षूंष्युन्मीलयति भाणसाहित्यस्य वैपुल्यं द्रष्टुकामानाम्। अत्र 186 भाणानां समीक्षात्मकं विवेचनमपि प्रस्तुतमस्ति, प्रणेतॄणां समयस्य कृतित्वस्यापि च परिचायनं कृतमस्ति। लेखकेन नवस्वध्यायेषु पूर्वं प्राचीनानां भाणानां, तदनु चतुर्दशशतकमारभ्य विंशशतकपर्यन्तं विलिखितानां भाणानां प्रत्यध्यायं समीक्षणं परिचायनं सुललिते संस्कृते कृतमस्ति। प्रथमेऽध्याये नाट्यसाहित्ये भाणानां स्थानम्, तत्स्वरूपपरिचयः, रूपकभेदानामन्येषां, तौलनिकमध्ययनम् इत्यादयो विषया विवेचिताः। अन्तिमेऽध्यायद्वये भाणप्रयोगकर्तृनटानां वेशसंस्कृत्यादिपरिचयः, तत्तत्कालीनानां सामाजिकदुष्प्रवृत्तीनां तेषूद्घाटनं कथं कृतमित्यस्य विश्लेषणम् इति वस्तुद्वयं विवृतमस्ति। परिशिष्टेषु भाणसाहित्योद्गताः सूक्तयः, अनुक्रमणिकादयश्च मुद्रिताः।

सर्वमिदं विषयवस्तु कियतीं नूतनतां बिभर्ति, प्राचीनस्यास्य विपुलस्य भाणसाहित्यस्य समुचितं परिचायनमद्यत्वे कियन्महत्त्वमावहतीति संक्षिप्तमिदं विवरणं विलोक्यानुमातुमर्हन्ति पाठकाः। स्थाने स्थाने लेखकेन भाणस्थस्य साहित्यस्य, सुललितानां पद्यानां च यान्युद्धरणानि प्रस्तुतानि तानि पाठकानां हृदयमावर्जयन्ति, तेन चास्य साहित्यस्य रमणीयताऽपि स्फुटीभवति। सर्वथाऽस्पृष्टपूर्वस्यास्य वस्तुन उद्घाटनस्योपलक्ष्ये शतशः साधुवादानर्हन्ति

ग्रन्थप्रणेतृमहोदयाः प्रकाशकाश्च। संस्कृत-अकादमीग्रन्थमालायाः 82 तममिदं पुष्पमिति ज्ञात्वाऽपि प्रसीदेयुः पाठकाः।

भाणावाङ्मयचरितम् - ले. आचार्यः के.वी.रामकृष्णमाचार्यः; **प्रधान-सम्पादकः** श्रीनिवास वरखेडी (निदे.); **प्रका.** संस्कृत-अकादमी, उस्मानिया-विश्वविद्यालयः, हैदराबाद; पृ.सं. 400, मू. 250/

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

● सी-8, पृथ्वीराज रोड, जयपुर 302001 (राजस्थान)

II

नाट्यश्रुतिः

वागदेवी की कृपा-दृष्टि से विलसित डा. रामकिशोर मिश्र ने प्राचीन आख्यानों को तथा देश की स्वतन्त्रता का स्वप्न देखने वाले वीरों की गाथा को नाट्य- रूप में परिणत कर सुधी पाठकों के समक्ष प्राचीन काल से विद्यमान ज्वलन्त समस्याओं को रखने का प्रयास किया है। इन्होंने इस नाटक का प्रकाशन सम्वत् 2061 को गुरुपूर्णिमा के दिन किया। इस समीक्षा आलेख में उपरिवर्णित नाट्यकृति नाट्यश्रुतिः के कुछ प्रमुख 'एकांकियों' पर विचार रखने का प्रयास किया जायेगा।

अङ्गुष्ठदानम् नाटक में बताया गया है कि अस्पृश्यता की भावना के कारण एक योग्य व्यक्ति अपने जीवन के उस क्षण का आनन्द लेने में समर्थ नहीं होता है, जिसके लिये वह योग्य है। वस्तुतः यह नाटक मनुष्यता पर ही प्रश्न चिन्ह लगाता है। ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को एक जैसा बनाया है, फिर भी समाज के उच्चवर्ग के लोगों के द्वारा निम्नवर्ग का शोषण किया जाता है। भागवत में वर्णित ध्रुवचरित का सफल नाट्य-निरूपण करने में भी रामकिशोर जी का स्तुत्य प्रयास है। इस नाटक में एक ऐसे बालक की कथा चित्रित है जो पिता के होते हुए भी पिता के स्नेह से वञ्चित है। किन्तु अपनी विदुषी माता के ज्ञान के द्वारा वह परम पद की प्राप्ति करता है और संसार में अपने नाम को अमर कर देता है। प्रकारान्तर से यह नाटक हमें यह शिक्षा देता है कि ईश्वर की भक्ति संसार के सभी प्रकार के सुखों को प्रदान करने वाली है। ध्रुव ने भी अपने जीवन में जो कुछ पाया वह ईश्वर की भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया है। ध्रुव का यह चरित हमें शिक्षा देता है कि भगवान् का नाम-स्मरण ही वह कल्पवृक्ष है जो जीवन के सभी सुखों को प्रदान करता है- ***सुनीति-*** *स सर्वत्र प्राप्तव्यः। यत्र प्रेम्णा तमाकारयिष्यसि, तत्रैव मिलिष्यति सः।*

गालवमाधवीयम् नाटक समाज के ऐसे रूप का प्रतिबिम्ब है जिसमें नारी मात्र भोग्या समझी जाती है। उसका अस्तित्व मनुष्य के रूप में न होकर वस्तु के रूप में समझा जाता है। उसकी मनःस्थिति को समझने का प्रयास ही नहीं किया जाता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति हो जाने पर कहा जाता है कि अब तुम अपना जीवन प्रारम्भ करो। *ययाति - पुत्रि माधवि ! त्वया तस्य ब्रह्मचारिणो गालवस्य गुरुदक्षिणादानकार्ये या सहायता कृता, तया त्वं लौकिकं ज्ञानमपि प्राप्तवत्यसि। अतोऽहं ते स्वयंवरं कर्तुं कामये, त्वं गृहस्थजीवनानन्दमपि लभेथाः। एतत्कृते काऽनुमतिस्ते ?* यहाँ एक पिता ने संसार में दानशालियों में अपना नाम अमर करने के लिए अपनी पुत्री को बिना विवाह के किसी पुरुष के साथ भेज दिया और उस व्यक्ति को यह समझाया कि जो उसके रूप को खरीदने की सामर्थ्य रखे उसे देकर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है।

गुरु-शिष्य-परम्परा की कैसी विचित्रता है कि पहले तो गुरु-दक्षिणा लेना नहीं चाहता, परन्तु शिष्य के आग्रह करने पर ऐसी इच्छा रखता है कि वह उसे प्राप्त करने के लिए उचित-अनुचित पर विचार करने के विषय में नहीं सोचता। वस्तुतः यहाँ पर यही विषम परिस्थिति उत्पन्न है। गालव जो समाज का एक

बुद्धिजीवी नागरिक है, अपने उद्देश्य की पूर्ति में उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि वह एक नारी का शोषण कर रहा है। उसकी अन्तरात्मा को चोट पहुँचाकर अपने जीवन की उपलब्धि चाहता है। यदि समाज का शिक्षित-वर्ग ही इस विषय में विचार नहीं करेगा तो कौन करेगा ? शायद यही प्रश्न नाटककार के मनमें उपस्थित था, जो उन्होंने इस नाटक के माध्यम से सुधी पाठकों के समक्ष रखा है।

अभिशप्त-दशरथम् नाटक शकुन-विचार की प्रधानता को व्यक्त करता है। दशरथ को जो शाप मिला शायद वह न मिलता यदि वह मार्जार के द्वारा रास्ता काट दिये जाने पर आगे न बढते। परन्तु शायद यह सम्भव नहीं था, क्योंकि विधि वलवान् होता है। व्यक्ति का प्रारब्ध उसे उस जगह खींच कर ले जाता है –

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशाऽवशात्मा।।

स जयति विधिर्नित्यं यो नर्तयति मानवान्।
तेन प्राज्ञः सुमन्त्रेऽपि क्रियते दुर्बुद्धिरिव।।

सारथिः –*महाराज ! मार्गमध्ये मार्जारापतनमपशकुनं भवति। तेनाग्रे न गत्वा राजधानीमेव प्रतिचलतु भवान्।*

दशरथः – *तमेवाद्य द्रक्ष्यामि। त्वमादेशं पालय। परिणाममहमीक्षिष्ये।*

नलिकाशिशुः – *सम्भवम्।*

किसी भी समस्या से निकलने के लिए उस पर विचार-विमर्श करना चाहिए, न कि ऐसा कदम उठाना चाहिए जो मानवता की दृष्टि में अनुचित हो। इस नाटक का नायक चन्द्र सन्तान-प्राप्ति के लिए तीन विवाह करता है। फिर भी वह उससे वंचित रहता है, लेकिन जब इसके विषय में अपने डाक्टर मित्र से बात करता है तो उसे अपनी समस्या दूर होती नजर आती है। इसी उद्देश्य को लेकर लिखा गया एक-अङ्क वाला नाटक अपने उद्देश्य में तो सफल है, परन्तु नाट्यशास्त्र की दृष्टि से यह एक एकांकी ही प्रतीत होता है।

वधूहत्या – एकाङ्की नाटिका वधूहत्या एक नाटिका प्रतीत न होकर संवाद-मात्र ही प्रतीत होता है। इस संवाद का मुख्य केन्द्रबिन्दु सामाजिक कुरीतियां ही हैं। जैसे- भ्रूण-हत्या, दहेज प्रथा आदि। अपनी कामपिपासा को शान्त करने के लिए सारे रिश्तों को भुलाकर अमानवीय कार्य करना, इस विषय पर भार्गव कौशिक तथा सारस्वत चर्चा करते हैं और अन्त में कहते हैं – *सांसारिक-प्रपञ्चमिदम्।* इसका एकमात्र दण्ड मृत्यु-दण्ड होना चाहिए जिससे समाज का यह रोग दूर हो सके।

पुत्रकामिनी नाटिका भी पूर्णतया नाटिका न होकर विचार-मन्थन ही है। यहाँ एक ऐसी नारी की मनोव्यथा को व्यक्त किया गया है जो अपने को पूर्ण करना चाहती है। एक स्त्री का मातृत्व ही उसे सम्पूर्ण स्त्रीत्व की प्राप्ति कराता है और वह अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने पति को अपने अनुकूल बनाती है और इसके लिए वह अनेक तर्क देती है....*सा स्त्री स्वधवे गते परपुरुषमभिगच्छति यस्या विवेको नाम पुत्रो न भवति।।*

सहसा विदधीत न क्रियाम् भारवि के जीवनवृत्त से सम्बन्धित एक किंवदन्ती है जिसे मिश्र जी ने एकांक-नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। साथ ही पाठकों के समक्ष यह विचार भी प्रस्तुत किया है कि जीवन में कोई भी निर्णय अचानक नहीं लेना चाहिए इससे हम उन विपत्तियों से बच जाते हैं जिनके परिणाम भविष्य में बहुत गंभीर होने वाले होते हैं।

तपसः फलम् - नाटक रामचरित-मानस की इस पंक्ति को चरितार्थ करता है ...*तप बल रचै प्रपंच विधाता ......।* तप ही वह आधार है जिसके द्वारा वह अपने मनोवांछित फल की प्राप्ति करता है। इसमें भगवती जो एक सामान्य शक्ल की स्त्री होती है वह अपने पति की प्रिय नहीं होती, लेकिन वह उसके साथ वन में रह कर तपस्या के द्वारा उसे अपने अनुकूल बना लेती है।

चण्डप्रतिज्ञानम् नाटक भीष्म-प्रतिज्ञा का अनुकरण है। भीष्म तो अपने पिता के विवाह की अदम्य इच्छा को पूरा करने के लिए ऐसा करते हैं, परन्तु यहां चण्ड परिहास रूप में कहे गए वचन को सत्य करने के लिए और अपने आप को श्रेष्ठ बनाने के लिए एक पचास वर्ष के व्यक्ति के साथ बारह वर्ष की कन्या का विवाह करवा देता है। यह नाटक समाज की उस पृष्ठभूमि को व्यक्त करता है जहाँ नारी की स्थिति शोचनीय है। विवाह जैसे पवित्र रिश्ते में भी स्त्री की महत्ता का कोई औचित्य नहीं था।

अपत्यसमता नाटक के माध्यम से पाठक के मन में यह विचार दृढ करने का प्रयास किया गया है। पुत्र तथा पुत्री में भेद करने से व्यक्ंति जीवन में दुःखी ही रहता है। जीवन के वास्तविक आनन्द से वंचित ही रहता है।

कचदेवयानीयम्, ययाति-देवयानी-शर्मिष्ठीयम्, शुक्रशापम् नाम से वृहत् पौराणिक कथा का नाट्य-रूप में सफल मंचन किया गया है। कच-देवयानीयम् में कच के उदात्त रूप का सफल चित्रण है। उसमें आदर्श छात्र के सभी गुणों का समावेश है। वह देवयानी के द्वारा अनुचित कार्य के लिए प्रेरित करने पर भी किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। ययाति-देवयानी-शर्मिष्ठीयम् में देवयानी के रूप में ऐसी नारी का चित्रण है जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरी स्त्री के जीवन को खिलौना मात्र बना देती है और बाद में ययाति के द्वारा शर्मिष्ठा को अपना लेने पर स्वयं उसका जीवन एकाकी हो जाता है और वह अपना शेष जीवन अपने पिता के आश्रम में बिताने के लिए वापस आ जाती है। शुक्र-शापम् में पुनः देवयानी को वापस लाने के प्रयास में शुक्र उसे वृद्ध हो जाने का शाप दे देते हैं। उपाय रूप में ययाति को बताते हैं कि यदि कोई तुम्हें अपना यौवन देकर वृद्धत्व ले लें तो तुम पुनः युवा हो जाओगे। वह वृद्धत्व से छुटकारा पाने के लिए देवयानी के पुत्रों को कहता है परन्तु वह इनकार कर देते हैं। वह उन्हें अपने राज्य से बाहर निकाल देता है। फिर शर्मिष्ठा का पुत्र पुरु अपना यौवन देता है। जिसे प्राप्त करके ययाति अति प्रसन्न होता है और वह शर्मिष्ठा से प्रेम करने को कहता है। शर्मिष्ठा कहती है .. *यावत् कालमनेन मम पुत्रयौवनेन युवाऽसि तावत् कालमहं तवाङ्कशायिनी न भविष्यामि।* ययाति शर्मिष्ठा की बात समझकर पुरु को पुनः उसका यौवन दे देता है। शर्मिष्ठा वृद्ध ययाति की सेवा में संलग्न हो जाती है। इस नाटक में नारी की धर्मपरायणता ही ययाति को अनर्थ से बचा लेती है और उसका पितृत्व सुरक्षित रह पाता है।

पत्नीत्यागम्- कालिदास से सम्बन्धित किंवदन्ती का नाटक के रूप में सफल चित्रण है। यह नाटक प्रत्येक सफल पुरुष के पीछे एक स्त्री का हाथ होता है- इस उक्ति को चरितार्थ करता है। कालिदास को कालिदास बनाने वाली विद्योतमा ही थी, विद्योतमा की प्रतारणा ने ही कालिदास को नये जीवन की ओर उन्मुख किया। पत्नी-त्यागम् नाटक पाठकों के लिए प्रेरणा-स्रोत्र है।

स्वातन्त्र्यवीर-स्मृतिः में उन शहीदों का स्मरण है जिनके कारण हम सभी स्वतन्त्र वायु में श्वास ले रहे हैं। ऐसा करके नाटककार ने कृतज्ञता व्यक्त की है। उन प्रातःस्मरणीय देशभक्तों के नाम इस प्रकार हैं - इम्फाल नगर के श्रीटिकेन्द्रजि थांगाल जिन्हें 13.08.1891 को मृत्युदण्ड दिया गया, श्री अवधबिहारी जिन्हें 5.10.1914 को, श्री काशीराम जिन्हें 27.03.1915 को, श्री विष्णु गणेश पिंगल जिन्हें 16.11.1915 को, श्री करतार सिंह सराव स्मृतिः जिन्हें 16.11.1915 को, श्री गोपी मोहन सहाय जिन्हें 1.04.1924 को, श्री राम प्रसाद

बिस्मिल जिन्हें 11.08.1927 को, श्री प्रमोद रंजन चतुर्धुरीण जिन्हें 28.09.1927 को, श्री अनन्तहरिमित्र जिन्हें 28.09.1927 को, श्री रोशण सिंह जिन्हें 19.12.1927 को, श्री मुण्डा जिन्हें 09.06.1931 को तूरिया ग्राम मध्यप्रदेश में गोली मारकर हत्या की गयी। उसी प्रकार श्री कृष्ण शारद जगन्नाथ शिन्दे मलप्पाधानशेट्टि जिन्हें: 12.01.1931 को, आजाद चन्द्रशेखर जिन्हें 27.02.1931 को, श्री भगतसिंह जिन्हें 23.03.1931 को, श्री हरि कृष्ण जिन्हें 09.06.1931 को, श्री सूर्यसेन तारकेश्वर जिन्हें 12.01.1934 को, श्री बैकुण्ठ नाथ शुक्ल जिन्हें 14.05.1934 को, श्री राम कृष्ण व्रज किशोर निर्मल जीवन जिन्हें 25.10.1934 को, श्री भवानी भट्टाचार्य जिन्हें 03.02.1935 को, श्री उधम सिंह जिन्हें 21.07.1940 को, अकलि देवी जिन्हें 15.09.1942 को, श्रीजानकी, कृष्णा, पारी, धतूरी, श्री कनकलता रत्नप्रभा तथा योगेश्वरी जिन्हें 20.09.1942 को मृत्युदण्ड दिया गया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जिन्हें 30.01.1948 को अपना सर्वस्व न्योछावर करना पडा। इस प्रकार यह नाटककार की अनूठी कृति है जिसका समकालिक संस्कृत नाट्यसाहित्य को एक विशेष अवदान है।

नाट्यश्रुतिः - लेखक : डा राम किशोर मिश्र; **मुद्रक तथा वितरक :** निर्माणप्रकाशनम्, 1/3476 बी, अशोक मार्ग, रामनगर विस्तार, शाहदरा, दिल्ली 32; **मूल्यम् : 200.00 ₹; प्रकाशनतिथिः** गुरुपूर्णिमा, 2061

ज्योति

● 70/664, अहमदगंज, नखासकोना, इलाहाबाद 211003 (उ.प्र.)

III

छिन्नमस्ता

मिट्टी की सुगन्ध और ग्रामीण परिपार्श्व से संवलित तथा यथार्थ के मुख्य स्वरों के साथ कल्पना की थाप पर सुसज्जित कथासंग्रह 'छिन्नमस्ता' की कहानियों में प्रो.मिश्र ने अपने गाँव-गली, खेत-चौबारे, दादी-बुआ, शैशव-बचपन के चित्रों को गाँव की दृश्यावलियों के साथ कुछ इस तरह प्रदर्शित किया है कि कथापात्रों की मूलसंवेदनाएँ पाठक को बरबस आकर्षित करती हैं। प्रायः सभी कथाओं में कथाकार की दृष्टि मानवता के उन उत्कर्षशील बिन्दुओं के प्रति रही है जिनसे कहीं न कहीं मानव मात्र के अभ्युदय के संस्पर्श प्राप्त हो सकें।

उच्चमानवीय-मूल्यों के आदर्श उपस्थापित करती कथा 'स आसीन्मम तातपादः' बिना किसी कौटुम्बिक सम्बन्ध के समस्त अन्तिम संस्कार, श्राद्धकर्म आदि करने वाले कथानायक महेश्वर अन्त्यजोत्पन्न आदर्श मित्र श्रीपाल और निस्पृह अन्धाभिक्षु पुरुषोत्तम पाण्डेय की पारस्परिक जीवनगाथा को प्रस्तुत करती है।

पढ़ाई छोड़कर जीविका के लिये रिक्सा चलाने वाला श्रीपाल मातृपितृविहीन अपने सहपाठी मेधावी छात्र महेश्वर को अपने साथ प्रयाग लाकर उसका विश्वविद्यालय में प्रवेश कराता है और निवासादि की प्रारम्भिक व्यवस्था भी करता है। बाद में छात्रवृत्ति मिलने पर महेश्वर छात्रावास में रहने लगता है। रास्ते में वटवृक्ष के नीचे 'रामराम' जपने वाले एक अन्धभिक्षु से महेश्वर की घनिष्ठता और श्रद्धाभक्ति बढ़ने के कारण परस्पर वे एक दूसरे के अतीत से परिचित होते हैं और दुःखदर्द के साझीदार बनते हैं। एक ओर पिता के नाम से भी वञ्चित सत्यकाम के समान केवल माता पर आश्रित महेश्वर है, जिसकी माँ का देहान्त 12 वर्ष की आयु में ही हो चुका था तो दूसरी ओर पुरुषोत्तम है जिसके पड़ोसियों ने ही मात्र स्वार्थवृत्ति के कारण

ही उसके पत्नी-पुत्रों को मार दिया और उसकी आँखों में तेजाब फेंककर अन्धा बना दिया। इस करुण कहानी में दो दु:खी जनों ने न केवल एक-दूसरे के दु:ख को सुन-समझकर बाँटा अपितु सम्बन्धों का निर्वहण करते हुये एक-दूसरे को मृत्यूपरान्त भी कौटुम्बिक सुख की अनुभूति कराई। महेश्वर ने 'तातपाद' की अन्त्येष्टि भी की और अपने घर का नाम 'पुरुषोत्तम-मन्दिर' की स्थापना की योजना भी बनाई।

कथा के सभी स्वाभाविक दृश्य और सार्थक संवाद कथा की अर्थवत्ता और महत्ता की वृद्धि करते हैं। स्वयं को पारिवारिक हितों के लिये समर्पित करने वाले दो भिन्न-भिन्न चरित्रों की कथा 'प्रीतिदर्पण:' में पारिवारिक स्वार्थपरता और विशुद्ध प्रेम की सुखद परिणति है।

उच्चशिक्षाप्राप्त महिला अधिकारी वत्सला अपने पारिवारिक दायित्वों को समर्पित रही किन्तु परिवार को उसकी कोई चिन्ता नहीं। उसका सेवक सामान्य सरकारी नौकर तैंतीस वर्षीय बाबूराम ही उसका हितैषी, सद्बन्धु, सखा, संरक्षक आदि भूमिकाओं को सहर्ष, सप्रेम निभाते हुये सोचता है कि मैडम ने विवाह क्यों नहीं किया ? वत्सला भी इसी प्रकार विचार करते हुये अन्ततः बाबूराम को न केवल साथ खाने व चाय पीने के लिये कहती है अपितु जीवन-साथी भी बना लेती है। बाबूराम के लिये एक संगणक-केन्द्र भी बना देती है। दोनों के सुखी दाम्पत्य में दो पुत्र भी है। कथा में पारिवारिक सुखों को ही सर्वोपरि और जीवन की सार्थकता का हेतु बताया गया है।

मनोरंजन के आधुनिक साधनों के अभाव में ग्रामीण परिवेश में घरों के अन्दर ही सामान्य दिनचर्या में एक-दूसरे के साथ हँसी-ठिठोली करती दु:ख-सुख बाँटती, ज्ञान-अनुभव का सहज विनिमय करती महिलाओं के वृत्तचित्र स्वरूप कथा 'मध्यमाज्जुका' में मँझली आजी के सर्वगुणसम्पन्न चरित्र को साकार कर दिया गया है। यहाँ कथाकार की लेखनी के चमत्कार-स्वरूप एक ऐसी कथा का जन्म होता है जिसमें मँझली आजी के माध्यम से गाँव की मिट्टी से जुड़े पाठकों को किसी न किसी रूप में अपने ही परिपार्श्व का दर्शन होता है। सुशिक्षित विद्वान् उच्च ब्राह्मणकुल में जन्मी-पली बढ़ी मँझली आजी ससुराल में सबके मानसम्मान का केन्द्र बनती है। उनमें एक विशेष बात है उनका सदाशयता और कथा-कथन का अद्भुत कौशल उनकी स्मृतियों में बसे अनेक संस्मरण उनकी जुबाँ से सुन-सुनकर सभी महिलायें अपने-आपको धन्य महसूस करती हैं। इन संस्मरणों में कही उनके पति रमापति का बल पौरुष है तो कहीं दियासलाई के जन्म व प्रचार के पहले सुबह-सुबह आग माँगने की प्रथा है। कहीं पचासों साल पहले समाज में स्त्रियों की कमी और कामान्ध बलजोर की कथा है तो कहीं दरवाजे के बाहर ही कुआँ का निर्माण होने की वार्ता और खेती-बाड़ी का हाल-चाल है। इस प्रकार खटरपटर और खाटकाण्ड आदि सुनाती मँझली दादी सभी के मनोरञ्जन का केन्द्र हैं। प्रवाहपूर्ण वर्णनशैली, रोचकसंवादों और विविध पात्र-कुपात्र से संयुक्त परस्पर असम्बद्ध घटनाओं से सुसज्जित यह कहानी अपनी रोचकता, सम्प्रेषणीयता और सार्थकता बनाये रखने में समर्थ है।

देवी छिन्नमस्ता की अन्तर्ध्वनि और अन्वर्थता से सर्वत्र सुवासित कथा 'छिन्नमस्ता' अनेक घटनाओं से सुसंगठित होती हुई कथानायिका के संघर्ष का सम्यक् निरूपण करती है। कुलपराम्परा के अनुपालन-क्रम में प्रत्येक नवरात्रि में अपने पण्डा रामसुन्दर के घर रहते हुये प्रतिदिन भगवती विन्ध्याचल देवी के दर्शन करने वाला विश्वेश्वर एकदिन मार्ग में किसी साँड के गम्भीर आघात द्वारा मूर्च्छित हो जाता है। रामसुन्दर अपने साले रामदत्त की सहायता से उसे मिर्जापुर चिकित्सालय में भर्ती कराता है। अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक उसकी सेवा करने वाली रामदत्त की पत्नी, रात में अपने अतीत की स्मृतियों में खो जाती है और पाठक के सामने विश्वेश्वर के साथ उसकी आत्मीयता का रहस्य परत-दर-परत खुलता जाता है। विश्वेश्वर के कुल में ही

व्याही और दुर्भाग्यवश नवयौवना विधवा का दुर्वह जीवन-यापन करती एक दिन सर्पदंश होने पर सर्पोपचार करने वाले अन्त्यज कालूराम द्वारा स्वस्थ होने पर भी कभी-कभी उसे उपचार के लिये कालूराम को बुलाना पड़ता है। कालूराम के अस्वस्थ होने पर एकबार उसके स्वयं जाने पर गाँव में कुछ विद्वेषी जन उसके साथ अनुचित सम्बन्ध को दोष लगाते हैं। परिवार को कलंक से बचाने के लिये तीर्थयात्रा में अवसर प्राप्त होने पर वह कहीं अन्यत्र चली जाती है। लौटने पर तीर्थ-पुरोहित देवदत्त उसकी करुणगाथा सुनकर आदर्श उपस्थित करते हुये उसे बहू के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। आज पुनः विश्वेश्वर के माध्यम से उसकी अपने पूर्व-परिवार से भेंट हो जाती है। उसके देवर-देवरानी उसे पहचानते हुये महामाया मृडानी के छिन्नमस्ता स्वरूप के समान महिमामण्डित करते हैं।

विश्वेश्वर भी उसे अपनी माँ का स्थान प्रदान कर उसके त्याग और संघर्ष को सम्मानित करते हैं। कथा में प्रेम, समर्पण, त्याग के आदर्श को प्रस्तुत करते हुये भारतीय पुरातनी संस्कृति के उदात्त स्वरूप का नवीन शैली में उद्घाटित किया गया है। यही सभी संवाद, नाटकीय कौशल से भरपूर और कथा के आत्मतत्त्व को समुद्भाषित करने में समर्थ है। कथा का संघटनात्मक कौशल कथा में कौतूहल, रोचकता का संचार करते हैं।

कथा 'प्रायश्चित्तम्' में मानव का पालतू-पशु के साथ सांवेगिक संबन्धों को निरूपित किया गया है। बलदेव सिंह की एक पालतू भैंस और उसके पुत्र और पत्नी के परस्पर सम्बन्धों को संवेदनात्मक स्तर पर रूपायित करते हुये विविध संयोगों दुर्योगों की प्रस्तुति द्वारा व्यावहारिक स्वरूप देने में कथाकार ने सफलता पाई है। रास्ते में पागल कुत्ते के पीछे दौड़ते कई कुत्तों से घबराई भैंस के भागने पर उसकी जंजीर का चुल्ला हाथ में पहनने वाला रघु दूर तक घसिटने से अत्यधिक घायल हो जाता है। पागल कुत्ते से रघु को संयोगवश बचाने में सफल भैंस स्वयं कुत्ते के काटने से शीघ्र ही मर कर मानो रघु के घायल होने का प्रायश्चित्त करती है। साथ ही रघु की दुर्दशा का कारण भैंस को मानने के कारण प्रारम्भ में उसके प्रति घृणापूर्वक तिरस्कार का व्यवहार करने वाली बलदेव की पत्नी सम्मानपूर्वक दफनाई गई भैंस को उस स्थान पर प्रत्येक सन्ध्यासमय पर दीपक जलाकर उसके प्रति मानो अपना प्रायश्चित्त अभिव्यक्त करती है।

दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासी एक नौकर और उसकी मालकिन के परस्पर माँ-बेटे के समान विश्वास, प्रेम, सेवा, समर्पण का रूपायन करती कथा 'मातुर्निमित्तम्' में एक ओर निःस्वार्थ-भाव से कर्त्तव्यपालन में तल्लीन मानवता का प्रतिरूप स्वरूप कालीदीन है तो दूसरी ओर किसी की सच्ची सेवा व सहानुभूति के प्रति समर्पित ममता की प्रतिभूति विधवा और धनाढ्य महिला गुरुमीत कौर है। दोनों के मध्य कोई कौटुम्बिक रिश्ता नहीं होने पर भी दोनों एक दूसरे के लिये अपने सगे से भी अधिक सगे हो जाते हैं।

विविध नाटकीय संयोगों और दुर्भाग्य के ताने-बाने से सुसंवलित कथा 'वाडवाग्नि' अतिशय उदारहृदया मालकिन की सदाशयता से एक निर्दोष नौकर की प्रतिशोधाग्नि के पूर्णतया शान्त होने की गाथा प्रस्तुत करती है। यहाँ सदाचरण, स्नेह, सहनशीलता, धैर्य आदि मानवीय गुणों के उन्मेष का महत्त्व सुन्दर वस्तु-विन्यास द्वारा प्रस्तुत किया गया है। भारतीय संस्कृति में अपनी समस्त कामनाओं-आकांक्षाओं को मारकर-मिटाकर प्रतिपग अपने सतीत्व की रक्षा में संनद्ध, सामाजिक मर्यादा का स्पन्दनहीन-श्रृंखला में आबद्ध, आजीवन मौनभाव से परिस्थितियों के साथ सहर्ष समझौतों से प्रतिबद्ध एक विधवा के जीवन से सभी भारतीय पाठक परिचित ही है। ऐसे ही आजीवन अपने मायके में निवास करनेवाली, अपने भाई-भतीजों के हितों और सेवा के प्रति पूर्णमन से निरत मुक्ता बुआ के जीवन की निर्मल-विमल झाँकी प्रस्तुत करती कथा 'पितृष्वसा' में लेखक ने अपने कुटुम्ब की ही एक विधवा मोती बुआ का मार्मिक चित्र खींचा है। सुसंस्कारों के अभाव में

स्वच्छन्द कामाचार और अमर्यादित व्यवहार से उपजी परिस्थितियों के मध्य पश्चात्ताप संतप्त मातृहृदय की एक झलक कथा 'कन्यादानम्' में दामोदर, हिरना और कलावती नामक पात्रों द्वारा समाजिक पापाचार में निमग्न जीवनचर्या का चित्रांकन है।

इन कथाओं का प्रथम वैशिष्ट्य है- इनमें चित्रित पात्रों की सर्वत्र सहज-सुलभता जिन्हें साहित्यिक गरिमा के साथ महिमामण्डित किया गया है। इन कथाओं में कहीं सगे सम्बन्धियों से भी अधिक अपने है पराये (स आसीन्मम तातपाद: और मातुर्निमित्तम्) तो कहीं सगे सम्बन्धियों-मंझली दादी और मोती बुआ के देदीप्यमान सुसंस्कृत तथा संस्मरणात्मक चित्र अपने पूर्ण कौशल के साथ उद्भासित हो रहे हैं (मध्यमाज्जुका, और पितृष्वसा)। पारिवारिक सदस्यों की स्वार्थपरता से क्षुब्ध और किसी नितान्त पराये व्यक्ति के सहज सेवाभाव व समर्पण से जीवन में परिपूर्णता की ओर अग्रसर पात्रों की कथा 'प्रीतिदर्पण: हो' अथवा सर्वत्र परस्पर प्रेम व समर्पण के मध्य दुर्भाग्य और विद्वेष के कारण एक विधवा के अनथक संघर्ष द्वारा उसे पुन: पारिवारिक सुख और छिन्नमस्ता मृडानी महामाया के पद की प्राप्ति की कथा 'छिन्नमस्ता' हो-दोनों में ही मानवीय सद्गुणों की विजय की सुखान्त परिणति है। कहीं प्रेम, सौहार्द, समर्पण द्वारा प्रतिशोधाग्नि के शान्त होने का दृश्यांकन है (कथा-वाडवाग्नि:) तो कहीं एक पशु और मानव-मन की संवेदनाओं का परस्पर स्वाभाविक उन्मेष चित्रांकित है (कथा-प्रायश्चित्तम्)। इस प्रकार सभी कथाओं में सामान्य से सर्वसुलभ विषय कथाकार की कलात्मक लेखनी के संस्पर्श से उद्दीप्त होकर साहित्य-जगत् की निधि-स्वरूप हो गये है। संग्रह के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत यहाँ संकलित सुभाषितों को कथाक्र मानुसार सूचीबद्ध किया गया है। इन सुभाषितों की संख्या 35 है। प्रत्येक कथा के अन्त में कथा का रचनाकाल भी दिया गया है।

छिन्नमस्ता - **कृतिकार** - अभिराज राजेन्द्रमिश्र; **प्रकाशक**- वैजयन्त प्रकाशन, 8 बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद, 211006; **प्रथम संस्करण**- जन. 2010; **मूल्य :** 300 रुपये।

- अर्चना तिवारी

● ग्रा.पो. कोरसम, फतेहपुर (उ.प्र.)

IV
पुनर्नवा

मानव-जीवन और आधुनिक-समाज के विविध पक्षों को कथापात्रों के चरित्र, चिन्तन, व्यवहार तथा आचरण द्वारा अभिव्यक्त करती प्रो.मिश्र कृत 'पुनर्नवा' की ग्यारह कहानियाँ यथार्थ चित्रांकन के साथ-साथ किसी न किसी समाधान या सुखान्त परिणति के साथ पाठकों को प्रभावित करने में समर्थ हैं। इन कथाओं की वस्तु तल (विषय) में नवीनता है किन्तु वस्तु-विन्यास आजमाया हुआ है। उनके संवाद भी यहाँ चिर-परिचित अन्दाज में हैं। परिवेश और पात्रों की प्रस्तुति वर्तमान सामाजिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में है किन्तु उनका पर्यवसान भारतीयता के अनुकूल आदर्श व सुखान्त समाधान में हुआ है। नारी को केन्द्र में रखकर रची गई इन कथाओं में भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही उनके जीवन को सही दिशा देना इन कथाओं का मूल उद्देश्य प्रतीत होता है। यहाँ नारी के पारम्परिक स्वरूप उसके लिये अनिवार्य गार्हस्थ्यधर्म, यथार्थ संघर्ष के मध्य शास्त्रमर्यादानुकूल समाधान के मूल में उनकी लोकमंगलपरक आशावादी दृष्टि ही है। भाषाशैली शास्त्रानुकूल पुरातनी है और संघटनात्मक प्रस्तुतीकरण भी पारम्परिक पुट है। विषयानुसार भाषा कहीं समासबहुल तो कहीं अल्पसमासयुक्त, कहीं समासरहित तो कहीं सालंकार और व्यावहारिक होने पर भी पाणिनीय व्याकरण-शास्त्र की अनुगामिनी है। संस्कृत-गद्यकाव्य के शास्त्रीय स्वरूप को प्रचलित मुहावरों

लोकोक्तियों से सजाकर नवीन अन्दाज में प्रस्तुत किया गया है।

संग्रह की प्रथम कथा 'संकल्प:', 'मोगी' (दूर्वा, नवम्बर 1993) नामक कथा की ही संशोधित पुनर्प्रस्तुति है। कथा 'सपत्नी' में पति-सुख के लिये जीने और मरने वाली बुधनी पुत्रप्राप्ति के लिये अपने पति सुखराम का पुनर्विवाह उसकी सहकर्मिणी चम्पा से करवाती है। यहाँ परस्पर समर्पण और प्रेम से अन्ततः चम्पा में आये अनुकूल परिवर्तन और उसके बीमार होने के बाद बुधनी के ही माँ बनने के बाद तत्काल देहावसान की स्थिति कथा को सुखावसान देती है।

सभी परिजनों के प्लेग से काल-कलवित हो जाने पर अकेली और सुन्दरी श्यामा के सामाजिक-पारिवारिक संघर्ष को दिखाने वाली कथा 'मरुन्यग्रोध:' का प्रारम्भ यथार्थ के प्रकाश में हुआ है और कथान्त कथाकार के आजमाये हुये कथाविन्यास के अनुरूप सुखान्त परिणति में। प्रवञ्चनावल से पड़ोसियों द्वारा सारी भूमि छीन लिये जाने पर श्यामा के सामने अपने शील और सम्पत्ति की रक्षा का प्रथम प्रश्न उपस्थित है। विपत्ति में सहारा बनने वाले की प्रथम दृष्टि उसके सौन्दर्य पर ही जाती है। कथान्त में सभी सामाजिक आडम्बरों की अवहेलना करने वाला दयालु नामक एकाकी युवक गर्भिणी श्यामा के साथ विवाह करके उसे कुमार्ग से बचाते हुये गृहस्थ में प्रतिष्ठित करता है और उसके गर्भस्थ शिशु को पिता के नाम का आश्रय प्रदान करते हुये उसे अवैधता के दुर्गम कलंक से बचाता है। कथा में 'मरुन्यग्रोध:' प्रतीक के माध्यम से कथाकार ने रेगिस्तान में उसे बरगद के पेड़ के समान श्यामा के जीवन में शीतल छाया बनने वाले दयालु की समाजिक दृष्टि में अलग-थलग हुई स्थिति को सहज ही अभिव्यक्त कर दिया है।

एक अनाथ ब्राह्मण-कन्या कामिनी का पालन-पोषण करने वाली गणिका हुस्नाबाई की वत्सलता, ममता, शरणागतवात्सल्य का वर्णन करती कथा 'नर्तकी' में प्रत्येक पात्र मानवीय गुणों का परस्पर उत्कर्ष परिलक्षित होता है। कथा में नर्तकी फमरजहाँ (जो ब्राह्मण कन्या कामिनी है) के अनिन्द्य सौन्दर्य, नृत्यकौशल और शिष्ट व्यवहार तथा नायक 'मैं' की गुणग्राहकता, उदारता आदि का चित्रांकन है और उनके विवाह के वर्णन द्वारा सुखान्त परिणति की कुशल प्रस्तुति है।

पौर्वात्य और पाश्चात्य दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के समन्वय पर आधृत कथा 'वाग्दत्ता' में भारतीय धर्म, संस्कृति एवं परम्परा के नैष्ठिक समर्थक आचार्य उमाचरण शुक्ल अमेरिका-प्रवासी अपने पुत्र गोविन्द की प्रेयसी जेनी को अन्ततः अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ भारतीयसंस्कृति में रंगी-डूबी जेनी के प्रेम और समर्पण के स्वर और पुत्रहित के कारण आचार्य में आये परिवर्तन के स्वर प्रकारान्तर से अनुगूञ्जित होते हुये कथागत सौन्दर्य में वृद्धि कर रहे हैं।

एक भावप्रवण किशोरी की भाव-विह्वल मार्मिक न्यायप्रक्रिया को शब्दों में उतारती कथा 'न्यायमहं करिष्ये' में अपनी समवयस्का बुआ भवानी के प्रति संवेदनशील गुदिता, बुआ के प्रति रुक्ष और अमर्षशील अपनी माँ का प्रतिरोध अन्ततः अपनी जान गवाँ कर करती है। मुदिता की माँ भवानी के मंगेतर के साथ उसकी जगह अपनी बेटी की शादी करना चाहती हैं। मुदिता के घोर विरोध के बावजूद उसकी माँ बेटी के साथ न्याय करने का उद्घोष करते हुये मातृ-पितृ हीन अपनी ननद के साथ अतिशय अन्याय को उन्मुख हो जाती है। किन्तु उसी रात 'अब न्याय तुम क्या करोगी, न्याय मैं ही करूँगी' इस प्रकार पत्र लिखने के बाद विष पीकर स्वयं को ही समाप्त कर लेती है।

ऐतिहासिक चरित्र ध्रुवस्वामिनी से प्रेरित कथा में केन्द्रीय चरित्र ध्रुवस्वामिनी को किञ्चित् परिवर्तित ताने-बाने के साथ प्रस्तुत करती कथा 'ध्रुवस्वामिनी' में परिवार के सर्वविध कल्याण और समाजिक प्रतिष्ठा के लिये देवर-भाभी के अवैध-प्रणय सम्बन्ध को भी सहन करने वाले परिवार का चित्रण है। रेवती और उसके

देवर प्रबोध के बीच प्रचलित यह सम्बन्ध अन्ततः रेवती की पुत्री सुनन्दा के भावप्रवण हस्तक्षेप और पति सुबोध की माँ के उपदेश से समाप्त हो जाता हैं और रेवती में कर्त्तव्यबोधान्तर जागृत हुई पतिनिष्ठा से कथा को आदर्श सुखान्त की प्राप्ति होती है।

सन्तानहीन दत्पति के प्रति अपने-अपने स्वार्थ-सिद्धि में आसक्त भाई-भाभियों की कलुपित दृष्टि और नियति के सत्न्याय की कथा 'वन्ध्या' में सगे भाइयों के परायों जैसे व्यवहार का यथार्थ चित्रण है। निस्सन्तान रामदत्त और उसकी पत्नी परिवार द्वारा प्रतिपग प्राप्त अवहेलना का शिकार होते रहते हैं। रामदत्त के हिस्से की जमीन लेने के लिये आतुर भाई कथान्त में उस समय हतप्रभ रह जाते है जब चकबन्दी कार्यालय में रामदत्त सदा ही बन्ध्या समझी जाने वाली अपनी पत्नी के गर्भवती होने की सूचना देता है। कथा 'न्याय-रक्षा' में अध्यापक रविचन्द्र की द्वितीय पत्नी सुनन्दा पति के प्रथमपुत्र शरच्चन्द्र को अपने न्यास मानकर न सिर्फ उसका पालन-पोषण करती है अपितु अपने प्राण देने में भी देर नहीं करती।

सुनन्दा का अपने उच्छृङ्खल, चरित्रहीन, मद्यप और क्रूर बेटा विनयचन्द्र फैक्टरी में उच्चपद पाने के लिये अपनी बहन शची का विवाह फैक्टरी मालिक के साथ करने को उद्यत है। दोनों भाइयों के इसी संघर्ष में विनयचन्द्र शरच्चन्द्र को गोली मारने का प्रयास करता है किन्तु उसकी रक्षा के लिये माँ स्वयं सामने आ जाती है।

विधवाविवाह को ठोस धार्मशास्त्रीय आधार प्रदान करती कथा 'पुनर्नवा' में आचार्य महेश्वरानन्द की प्रशस्य भूमिका और वर-कन्या दोनों पक्षों की समन्वित विचारधाराओं के कारण बालविधवा कन्या कृष्णा का विवाह प्रमोद के साथ सम्पन्न हो पाता है। यहाँ शास्त्रसम्मत रीति द्वारा पुनर्विवाहजन्य-सौभाग्य को नारी का जन्मसिद्ध अधिकार सिद्ध किया गया है।

महाकवि बाणभट्ट कृत कादम्बरीकथा के पात्रों और घटनाओं के मूलयथार्थ को अभिव्यञ्जित करती कथा 'अनाख्याता बाणभट्टात्मकथा' कथानायक 'मैं' के स्वप्नदर्शनानुभव के रूप में प्रस्तुत हुयी है।

कथासंग्रह के अंत में संगृहीत परिशिष्ट में इन कथाओं का रचना-इतिहास पूर्वप्रकाशन आदि की सूचना और संग्रह की प्रत्येक कथा में आये हुये सुभाषितों की क्रमबद्ध सूची दी गई है। यहाँ संग्रह में प्रयुक्त हुये स्वनिर्मित नवीन शब्दों की सूची भी दी गयी है। इस प्रकार यह परिशिष्ट अध्ययन दृष्ट्या अति उपयोगी है।

अविकसितबुद्धि वाले राजकुमारों को पुराणशास्त्रादि के माध्यम से प्रबुद्ध न बना सकने की स्थिति में शास्त्रीय ज्ञान को आत्मसात् कर किसी भी व्यावहारिक स्थिति में अभिनिविष्ट कर प्रकारान्तर से अभिव्यक्त कर सकने में समर्थ महाप्रज्ञ आचार्य विष्णुशर्मा ने रुचिपूर्ण पशु-पक्षि-कथाओं के आश्रय से जिस 'पञ्चतन्त्र' की रचना की थी, उसी को प्राचीन वक्ता एवं श्रोताओं के माध्यम से वर्तमान समाज से जोड़ते हुये **'अभिनवपञ्चतन्त्रम्'** में अभिराज मिश्र जी ने पन्द्रह कथाओं की रोचक प्रस्तुति द्वारा मित्रप्राप्ति, मित्रभेद, काकोलकीय, लब्धप्रणाश, अपरीक्षितकारकम् आदि सन्दर्भो को नूतन परिवेश प्रदान किया है। अभिनवपञ्चतन्त्र का प्रथम उपदेश मित्र-सम्प्राप्ति राजकुमारों के परिज्ञान और मनोरंजन के साथ-साथ सन्मित्र के गुणों और जीवन में मित्रता के माहात्म्य के विषय में हिरन, कौआ, सियार के कथानक से समझाया है।

मित्रसम्प्राप्ति का यह अधिक दृढ़ता को प्राप्त हो सके अतः साही और सूकर की कथा कृतज्ञशल्लकी कथा, हरियाणाराज्य के सूरजपुर निवासी दलेलसिंह और शाकविक्रेता शम्भु की कथा शाकविक्रेतुः पुत्रकथा और अभिशप्तवानरी कथा के माध्यम से पुनः पुनः आचार्य रुचिपूर्ण शैली में शिक्षा प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार द्वितीय तन्त्र मित्रभेद के अन्तर्गत निरञ्जनवञ्चनाकथा, दुर्हृद्वणिक्कथा तथा दस्युप्रणयकथा के दृष्टान्त द्वारा आचार्य सहज ही मित्रता को चिरकाल तक स्थायी बनाये रखने के उपाय, मित्र के घर अधिक आवाजाही से होने वाली हानि और अमर्यादित काम की दुःखद परिणति के विषय में उपदेश देते हैं। उत्कोचकीटाधिकारिकथा तथा नाकुलिकाहतुण्डिकथा के माध्यम से आचार्य ने 'काकोलूकीयम्' नामक तृतीय तन्त्र में राजकुमारों को रहस्य को सहज ही प्रकट करने में प्रवृत्त घर से निकाले गये व्यक्ति के विषय में उपदेश करने के साथ-साथ यह भी समझाते हैं कि समुचित कारण और समाधान होने पर ही किसी के साथ वैर करना चाहिये।

अग्रिम दो तन्त्रों में भारतीय संस्कृति से अतिसाम्यपरक बालीद्वीप की सामाजिक घटनाओं का परिचय कराती कहानियों के माध्यम से राजकुमारों की संस्कारानुप्राणित बुद्धि की तीक्ष्णता को पुनः उर्ज्जीवित किया गया है। तृतीय तन्त्र 'लब्धप्रणाशः' में संकलित तेंगनाननायककथा, वृद्धबलिनिवारणकथा, मृतभूपोज्जीवनकथा के दृष्टान्तों द्वारा जगत् में बुद्धि की प्रधानता प्रतिपादित की गई है। चतुर्थ तन्त्र अपरीक्षतकारकम् की सुरावायकथा, भेकभञ्जगकथा, पितृवधिकवधकथा के माध्यम से भली-भाँति सोच-विचार कर कार्य करने का उपदेश दिया गया है।

इन कथाओं में मानव-पात्रों की भाँति ही आचार-व्यवहार करते जो रुचि और कौतूहल का उत्पादक पशुपक्षियों का संसार प्रथम वैशिष्ट्य है। कहीं न कहीं लेखक के जीवन से सम्बद्ध नवीन परिवेश में प्राचीन वक्ता और श्रोता के माध्यम प्राचीन कथावस्तु और उद्देश्यों की प्रस्तुति पाठक को आद्यन्त आबद्ध रखती है। कौतुहल-आधायक सरल, सरस तथा स्वाभाविक कथाविन्यास, भावानुकूल भाषाशैली, कथावस्तु को गति और रोचकता प्रदान करते छोटे-छोटे संवाद, सुस्पष्ट कथासार की श्लोकबद्ध प्रस्तुति आदि तत्त्व इन कथाओं को पठनीयता, सम्प्रेषणीयता प्रदान करते हुये सार्थक बना रहे हैं। मानवीय सद्गुण, नैतिक-मूल्य, न्याय, मर्यादा, उदारता आदि सामाजिक व्यवस्था के नियामक तत्त्व इन सरल प्रतीकात्मक कथाओं के माध्यम से सहज ही समझाये गये हैं।

दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले धारावाहिक से प्रेरित प्रो.मिश्रकृत **'कान्तारकथा'** नामक कथासंग्रह उनकी कल्पनाशीलता और मौलिक सर्जनात्मकता का प्रतीक बनकर संस्कृत कथा-साहित्य में नवीन अध्याय जोड़ने में सफल है। संस्कृत-जगत् के लिये सर्वथा नवीन पृष्ठभूमि में विकसित इस कथा-संग्रह में एक ऐसे बालक के दृष्टान्त द्वारा जीवन-जगत् के रहस्यों को समझने का प्रयत्न किया गया है, जिसका पालन-पोषण परिस्थितिवश एक भेड़िये के परिवार में होता है। यहाँ जंगल को एक नूतन दृष्टि से देखने का प्रयत्न होने के साथ-साथ जंगल की दृष्टि द्वारा मानव-जगत् को देखने का प्रयत्न है, इन प्रयत्नों में मासूमियत भरे सवाल हैं। इन सवालों में मर्मस्पर्शी, मनोरम रहस्योद्घाटन हैं और इनमें समाविष्ट है भावप्रबलता और तर्कशीलता का संगम।

मोद्गलि नामक बालक को शैशवावस्था में ही एक भेड़िया उठाकर ले जाता है। यहाँ दक्षिण दिशाओं में शई नदी से घिरे लेखक के गाँव के आसपास का घना जंगल और ग्रामीण परिवेश साकार हो रोमांच और कौतूहल उत्पन्न करने में सहायक है। भेड़िया मोद्गलि को गुफा के द्वार पर रखकर वहीं आराम करने लगता है और शिशु मोद्गलि गुफा की ढलान पर लुढ़कता हुआ नीचे अपने शिशुओं को स्तनपान करा रही मादा भेड़िया के पास पहुँच स्वयं भी स्तनपान करने लगता है। भेड़िया दम्पति भी उसके प्रति वात्सल्यभाव उपजने से उसका पालन-पोषण पुत्रवत् करते हैं। किन्तु मानवपुत्र मोद्गलि कुछ बड़ा होने पर अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिवश विचार-विमर्श करने लगता है- जंगल में सभी एक-दूसरे से भयभीत क्यों दिखते हैं, यहाँ प्रत्येक

जानवर अपने से कमजोर को क्यों मारने लगता है, मनुष्य और जानवर अलग-अलग क्यों रहते हैं- आदि-आदि अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ-उसकी माँ सुकेशी (भेड़िया) तो यह जानती है कि यह एक मानव-बालक है और उसी भाँति चिन्तनशील भी है। वह मोद्गलि से कहती है कि तुम्हारे इन प्रश्नों का उत्तर मैं तो नहीं जानती। किन्तु दृष्टि नामक भालू जरूर जानते होंगे क्योंकि इस जंगल में सर्वाधिक बुद्धिमान् वही हैं। तुम्हें उन्हीं के पास जाना चाहिये। इस प्रकार मोद्गलि माँ के निर्देशानुसार दृष्टि नामक रीछ के पास पहुँच अपने सारी आशंकाओं के समाधान प्राप्त करता है जैसे-मानव और पशु सभी को एक ही ईश्वर ने बनाया है और पूर्व में मानव और पशु साथ-साथ रहते थे कालान्तर में दोनों अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग स्थानों पर रहने लगे। किन्तु अभी भी मानव के लिये उपयोगी कुछ पशु उनके साथ रहते हैं जैसे- गाय, बैल, घोड़ा, भैंस, गधा, सुअर, बकरी, ऊँट आदि और कुछ मनुष्य हमारे साथ जंगल में जैसे ऋषि-मुनिगण, आदिवासी, कबीलाई कुछ समूह।

यहाँ सृष्टि के सामान्य रहस्यों को पौराणिक दृष्टि के माध्यम से बालानुरूप सहजशैली में प्रस्तुत किया गया है।

इन कथाओं में कथ्यानुकूल भावप्रवण संवाद, प्रतिपद रोचकता व सुन्दरता का सन्धान करते हैं। कथाकार के चिर-परिचित अन्दाज में लोकप्रचलित विविध लोकोक्तियों व मुहावरों के प्रयोग जनसामान्य के लिये आत्मीय संस्पर्श का आधान करते हैं। आदर्श स्थितियों में वस्तु के अवसान द्वारा पारम्परिक संघटनात्मक शिल्प में समसामयिक जन-जीवन का कुशल रूपायन है।

कृति : पुनर्नवा; **कृतिकार :** अभिराज राजेन्द्रमिश्र, **प्रकाशक :** वैजयन्त प्रकाशन, 8 बाघम्बरी मार्ग, इलाहाबाद, 211006; **प्रथम संस्करण** जन. 2008; **मूल्य :** 300 रुपये।

- अर्चना तिवारी

● ग्रा.पो. कोरसम, फतेहपुर (उ.प्र.)

V

अन्यच्च

अन्यच्च इत्युपन्यासो राधावल्लभीयलेखनीखचित: सद्य:प्रकाशितेपु श्रेष्ठतम: संस्कृतोपन्यासो वर्तते यत्र औपन्यासिक: शास्त्रज्ञानसम्पन्नेन स्वबुद्धिवैशारद्येन सन्निवेशयति कनिष्ककालिकं महाभारतीयं चित्रम्। मातृसंस्कृतेरुपासको महाभारतीयचेतनाया: प्रवक्ता देशभक्तकथाकारो मातृभक्तपुत्रव्याजेन कथानायकमुखेन विरचयति मातृसूक्तं वैदिक-ऋषिरिव। माता सत्यमेव उपस्थिता इति स मनुते स्म मनाक्। ऋषिणा उपन्यासकारेण यत् मातृसन्धानं प्रारब्धं तदर्थं स्वर्गकामेन तेन स्वर्गसन्धानमपि कृतम्। मातृसूक्तं पठित्वा मातरमावाहयति मातृभूमौ स्वर्गमपि अवतारयति।

अत्र त्रय: खण्डा: सन्ति। तत्र च पुन: क्रमश: 22, 7, 11 भागा: सन्ति, 65 सन्दर्भाश्च विलसन्ति, विशेषव्याख्यानार्थम्। "तेजस्विनावधीतमस्तु" इति प्रथमे खण्डे 22 भागेपु कल्पितकथानायकस्य विशाखस्य प्रथमाश्रमस्य कथा वर्णिताऽस्ति, प्रसङ्गत: तस्य पितृगृहस्य, गुरुकुलस्य बाल्यकालस्य च कथा निरूपिता। "सङ्गच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्" इति द्वितीये खण्डे 7 भागेपु विशाखस्य तक्षशिलात: काश्मीरयात्रा विशदीकृता। "पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" इति तृतीयखण्डे विशाखस्य इरावत्या सह विवाहस्य, किन्नरपुरस्य, इदानीन्तनशासकानां दुराचारस्य च कथा वर्णिता।

अनन्तरं स्वबाल्यबन्धुना आचार्येण अश्वघोषेण मिलित्वा, कार्ययोजनां विधाय, शत्रुभिः सह युद्ध्वा अत्याचारं शमयति। एवमेव सहसा अवसितोऽयमुपन्यासः।

त्रिषु खण्डेषु भागानुसारं कथा एवं वर्तते - "तेजस्विनावधीतमस्तु" इति प्रथमे खण्डे 22 भागेषु कल्पितकथानायकस्य विशाखस्य प्रथमाश्रमस्य कथा वर्णिता।

1. भद्रपुरीवर्णनेन प्रारब्धोऽयमुपन्यासो यत्र ठक्कुरः सरस्वतीभवने पुराणप्रवचनस्यायोजनं कृतवान्। ग्रन्थिकः "कपिलदेवहूतिसंवादे" प्रसङ्गप्राप्तं स्वर्गं वर्णयति। मातरमन्विष्य तेन स्वर्गकामः कथानायको विशाखः सहसा प्रविश्य प्रतिवदति। प्रवचनेन सह गानमपि भवति स्म इति ज्ञायते।

2 .वार्तालापं विधाय विशाखो जानाति यत् ग्रन्थिकस्तस्य बन्धोर्वाग्भट्टस्य पिता वर्तते। तेन सह स ठक्कुरगृहं गच्छति। पूर्वस्मृतिस्मरणेन अनुभवति स "श्मशानकल्पं जगदिति।" (पृ. 8)

3. पञ्चमे वर्षे मातृमरणं कथमपि न विस्मृतं तेन। उपनयनसंस्कारानन्तरं पिता तं पाठयितुं यतते। सोऽपि अनुभवति- "अरे पुस्तकस्याध्ययनेन तु संसार एव नवीनो भवति इति सकौतुकं कथयति आत्मनाऽऽत्मनम्। अक्षरे तु क्षरं विश्वं समहितमिति स तदानीमजानात्।" (पृ.10) विशाखस्य बाल्यकालस्य विविधक्रीडाः वर्णिताः अत्र। मात्राचरितानि व्रतानि वर्णितानि। प्रसङ्गतः व्रताचरणध्येयं, धार्मीयविवादं, पञ्चदेवोपासनां, गुरुकुलं, मातृणं, स्वर्गसन्धानं चेत्यादीनि सम्यग् वर्णितानि सन्ति। समाधानमुखेन लेखकः स्वयं मन्त्रयते- "कयापि स्त्रिया विरचितं किमपि धार्मशास्त्रं न लभ्यते। अहं मन्ये मातुः ऋणं भवति। पत्न्या अपि पत्युः कृते ऋणं भवति।" (पृ.12)

4. ठक्कुरस्य गृहे तस्य चतुर्दशवर्षे विधवा पुत्रवधूः कालिन्दी दृष्टा। रात्रौ मातरं स्मृत्वा उत्स्वप्नायते विशाखः। शकटेन नदीगमनसमये गाथाश्रवणम्। तदा संस्कृतभाषायाः प्रामुख्ये प्राकृतगाथाः तथा सम्मानिताः नासन्। वस्तुतः तात्कालिकं समाजं वर्णयितुकामेन कथाकारेण साधारण-सामाजिकस्य शाकटिकस्य मुखे गाथानां सफलप्रयोगः कृतः। संस्कृतच्छायासहिताः गाथाः मनोहरन्ति। तदाऽपि लौकिकगानानां गाथानां च आदर आसीदिति प्रतिपादितवान् रचनाकारः। स तत्र दिवसचक्राणां भव्यवर्णनेन कालस्य गमनं द्योतयति।

5. विपाकेन सह मैत्रीं स्मरति विशाखः। गाथाः शृणोति। दिवा मातुः स्वप्नं पश्यति। माता सूक्ष्मशरीरेण तिष्ठति इति स विचिन्तयति। मातृसूक्तं रचयति विशाखः। अस्य सूक्तस्य विशाख ऋषिः, माता देवता, अनुष्टुप् छन्दः। प्रक्रियामेवं निरूपितवान् कथाकारः- "विशाखो भूमौ उपविश्य मातृमण्डलं निर्मितवान्। मातृसूक्तं पठित्वा मातुराह्वानं कृतवान्। माता साक्षात् तस्मिन् उपविष्टा आभाति।" (पृ.26)। अत्र सुवर्णाक्षी इति कीर्तिता इति कौण्डिन्यः स्वमातरं प्रत्यक्षीकृतवान्। एवमेव कथाकारः स्वयं सूक्तं रचितवान्, तस्य साधारणीकरणं च कृतवान्।

6. शाकटिकस्य गाथाः श्रुत्वा मातृसूक्तं स्मरन् स मातृदर्शनाय निर्गन्तुमिच्छति। सूतवर्यः गाथालेखकस्य विषये शाकटिकं पृच्छन् कवेः कर्णपूरस्य परिचयं प्राप्नोति, य उदरम्भरणाय शिबिकां वहति स्म। प्रसङ्गतः विशाखः आजीविकसम्प्रदायात् दीक्षाप्राप्तिविषयं वदति। सूतस्तु तस्य पितुः दुःखं वदति, तस्य दर्शनाय उपदिशति। मल्लिका दासी पितरं त्यक्तवतीति सूचयति। तस्याः प्रत्यक्षानुभवं विशाखो वदति अतीतं स्मरन्।

7. आचार्यसौम्यदेवस्य निधनात्परं पित्रा सह गृहागतेन तेन सह मल्लिकायाः परिचयो जातः, मनोमालिन्यमभवत्, विपाकात् जरायुजा सृष्टिः श्रुता, तत्पितृपादात् आयुर्वेदपठनकाले असंख्यवृक्षाणां परिचयः प्राप्तः, रात्रौ श्मशानं गच्छन्त्येषा पिशाची स्यादिति अनुमिता, शिलाटकङ्ककेन सह मल्लिकायाः सम्पर्कः ज्ञातः, मल्लिकया सह कलहः, पित्रा ताडितेन च गृहं त्यक्तम्। ततः विमलमतेराश्रममन्विष्य स साकेतं प्राप्य सरयूतीरे

स्वर्गकामः मात्रा दत्तं निष्कं ब्राह्मणाय ददाति, परन्तु तेन प्रवञ्चितः। किन्तु तस्य संन्यासहेतोः, कौण्डिन्यस्य तक्षशिलागमनात्, तत्पुत्रात् न्यायशास्त्रं पठित्वा, ईश्वरकृष्णात् सांख्यमधिगम्य विविधसम्प्रदायैः सन्निहितः नितरां भ्रमणेन पीडितः संज्ञाहीनो बौद्धभिक्षुभिः सेवितः, बौद्धविहारे बौद्धग्रन्थान् पठित्वा, आजीविकसम्प्रदायात् दीक्षां प्राप्तवान्। अनन्तरकाले गुरोरन्वेषणेन प्रस्थितः सः अन्ततोगत्वा भद्रपुर्यां सूतवर्यं प्राप्नोति।

8. सूतेन उक्तं यत् - तस्य द्वितीया माता सा न तु पिशाची आसीत्, अपि तु अभिसारिका। ततः मेघदूतस्य, नैमिषारण्यस्य, ध्रुवोपाख्यानस्य चर्चा विहिता। "व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्" इति श्रुत्वा विशाखः कौण्डिन्येनोक्तम् "उच्छिष्टं वै ब्रह्म" इति अथर्ववचनं स्मरति। मातुर्वियोगमिव कौण्डिन्यस्यादर्शनं तं तुदति स्म।

9. कालिन्द्याः शयनकक्षात् पुरुषस्य परुषस्वरं श्रुत्वा त्यक्तनिद्रः विशाखः आर्यं कौण्डिन्यं स्मरति। शिष्येभ्यः दण्डदानविषये गौतमसूत्रस्योपरि सौम्यदेव-विमलमत्योः आलापमपि स्मरति।

10. सातवाहन(हाल)स्य कवेः वर्णनम्, गाथानां लेखकानामपि वर्णनं सूतमुखेन कारयित्वा लौकिकसाहित्येन सह कमपि सेतुं कल्पयति कथाकारः। स्नानानन्तरं ठक्कुरस्य उद्यान-वर्णन-प्रसङ्गे विविधवृक्षलताफलादीनां नामोच्चारणं कृतवान्। चीरञ्जीववैद्येन सूतस्य हृदयरोगस्य उपचारः कृतः।

11. क्षमायाचनार्थं विशाखः विपाकस्य गृहं प्राप्यापि तं न प्राप्तवान्। तस्य पितृपादात् क्षुन्निवारक-मौषधं फलानि च स्व्यकरात्। स्वर्गविषये पृष्ट्वा निरामयं जीवनमेव स्वर्गः इति ज्ञातवान्। विपाकेन सह कलहः, पित्रे द्रोहश्च तमाजीवनं क्लिश्नतः स्म।

12. भोजनार्थं चतुःशालं प्रविशता ठक्कुरस्य कुशूलः अवलोकितः। विविधधान्यानां मुद्गानां च नामनि दत्तानि सन्ति। भोजनं परिविष्टम्। ठक्कुरपत्नी सर्वान् आदिशति, सर्वे कार्यं कुर्वन्ति स्म। सहसा विशाखेन श्वा दृष्टः। प्रायश्चित्तरूपेण स भोजनं त्यक्तुमिच्छति। पुनः सूतवर्यस्य अनुरोधेन गृह्णाति। अनेन सूतवर्यस्य प्रायोगिकत्वं सिद्ध्यति। सूतः प्रवचने भारतमहिमानं प्रतिपादयति। गोपीचन्दनं वर्णयति। तिलकप्रकार-कार्पासमहत्त्वादिकं वर्णयति। अक्षरेषु एव देवाः प्रतिष्ठिताः इति वदति सूतः। मातृसूक्तं स्मृत्वा स्वमातरं स्मरति सूतः। हठात् पुराणलेखनस्य प्रस्तावं प्रस्तौति पौराणिकः सूतः विशाखस्य समीपे।

13. भोजपत्राणि आनयति ठक्कुरः। निर्वाते स्थाने ग्रन्थमुद्घाट्य लेखितुमुपदेशः। सूत्रविमोचने वासुकेः ध्यानं करणीयम्। काष्ठफलकद्वये द्यावापृथिव्यौ निवसतः। सूत्रधारणात् सूतः इति व्युत्पत्तिं करोति सूतः। अकस्माद् भग्नस्य शकटचक्रस्य संयोजनमपि सूतः कृतवान्।

14. पुराणलेखनव्याजेन लेखनीनिर्माण-ग्रन्थनिर्माण-संशोधनविधानानि वर्णितानि। एकाकिना भैरवमन्दिरं गत्वा भैरवदीक्षितैः मिलति विशाखः।

15. सूतानां परम्परा, स्त्रीयाजकस्य कथा, मातुरन्वेषणं, विशाखस्य गमनोच्छुक्यमत्र वर्णितानि सन्ति।

16. प्रवचने स्वारस्यसम्पादनाय गोपलीलाकथाः योजयति सूतः। मुकुरमन्दिरकथा, मन्दिरनिर्माणयोजना, भूमिचयनम्, आगम-निगमयोः विवाहं कारयति।

17. विशाखः पुराणलेखनं समाप्य स्वव्यथां गाथाभिः श्रावयति। किन्नर-गन्धर्वयोः पार्थक्यं प्रदर्श्य कण्ठस्य गुणान् गणयित्वा गमनोत्सुकं तं मन्दिरप्रतिष्ठां यावत् स्थातुमनुरोधं करोति सूतः।

18. मन्दिरप्रतिष्ठान्ते कापालिकैराक्रान्तः सूतो निधिदत्तस्य समीपे नीतः। कालिन्दी अपि त्रिशूलहस्ता श्वशुरं रक्षितवती। चिकित्सको निधिदत्तस्तक्षशिलायामाचार्यात् सुश्रुतात् पठितवान् इति श्रुत्वा स तत्रागन्तुं सन्नद्धो जातः। क्रमशः स्वस्थो जातः सूतवर्यः। कापालिकाः निगडिताः। विशाखश्चापि सूतपुत्रवाग्भट्टस्यानयनाय हरिद्वारं प्रेषितः।

19. सूतवर्यमापृच्छ्य स वाग्भट्टं सूचयितुं हरिद्वारं प्रति प्रस्थितः। मार्गे आगताः सङ्गम-प्रतिष्ठानपुर-विदिशा-दशार्णदेश-मथुराः वर्णिताः, क्रमप्राप्ताः वैदेशिकाः, बौद्धाः भिक्षवश्चापि वर्णिताः। एवमेव पुरुरवोर्वश्युपाख्यानस्य, मेघदूतस्य च वर्णनमुपलभ्यते। सौढलस्य साहाय्येन वाग्भट्टाय सर्वं निवेद्य स्वयं प्रस्थितः।

20. आदौ विद्यार्जनं वा पितुः दर्शनं वेति प्रश्नस्तं बाधते स्म। प्रायश्चित्तकृशं पितुः शरीरं दृष्ट्वा, तस्मात् ब्रह्मसूत्रं पठित्वा तक्षशिलां प्रति गतः।

21. तक्षशिलां प्राप्य विविधभाषाव्यवहरद्भिः विचित्रव्यवहारैः भीतभीतैः जनैः मिलितः। कनिष्कस्य राज्ये हिन्दूनामुपरि अत्याचारः श्रुतः। तक्षशिलाविद्यापीठे प्रवेशः निषिद्धः।

22. इतस्ततः भ्रमित्वा वितस्तातीरे स्नात्वा सत्रागारे भुक्त्वा प्रसुप्तो द्वयोर्वार्तालापं श्रुत्वा स्नानघट्टे उपालिना सह मिलितः। सहसा कनिष्केण समवदत्, तोरण-ध्वंसात् तं रक्षितवान् च। साक्षात् तक्षशिलायां प्रवेशं प्राप्य, पाठं समापितवान्। तत्र समावर्तनं जातम्। मिलिन्दप्रश्नः इति पुस्तकमाचार्येभ्यः वसुमित्रेभ्यः समर्पणीयमिति गुरुदक्षिणा घोषिता।

ख.

"सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" इतिं शीर्षकेण नामितोऽयं द्वितीयः खण्डः सप्तभागैर्विभक्तः विशाखस्य तक्षशिलातः काश्मीरयात्रां विशदीकरोति। यथा-

1. शाकलपुरस्य वैशिष्ट्यं वर्णयन् कथाकारो मिलिन्दप्रश्नपुस्तकस्य नेपथ्यं विशदीकरोति। कथं यवनराजो मिनाण्डरा आचार्येण नागसेनेन मिलितो दीक्षितश्च मिलिन्दो जातः, तस्य प्रश्नैः नागसेनस्य उत्तरैश्च गुम्फितं पुस्तकमेव मिलिन्दप्रश्न इति यं यत्नेन नयति विशाख आचार्यस्य वसुमित्रस्य कृते। तत्र कयाचित् रमण्या मिलितः स उत्फालकरणमाश्रित्य लूण्ठाकात् तस्या अपहृतं वित्तं रक्षितवान्।

2. वितस्तायाः तीरे तस्य गमनं प्रचलति। अकस्मात् आतपः, अकस्मात् हिमवृष्टिः। सहसा आगता वात्या। कापि छाया अनुसरति तम्। सहसा शिलाघातेन तं पातयित्वा वस्तूनि तस्य गवेषयति स्म सा छाया।

3. केनापि भिक्षुणा शान्तिशीलेन रक्षितः सः। पालीगाथां शृणोति। तस्य वस्तूनि अपि सङ्गृहीतानि तेन। परन्तु पुस्तकमञ्जूषा तु चोरिता।

4. शान्तिशीलेन वार्तालापं करोति विशाखः। पार्श्वे अन्यस्मिन् कटीरे मुनिः कश्चन वसति इति श्रुतवान्।

5. अलकापुरीति गिरिग्रामादागतायाः अर्चायाः कृते पुस्तकविषये सूचयति शान्तिशीलः। गुहावासिनं मुनिं वनराजं सिंहमपश्यत् विशाखः। डोम्भजातीयैः अपहृतस्य पुस्तकस्योद्धारः। भागीरथी-अलकनन्दयोः मेलनम्। ततोऽग्रे स्वर्गारोहणशिखरः। अतः पुनरुदेति स्वर्गप्रश्नः विशाखस्य। मातृदर्शनाकांक्षा वर्धते। कस्तूरीमृगं पश्यति सः।

6. अर्चायाः प्रसङ्गः आगतः। थेरगाथा-प्राकृतगाथा-क्षणभङ्गवाद-प्रतीत्यसमुत्पादान् वर्णयति कथाकारः। ततः जीगमिषा जागर्ति।

7. प्रचण्डो वात्यासारः। मेघाः स्फुटिताः। अलका प्लाविता। उभावपि तत्रागच्छतः। पञ्चषाः जनाः जीविताः। शान्तिशील एकाकिनीमर्चां स्वीकरोति।

ग.

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" इति तृतीयखण्डे 11

भागेषु नवकिन्नरपुरे विशाखस्य इरावत्या सह विवाहस्य, किन्नरपुरस्य, इदानीन्तनशासकानां दुराचारस्य च कथा वर्णिता।

1. काश्मीरं प्राप्य विश्रामाय उद्यानं प्रविशन्तं विशाखं द्वारपालो नागः सुश्रवाः निवारयति, परन्तु अश्वघोषस्य नामश्रवणेन अत्यन्तनम्रभावेन स्थानं ददाति। काश्मीरेषु स्नाति विशाखः गङ्गां यमुनां च स्मृत्वा ..। यान्तु सन्निधिमिति साधीयान् पाठः स्यादिति प्रस्तावितवान् लेखकः। नागस्य साहाय्येन पशुपतये शिवाय स्थालीपाकं विरचय्य आहुतिं प्रददाति। सुश्रवसोः कन्याद्वयी दृष्टा स्नानावसरे।

2. निद्रायां मातरं स्मृत्वा ततः भग्नायां निद्रायां इरावती-चन्द्रलेखाभ्यां सह आलपति। ताभ्यां तृणधान्यं भक्षितम्। विशाखः सक्तून् प्रयच्छति। केनापि व्रतेनाबद्धा एते अन्नं न खादन्ति इति ज्ञातवान् सः।

3. कन्ययोः प्रणयपाशाबद्धो विशाखः स्मरति महाप्रलयदिने कथं शान्तिशीलेन सह अर्चायाः विवाहस्तेन कारितः। गृह्यसूत्रानुसारं मन्त्रान् पठित्वा सप्तपदी-मधुपर्क-अरुन्धतीदर्शनादि-विधिपूर्वकम् विवाहं कारयति।

4. वृष्टिहेतोः प्रवासे अक्षमे विशाखोऽन्ततोगत्वा सुश्रवसो गृहे स्थितवान्। सुश्रवाः तस्य मूलनिवासस्य किन्नरपुरस्य, इदानीं वासस्य नवकिन्नरपुरस्य च इतिहासं, भिक्षोः कच्चायनस्य दुराचारस्य, राज्ञ्याः तूर्णायाः पलायनस्य, राज्ञः किन्नरस्य शासनस्य, पुरोहितस्य मल्लटस्य अत्याचारस्य च कथां श्रावितवान्।

5. प्रातरेव मल्लटेन सहसा हस्ताहस्ति जातं विशाखस्य। ततः सर्वान् आपृच्छ्य नागयुवकैः सह वसुमित्रस्य विहारं प्राप्तवान्।

6. महास्थविरेण वसुमित्रेण मिलित्वा तस्मै मिलिन्दपन्हं ग्रन्थमुपायनीकरोति। अश्वघोषस्य विषयेऽपि शृणोति।

7. सामनरेण शिल्हणेन गत्वा स प्रवरपुरे अश्वघोषेण मिलति। तस्य मित्रं विपाक एवासीत् सः। शिबिकया तं नवकिन्नरपुरं शीघ्रं प्रेषितवान् अश्वघोषः।

8. नवकिन्नरपुरं प्राप्य विशाखो मल्लटेन सह युद्धेन आघातं प्राप्तं सुश्रवसम्, एकाकिनीं चन्द्रलेखां दृष्टवान्, अपहृता इरावतीति श्रुतवान्। ततः अश्वघोषाय पत्रं लिखितवान्, महाराजेन कनिष्केण साहाय्यं प्रदानाय। व्रणविरोपणचूर्णलेपनेन स सुश्रवसः सेवां कृतवान्।

9. दिनत्रयं यावद् अप्राप्ता इरावती। मल्लटस्य अनुयायिभिः सा अपहृता, निर्दयं भुक्ता, वितस्तातीरे त्यक्ता, भिक्षुभिः सेविता, अन्ततो भिक्षुणी जाता। ततः प्रत्यागत्य स नागवाहिनीं सृष्टवान्।

10. राज्ञि किन्नरे निधने गते पुत्रो नरोऽभिषिक्तः। नवकिन्नरपुरे एव तस्य शासनं व्यवस्थापितम्। विशाखः किन्नरपुरस्य शासनदायित्वे नियुक्तः। नरश्चन्द्रलेखायां दृष्टिं पातयति। विशाखः किमपि कर्त्तुमिच्छति। तदा अश्वघोषस्य पत्रं प्राप्तवान् - संस्कृतेन ब्राह्मीलिप्या च लिखितम्। कनिष्केण नरो दण्डनीय इति।

11. गृहं परितः नरस्य सैनिकाः, तान् परितः व्यूहरचनां कृतवान् विशाखः। मल्लटः छुरिकया आघातं कृतवान् विशाखम्। चन्द्रलेखा छुरिकामुद्धृत्य व्रणविरोपणचूर्णं लिप्तवती। मातः! इति सम्बोधितवान् स मातृसूक्तमुपांशुं स्मरन्। सुश्रवाः आगतः। कनिष्कस्य सैन्यमागतमिति सूचना आगता। पलायमानो नरो विधृतः। ततः अन्यच्च किं जातमित्याकांक्षायामेव उपन्यासोऽयमवसितो चर्च्चितनाम्नः अस्य कथाग्रन्थस्य वैशिष्ट्यमिदमित्थन्तया वर्णनं सुशकं नास्ति। तथापि केचन बिन्दवः अत्र रेखाङ्कनं कुर्महे।

(i) नामकरणम्- अन्यच्च इति नामकरणमेव प्रतिपादयति बहु किमपि वक्तव्यमासीत्। 216 पुटान् विलिख्य अपि बहु किमपि अवशिष्टम्। कथं विवशो वक्ता सर्वत्र आत्मानं स्पष्टीकर्तुं न शक्नोति लक्षणीयमेव।

अस्य नामकरणस्य पुष्ट्यर्थं कथाकारः शताधिकवारमुच्चारयति ज्ञातसारेणाज्ञातसारेण वा अन्यच्चेति। वस्तुतः प्रथमखण्डस्य दर्शनात्परं समाप्तित्वरा द्वितीयखण्डं तृतीयखण्डं च संक्षेपमकारयदिति सहजतया अनुमीयते। सहसा समापनमपि अन्यच्चेति पाठकीयजिज्ञासां प्रत्यग्रीकरोतीति पुनर्वक्तव्यं नास्ति। उक्तं च दयानन्दभार्गवेण- अन्यच्चेत्यत्र याः घटनाः उपस्थापिताः ताः सर्वाः गन्धर्वनगरलेखोपमाः पश्यत एव विलुप्यन्ते, चन्द्रलेखा वा स्यात्, तक्षशिला वा स्यात्, अलका वा स्यात्। अवशिष्यन्ते केवलं त्वादृशाः उपन्यासानुशीलननिर्मलीकृतमानसाः सहृदयाः पाठकाः। (पृ.6, सरस्वतीसौरभम्,1-2)

(ii) महाभारतीयता- भारतीयतायाः प्रकृष्टोदाहरणरूपेण प्रो.त्रिपाठी प्रस्तौति कालिदासीयं मेघदूतम्। ''इसमें भारत का भूगोल है, तीर्थ हैं, पावनभाव है। प्रेम की वह अनन्यता और निष्ठा है, प्रकृति से एकमेक होने से जन्मी जीवन की लय और सङ्गति है। इस सङ्गति में भारत के जीवनबोध की विश्व को देन है।'' (पृ-19) एतस्य लेखकः स्वयमाविष्करोति मेघदूतम्, तत् पुनः सांख्याचार्यस्य ईश्वरकृष्णस्य समीपे, ततः परमब्रह्मचारी कथानायकः निलीय पठितवान् अभिसारिकालक्षणम्। महाभारतीयभावनाया अपरमुदाहरणं प्रस्तुतमस्ति-

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् यान्तु सन्निधिम्।।

काश्मीरेषु स स्नाति। पुराणमिमं श्लोकं पठति। अत्रापि परम्पराप्रचलितश्लोकस्य साधुपाठविमर्शे लेखकः सफलकामो वर्तते। किं बहुना, यथार्थपूर्वपीठिकायां गाथासप्तशत्याः यत्र-तत्र उदाहरणमस्मान् अवश्यमेव कनिष्ककालिके भारते प्रापयति। एवमेव यज्ञ-पुराण-तर्क-वानप्रस्थ-भिक्षूणां संस्कृतिं सांस्कृतिकसन्दर्भपुरस्सरमुदाहरन् कथाकारः भारतीयसंस्कृतेः अत्युत्तमां प्रतिच्छविं निर्माति।

(iii) महाख्यानता- भारतीयतायाः भारतमुग्धतायाः च भेदं निरूप्य प्रो.राधावल्लभत्रिपाठी अग्रे वदति- *भारतीयता कोई स्थिर और जड अवधारणा नहीं हो सकती। भारतराष्ट्र जिस तरह निरन्तर विकसमान रहा है, उसी तरह भारतीयता की परिधि भी विस्तीर्ण होती रही है। भारतीयता अपने आप को प्रतीकों, मिथकों और आख्यानों में प्रकट करती आई है। ... पर आख्यान को पूरे युगबोध के साथ साधना भी उतनी ही बडी चुनौती है। बहुत कम कवि भारतीय महाख्यानों की विचित्र वीणा के सारे स्वर इस तरह साध सके कि उनका अनुरणन आज के श्रोता सुनें।* (पृ.7-12, दृक्.15-16) स्थले स्थले उद्धृतानि आख्यानानि इमं महाख्यानेन विपरिणमयन्ति। अत्रोद्धृतानि शास्त्राणि अस्य महाशास्त्रत्वं साधयन्ति। अत्रत्यानि चरित्राणि भारतीयजीवनधाराभिः ओतःप्रोतानि, तत्र वाचकान् निमज्जयन्ति, उन्मज्जयन्ति, महाभारतीयं जीवनचित्रं चित्रयन्तीति कथनं साहसमात्रं न स्यात्। एवं प्रतीयते औपन्यासिकः स्वजीवने शिक्षितं सर्वं किमपि समावेश्य स्वोपन्यासं ग्रथ्नाति।

(iv) विश्वकोषता- उत्तमे उपन्यासे पदे पदे औपन्यासिकस्य बहुश्रुतत्वं बहुवेदित्वं बहुपाठित्वं महानुभवत्वञ्च प्रमाणितं भवति। तथैवात्र आचार्यस्य त्रिपाठिवर्यस्य प्रतिभाभावितोऽयमुपन्यासः तस्य प्रतिभायाः विश्वतोमुखत्वं विश्वव्यापित्वं विश्वजनीनत्वं च प्रमाणयति। वेद-वेदाङ्ग-नाट्यशास्त्र-गौतमधर्मसूत्र-शृङ्गारप्रकाश-कुट्टिनीमत-विक्रमाङ्कदेवचरित- भविष्यपुराण- सुश्रुतसंहिताभ्यः उद्धरणानि अत्र सन्ति एव, परन्तु कामसूत्र- गाथासत्तसई-थेरीगाथा-वाचस्पत्य-अमरकोशाश्चाप्यत्र न त्यक्ताः। केवलं गाथासतसईतः एव सप्त गाथाः उद्धृताः सन्ति, गोपीलीलाः गानानि च संयोज्य कथं प्रवचनानि मधुरीक्रियन्ते, समजाभिमुखीक्रियन्ते इति सप्रमाणमुपस्थापयति कथाकारः। गङ्गे च यमुने चैव .. इत्यारभ्य समिधः लक्षणं, लेखनीनिर्माणं, ग्रन्थपठनपद्धतिं, लेखनपद्धतिं, संशोधनपद्धतिमित्यादिकं सर्वमपि प्रतिपादितमस्मिन् विश्वकोषे। सत्यमुक्तं देवर्षिणा कलानाथशास्त्रिणा - *उपन्यास तत्कालीन भारत के साहित्य की जो विश्वकोषीय जानकारी देता है वह सप्रमाण है। इसके लिए सन्दर्भ- टिप्पणियों में वेदशास्त्र, साहित्य, आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों के उद्धरण हैं, उन शब्दों के अर्थ भी दिए*

गए हैं जो हमारे साहित्य में और बाल्यकाल में उस समय प्रचलित थे। (पृ.4, सरस्वतीसौरभम्,1-2।) कनिष्ककालिकभारतादारभ्य काश्मीरेषु साम्प्रतिकेन मेघस्फोटनेन उज्झितग्रामस्य चित्रणं कथाकारस्य लेखन्या पुनर्जागरितमेव। देशस्य नद-नदी-वन-पर्वत-वृक्षलतादीनां संवलितायाः मनोरमप्रकृतेः चारु चित्रणं सहृदयहृदयं प्रकामं विशदयति। अन्ततो भारतीयसंस्कृतेः जयगानं कृत्वा मातृसूक्तमपि संपश्यति आर्षमानसेन विशाखभावेन। इमामेव भावनां पुरस्कृत्य कदाचित् ध्वन्यालोककारेण महावाक्यकल्पना कृता स्यात्।

(v) मातृसंस्कृतिसंवेदना – मन्त्रसाक्षात्कारस्य प्रक्रिया सम्यक् विशदीक्रियतेऽत्र। यथा- "तदेव वदामि। भ्रातः विशाख! स्वर्गः शब्दैः निर्मातुं शक्यते। ऋषयो ऋग्भिः स्वर्ग रचयन्ति स्म। यदि वयं मन्त्रान् रचयितुं प्रभवेम, तर्हि स्वर्गमपि रचयितुं प्रभवेम।... तस्मिन् स्वर्गे माता अवतरेत्। ..... एवं चिन्तयतस्तस्य वैकल्यं घनीभूतम्। तस्मिन् घनीभूते वैकल्ये स मातू रूपम् अपश्यत्। तत्क्षणं स मातृसूक्तं साक्षादकरोत्। विशाखेनानुभूतं यत्तस्य सूक्तस्य प्रत्येकम् ऋचि माता समहिता, अथवा ता ऋच एव साकल्येन मातृरूपा आसन्। सूक्तं मुहुर्मुहुस्तस्य पुरः स्फुरति, तस्य सर्वाङ्गमलिङ्गति तमवशमिव करोति स्म।" (पृ. 25) मातृसूक्तं रचयति विशाखः। अस्य सूक्तस्य विशाख ऋषिः, माता देवता, अनुष्टुप् छन्दः। प्रक्रियामेवं निरूपितवान् कथाकारः- "विशाखो भूमौ उपविश्य मातृमण्डलं निर्मितवान्। मातृसूक्तं पठित्वा मातुराह्वानं कृतवान्। माता साक्षात् तस्मिन् उपविष्टा आभाति।" (पृ.26) अत्र सुवर्णाक्षी इति कीर्तिता इति कौण्डिन्यः स्वमातरं प्रत्यक्षीकृतवान्। एवमेव कथाकारः स्वयं सूक्तं रचितवान्, तस्य साधारणीकरणं च कृतवान्। अन्ततोगत्वा पत्न्यां चन्द्रलेखायामपि मातृत्वमाविष्करोति मातृसूक्तं देवीसूक्तं वा स्मरन् – या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता इति। तदर्थं कदाचित् स्वकीयम् ऋषित्वं वा मातृसूक्तस्य सूक्तत्वं वा दर्शयितुकामः कथाकारः पुनरावर्तयति एकवारमन्तिमे, मन्त्रवद् उपांशुरूपेण द्विवारम्। एषा माता सत्या सनातनी सरस्वती तु नास्ति!

ऋषिस्त्वं च कविस्त्वं च सत्यरूपा ऋतम्भरा।
सुव्रता मृत्युहन्त्री त्वं सावित्री परिनिष्ठिता।।

यस्याः प्रत्युत्तरेण त्रिपाठिलेखनीं नमन्नपि ऋषिकल्पो दयानन्दभार्गवो अपश्यत् त्रिपाठिसूक्तम्-

त्रिपाठीति काव्यविदं शश्रमणं दिवे दिवे सुमृळीकं वृणीमहे।
उरुगायः कविक्रतुः क्रान्तद्रष्टा विचर्षणिं दैवीं वाचं नमस्यति।। (पृ. 8, सरस्वतीसौरभम्, 1-2)

(vi) नारीसंवेदना- मातृसंस्कृतेर्जयगानमतिरिच्य अत्र अन्यनारीपात्राणि अपि स्वमहत्त्वं प्रतिपादयन्ति। तानि विवशतामनुभवन्ति सत्यं वाचकेषु कारुण्यं पूरयितुमलं सन्ति। ठक्कुरस्य सूतस्य विशाखस्य च करुणाप्लाविता विधवा कालिन्दी शेषे स्वश्वशुरं रक्षति, कालीरूपेण त्रिशूलं धारयित्वा कापालिकं प्रहृत्य। काचित् पितुः और्ध्वदेहिकं संस्कारमपि कृतवती काचित् स्त्रीयाजकेन। विधवाविवाहमपि वर्णयति कथाकारः। दाने प्राप्तायाः स्त्रियाः सामाजिकस्थितेः वर्णनमित्थं करोति – सर्वेभ्यः स एकैकां दासीं दाने अददात्। .. .. पंक्तिषु स्थापिताः यस्य या रुचिता भवेत् सा ग्राह्या इति चोक्तम्। (पृ. 32) वैवश्यं विस्तारयति विशाखस्य द्वितीया माता- अहं पिशाची नास्मि, अहं विवशाऽस्मि, सन्तप्तास्मि, मम केवलमयमेवापराधो यद्रूपवती नीचकुले प्रसूता च। (पृ. 44) चन्द्रलेखाविषये वदति- दिनद्वयं तेषां वन्दिनी। तैः सा निर्दयं भुक्ता। अर्धमूर्च्छिता च वितस्तायास्तटे त्यक्ता। (पृ. 205)

(vii) नूतनशब्दनिर्माणम्- अद्यावधि अस्माभिः लक्ष्यते यत्, नूतनशब्दगठनव्याजेन किं किं न गठितवन्तः किं वा न त्रोटितवन्तो जनाः। परन्तु अत्र आचार्येण यत् श्लाघनीयं साधितमस्ति तत्तु पुरातनप्रसिद्धशब्दानां व्यवहारे आनयनम्। यथा- ठक्कुरः, तुम्बिकम्, प्रतन्वती, वीरुत्, अलसाला, फलिनी, शृङ्गाटकः, पतद्ग्रहः, शालाक्यं, शशः, स्त्रीयाजकः, कौमारभृत्यं, अंकोलः, अक्षोटः, परिवेणः, उपहस्तिका, हसन्ती, द्रङ्गः,

कपिशीर्षकम्। समेषां सन्दर्भाः अपि दत्ताः सन्ति। तदानीन्तन-नगरनामानि अपि संस्कृतीकृतानि एव- भद्रपुरी (भदौही), ऋषिरसा (सिरसा), पुष्कलपुरम् (पेशावर), इरावती (रावी), शाकलपुरम् (स्यालकोटनगर)। एवमेव सूक्ति-प्रवचनानां (मुहावराणां) संस्कृतीकरणं दर्शनीयमेव - कियतां घटानां वारि निपीतम् (पृ.16) इत्यादि। तत्र कारणद्वयं स्यात्- 1. कनिष्ककाले कथावाचकस्य प्रापणम्, 2. विस्मृतप्रायाणां शब्दानामादर्शरूपेण प्रयोगः। उक्तं खलु - एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः ..इति महाभाष्यकारेण।

(viii) परम्पराणां खण्डनं मानवीयमूल्यानां संस्थापना च- वास्तवस्य पक्षधर औपन्यासिकः शाश्वतिकमानवीयमूल्यानां संस्थापनार्थं रूढिनां खण्डनमपि करोति। मातृदर्शनं, स्वर्गरचनं, स्त्रीयाजकं वर्णयता तेन प्रतिपादितं यत् - अहं जन्मना जातिं न मन्ये (पृ.6), मातुः ऋणं भवति (पृ.13), न स्वर्गो न वा नरकः (पृ.230), ऋषयः ऋग्भिः स्वर्गं रचयन्ति स्म (पृ.25), भवतो वासुदेवस्य कथनं न निर्दुष्टम् (पृ.92)। अस्मिन् महादेशे एतावन्तो धर्मसम्प्रदायाः, एतावन्तो भेदाः, परस्परं कलहः। अयं कलहो निवारणीयः, यस्य मनो यं धर्ममभिनिविशते स तं धर्मं निर्वहतु, परन्तु अन्यस्य न छिनत्तु। मूलं तु सर्वेषामयमेव मन्त्रः - आत्मा प्रथमं ज्ञातव्यः इति (पृ.198), देवो नास्ति, वेदो नास्ति, अस्ति केवलं मनुष्यः (पृ.21)।

(ix) परम्पराणां सातत्यं नवीकरणं च- उपन्यासोऽयं भारतीयपरम्पराणां व्रतोपवासपूजापर्वणां, पशुपक्षिवृक्षलतानां, मासानामृतूनामन्ततोगत्वा निसर्गलक्ष्म्याः काव्यमयविन्यासं करोति। शताधिकवन्यपशुपक्षिणां निरूपणं कृत्वा शताधिकभारतीयपर्वणां समुज्ज्वलवर्णनं विदधाति, ऋतुचित्रं च नित्यनूतनरूपेण विस्तारयति कथाकारः विशाखरूपेण। विद्या-विद्यास्थान-शास्त्रागम-मन्त्र-तन्त्र-राग- सङ्गीत-साधानाभिः उपन्यासस्य प्रतिपुटं परिव्याप्तं वर्तते। मार्गे आगताः सङ्गम-प्रतिष्ठानपुर-विदिशा-दशार्णदेश-मथुराः वर्णिताः, क्रमप्राप्ताः वैदेशिकाः, बौद्धाः भिक्षवश्चापि वर्णिताः, पुरुरवोर्वश्युपाख्यानस्य, मेघदूतस्य च वर्णनमत्र लभ्यते। मातुः स्मरन् तस्याः व्रताचरणानि स्मरति विशाखः, ठक्कुरस्य कुशूले विविधधान्यानि पश्यति, आयुर्वेदाचार्यस्य वाटिकायां वृक्षाणां साक्षात्कारं करोति। कुलव्रताचरणविषये विशाखमाता वदति- इमानि व्रतानि मम मात्रा उपदिष्टानि। तस्यै तस्या मात्रा .. .. मम मातामह्या ....उपदिष्टानि। इमानि अस्माकं कुलव्रतानि। मातुः गौरवं तु सर्वेभ्यः अतिरिच्यते। मातुरुपदेशात् कुलधर्माच्च व्रतमाचरामि। कुलधर्मं न हास्यामि। (पृ.11) नलिनीदलगतजलस्येव तरलजीवनस्य चित्रीकरणे आचार्यस्य लेखनी महीयते। उक्तञ्च दयानन्दभार्गवेण-आग्रमध्यान्तग्रन्थिभिर्विमुक्ता सौख्यदायिनी। जयतान्निर्ग्रन्थिः श्रीमद्राधावल्लभलेखनी।

(x) हठात् समापनम्- अद्यतनीयकथासंसारस्य समापनं ज्ञातसारेण न मधुरीक्रियते न वा वृथोपदशैः भाराक्रान्तं, यत्र कुत्रापि कथा समाप्यते, येन पाठकस्तदनन्तरमपि चिन्तयितुं बाध्यो भवति। "तदानीमेव सुश्रवा आगतः। स आह- इदानीं सर्वमुपपन्नं जातम्। कनिष्कस्य सैन्यं पृष्ठतः आगतम्। पलायमानो नरो विधृतः।" एवमेव सहसा समाप्तोऽयमुपन्यासः।

(xi) लक्षणस्य सङ्गमनम्- कविगतसमाधिनिष्यन्दभूतं विविधविद्यावदातं सकलशास्त्रतत्त्वसमन्वितं जीवनस्य सर्वाङ्गीणं रूपं निर्दिशत् जगतो नानावस्थानां परिज्ञाने प्रमाणभूतमभिनवकल्पनाभिरामं काव्यमुत्तमोत्तमम्।' एवमेव आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकेति त्रिषु स्तरेषु चरितार्थतां गतं काव्यमेव भारतीयतायाः प्रतिमानं भवेदिति उत्तमोत्तमकाव्यलक्षणं सुष्ठु संगच्छेत् तत्र। अथवा जीवनस्यैकदेशनिरूपणपरमाख्यानं कथा, गद्यबद्ध उपन्यासो महाकाव्यमयी कथा। इति राधावल्लभीयं लक्षणमपि सुष्ठु सङ्गच्छते। त्रिपाठिवर्यस्य वाक्यमेव महाकाव्यमयत्वं भजते इति का कथा उपन्यासस्य?

अन्ततो शर्ममञ्जुलतायाः वचोभिः स्ववचनमाविष्करोमि तावत्- *अतः अन्यच्च परम्पराओं को बताने की गाथा है, शास्त्रों को पहुँचाने का प्रयास है और विज्ञान को सिद्ध करने की प्रयोगशाला है। यह एक ऐसा*

विलक्षण उपन्यास है जिसने अपनी प्रस्तुति से संस्कृत-उपन्यासों के मध्य एक दीर्घ रेखा खींच दी है अब हम सिर्फ दूसरी रेखा का इन्तजार कर सकते हैं। सत्यमेव एस्.एल्.भैरप्पस्य सार्थः-धर्मश्रीः-आवरणादि-कन्नड-उपन्यासान्, मनोजदासस्य अमृतफलम्, प्रतिभारायस्य याज्ञसेन्यादि-ओडिआउपन्यासान् विहाय प्रान्तीयभाषायामपि सर्वगुणसम्पन्नोपन्यासानामभावो लक्ष्यते। किं पुनः संस्कृते ? अन्यच्च उपन्यासः तस्यां श्रेण्यामागच्छति, तथा च शिवराजविजयेन समारब्धस्य संस्कृतोपन्यासस्य साम्राज्यस्य अवसानं संसूचयन् नूतनसाम्राज्यस्य अयमारम्भं विदधाति।।

अन्यच्च; ले.राधावल्लभ त्रिपाठी; प्रकाशकः संस्कृतभारती, झंडेवालान, करोल बाग, नई दिल्ली, प्र.सं. 2011

नारायणदाशः

● **रामकृष्ण आवासीय महाविद्यालय, नरेन्द्रपुरम्, कोलकाता (पश्चिम बंगाल)**



गैर्वाणी-गौरव-ग्रन्थमाला - 30
गैर्वाणवाणी-गौरवभूत-प्रत्न-नूतन-लघु-ग्रन्थानां सङ्कलनम्
गङ्गानाथझापरिसरशोधपत्रिकायाः परिशिष्टम्

प्रधान-सम्पादकः
सर्वनारायण झा

पुराण-प्रमाण-सन्दर्भः

सम्पादिका
शैलजा पाण्डेय



राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्
गङ्गानाथझापरिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्
प्रयागः 211002
2012

ISSN 0377-0575

Published under *Gairvāṇavāṇi-Gaurava-Granthamālā*
Series-30

Chief Editor
Sarva Narayan Jha

Purāṇa-Pramāṇa-Sandarbhaḥ

Edited by
Shailja Pandey



Rashtriya Sanskrit Sansthan
Ganganath Jha Campus
Chandrashekhar Azad Park
Allahaad - 211002
2012

प्ररोचना

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिता सर्वे पुराणे नात्र संशयः।।

–नारदीय–पुराण 2.94.96

पुराण भारतीय संस्कृति के आधारपीठ हैं। इनकी प्राचीनता इसके अभिधान में ही सन्निहित हैं। आचार्य यास्क के निरुक्त (3.19) में इस शब्द की व्याख्या 'पुरानवं भवति' (जो प्राचीन होकर भी नया है) की है। पुराणों में भी इसकी विभिन्न व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं–

1. यस्मात् पुरा ह्यनक्तीदं पुराणम् – वायु. 1.203
2. पुरा परम्परां वष्टि – पद्म. 5.2.53
3. पुरा एतत् अभूत् – ब्रह्माण्ड. 1.1.163

ये सभी व्युत्पत्तियाँ पुराणों की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं। पुराणों का इतिहास से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रायः प्राचीन ग्रन्थों में इतिहास–पुराण शब्द का प्रयोग एक साथ प्राप्त होता है। इन्हें पञ्चम वेद कहा गया है–

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

–छान्दोग्य–उपनिषद्, 7.1

किन्तु इन दोनों इतिहास एवं पुराण में एक दूसरे से पार्थक्य भी दृष्टिगोचर होता है। आचार्य यास्क के निरुक्त में ऐतिहासिकों का स्वतंत्र रूप से निर्देश स्थान–स्थान (2.3.1, 2.7.2) पर प्राप्त होता है। इतिहास शब्द का मूल अर्थ प्राचीन समय में घटित वास्तविक घटना है–

निदानभूतः 'इति ह एवमासीत्' इति य उच्यते स इतिहासः।

–निरुक्त 2.3.1 पर दुर्गाचार्य का भाष्य

अथर्ववेद एवं ब्राह्मणग्रन्थों में इतिहास शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है एवं पुराण से भिन्न है। सामान्यतया इतिहास शब्द से महाभारत का ग्रहण होता है किन्तु विद्वान् रामायण को भी इतिहास के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं।[1]

इतिहास एवं पुराण का पार्थक्य प्राचीन वाङ्मय में स्पष्ट रूप से नहीं प्राप्त होता है। महाभारत में एक स्थान पर इसे इतिहास तो दूसरे स्थान पर इसे पुराण भी कहा गया है–

---

1. उपाध्याय, बलदेव–पुराणविमर्श, पृ.5।

द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा।

–महाभारत, आदि., 1.16.

अपरतः वायु पुराण में इसके पुरातन इतिहास होने का उल्लेख प्राप्त होता है–

इमं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम् ।

–वायु., 103.48.

इस प्रकार प्राचीन काल में इन दोनों में स्पष्ट पार्थक्य नहीं प्रतीत होता है। आगे चलकर आचार्य शंकर ने इन दोनों का पार्थक्य स्पष्ट किया।[2] उनके अनुसार इतिहास एवं पुराण दोनों ही वेद-मूलक हैं। पुरुरवा-उर्वशी संवाद ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण (11.5.1.1) में प्राप्त होता है। यह इतिहास है तथा सृष्टि-प्रक्रिया परक वैदिक सूक्त पुराण है। इसी प्रकार प्राचीन आख्यान एवं आख्यायिका के अंश इतिहास के अन्तर्गत आते हैं–

इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी हाप्सरा' इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम् 'असद्वा इदमग्र आसीदित्यादि'–

बृहद्देवता में ऋषियों द्वारा वर्णित पुरावृत्त को ही इतिहास कहा गया है–

'इतिहासः पुरावृत्तम् ऋषिभिः परिकीर्त्यते– 4.46 अमरकोश (1.6.4) में भी 'इतिहासः पुरावृत्तम्' प्राप्त होता है।

किन्तु सायण का मत इससे विपरीत है। वे पुरुरवा-उर्वशी (शतपथ., 15.5.1.1) को पुराण एवं सृष्टि प्रक्रिया (शतपथ.,11.1.6.1) प्रसंग को इतिहास मानते है।

इस प्रकार पुराण एवं इतिहास शब्द का पृथक् प्रयोग तो प्राप्त होता है किन्तु प्रायः इनका स्पष्ट विभाजन नहीं प्राप्त होता है।

पुराणों की प्राचीनता

पुराण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद (3.54.9, 58.6, 10.130.6) से प्राप्त होने लगता है किन्तु यहाँ प्राचीनता के अर्थ में प्रयुक्त है। अथर्ववेद में सर्वप्रथम इसका उल्लेख एक विद्या के रूप में प्राप्त होता है जिसका उद्‌भव वेदों के साथ परम तत्त्व से हुआ–

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि वेदा दिविश्रिताः ॥

–अथर्ववेद 11.7.4.

वहीं पुराण शब्द का प्रयोग इतिहास, गाथा तथा नाराशंसी के साथ एक विद्या के रूप में प्राप्त होता है–

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्।

–अथर्ववेद, 15.1.6.11

---

2. वहीं, पृ.6।

पुराण-विद्या का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। गोपथब्राह्मण (पूर्वभाग, 2.10.) में इसकी उत्पत्ति वेदों के साथ कही गई। इसकी गणना वेद पञ्चक (सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहास वेद एवं पुराण वेद) के अन्तर्गत की गई। इनकी उत्पत्ति की दिशायें इस प्रकार हैं-

स खलु प्राच्या एवं दिशः सर्पवेदं निरभिमत, दक्षिणस्यां पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्। -गोपथब्राह्मण, 1.10

शतपथब्राह्मण में अनेक ऐसे प्रकरण हैं जहाँ पुराणों के स्वाध्याय का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अनेक उद्धरण इस ग्रन्थ में उल्लिखित हैं।

पुराणों के सन्दर्भ आरण्यक एवं उपनिषदों में भी प्राप्त होते हैं। तैत्तिरीय-आरण्यक में ब्रह्मयज्ञ के प्रकरण में इतिहास के साथ पुराण का उल्लेख प्राप्त होता है-

ब्रह्मयज्ञप्रकरणे-यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथान्....।

-तैत्ति.आर., 2 प्रपा., 9 अनुवाक

इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद् में भी पुराण एवं इतिहास का उल्लेख प्राप्त होता है एवं इसे पाँचवाँ वेद कहा गया है -

1. *पुराणं पञ्चमं वेदानां वेद - 7.1.2*
2. *इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेद - 7.1.4*
3. *सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमम् - 6.2.1*

इनके अतिरिक्त आश्वलायनगृह्यसूत्र (3.1.1, 4.6,आदि), आपस्तम्बधर्मसूत्र आदि में भी पुराणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पुराणों के उल्लेख महाभारत, वाल्मीकि-रामायण, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, गौतमधर्मसूत्र, व्यासस्मृति, मनुस्मृति उशनसस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं।

इनके अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थों में भी पुराणों का उल्लेख एवं उनमें वर्णित विषयों पर विचार किया गया है। इनमें शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट, शंकराचार्य आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[3]

वेद एवं पुराण

प्रायः वैदिक ग्रन्थों में पुराणों को वेद के सदृश ही महत्त्व दिया गया है। वैदिक सन्दर्भों पर विचार करने से जो तथ्य स्पष्ट होते हैं उनके अनुसार चारों वेदों के समान ही पुराणों का भी महत्त्व है एवं वेदों के साथ ही पुराणों की भी सत्ता थी, इसीलिये इन्हें पञ्चम वेद कहा गया है। ये केवल उल्लेखनीय ग्रन्थ ही नहीं थे, बल्कि इनका भी अध्ययन किये जाने वाले विषयों में स्थान था।

दूसरे, पुराणों का स्थान वेद से न्यून नहीं था। इनसे वेदार्थ का उपबृंहण होता था। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है -

---

3. उपाध्याय, बलदेव-पुराणविमर्श, पृ. 26-31।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इतना ही नहीं–

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्सना प्रकाशिता।

–आदिपर्व, 1.86.

वेद में पारगत व्यक्ति का लक्षण करते हुये व्याससमृति में कहा गया है कि वही व्यक्ति 'वेदपारग' हो सकता है जिसने वेदों की मीमांसा षडंगों के साथ तथा इतिहास एवं पुराण की भी मीमांसा की हो–

मीमांसते च यो वेदान् षड्भिरङ्गैः सविस्तरैः।
इतिहासपुराणानि स भवेद् वेदपारगः।।

–व्यासस्मृति, 4.45

इस विद्या का स्वाध्याय की दृष्टि से वेदों के सदृश ही अत्यन्त महत्त्व रहा है। स्मृतिग्रन्थों के अनुसार पुराणों का स्वाध्याय देवों एवं पितरों दोनों को तृप्ति प्रदान करता है–

वाकोवाक्यं पुराणं च तर्पणं स दिवौकसाम्।
करोति तृप्तिं च तथा पितॄणां मधुसर्पिषा।।

–याज्ञ. स्मृति, 1.45.46

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यातानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च।।

–मनु., 3.232

पुराण को वेदों के सदृश ही स्वीकार करने के सन्दर्भ में श्रीजीवगोस्वामी द्वारा की गई पुराण शब्द की व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है। उन्होंने वेद के उपबृंहण के प्रसंग में पुराण शब्द की व्युत्पत्ति 'पुराणं पूरणात्' की है। अर्थात् पुराण वेदार्थ का पूरण करता है–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। इति पूरणात् पुराणमिति चान्यत्र। न चावेदेन वेदस्य बृंहणं सम्भवति, नहीं अपूर्णस्य कनकवलयस्य त्रपुणा पूरणं युज्यते।

–भागवतसन्दर्भ, पृ. 17, (कलकत्ता संस्करण)

पुराण–प्रामाण्य

प्रकृत ग्रन्थ में पुराणों का प्रामाण्य–विवेचन ही वर्ण्य–विषय है। इस विषय पर दार्शनिकों ने पर्याप्त विचार किया है।[4] इसका प्रबल प्रमाण वेदों के कथन हैं। वेद स्वतःसिद्ध हैं, अतः वेदों के कथन भी स्वतःसिद्ध हैं। पुराणों के प्रामाण्य के सन्दर्भ में न्यायभाष्य के रचयिता वात्स्यायन कहते हैं–

य एव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहापुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति विषयव्यवस्थापनाच्च

---

4. उपाध्याय, बलदेव–पुराणविमर्श, पृ. 220–224।

यथाविषयं प्रामाण्यम्[5]

कुमारिल भट्ट ने भी इतिहास-पुराण के प्रामाण्य पर चिन्तन किया है। उनके अनुसार स्मृति-ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म एवं मोक्षविषयक विवेचन वेदों से गृहीत हैं तथा अर्थादिपरक चिन्तन लोक-व्यवहार पर आधारित है। अतः स्मृतियों के विषय में वेद एवं लोक दोनों ही प्रमाण है। यही स्थिति पुराण एवं इतिहास के विषय में भी है। वैदिक विषयों की उपाख्यानों के रूप में प्रस्तुति वैदिक अर्थवाद है। पुराणों में वर्णित पृथिवी के विभाग, तीर्थस्थल, धर्माधर्म-विवेचन, भुवनकोष, ब्राह्मण, क्षत्रियादिकों का वंश-वर्णन आदि भाग वेद एवं लोक दोनों पर आधारित होने के कारण प्रामाणिक हैं। भविष्यफल-कथन वेद पर आश्रित है। इस प्रकार इतिहास एवं पुराण प्रामाणिक हैं-

एषैव इतिहासपुराणयोरप्युपदेशवाक्यानां गतिः। उपाख्यानानि अर्थवादेषु व्याख्यातानि। यत्तु पृथिवीविभागकथनं तद्धर्माधर्मसाधनफलोपभोगप्रदेशविवेकाय किञ्चिद् दर्शनपूर्वकं किञ्चिद् वेदमूलम्। वंशानुक्रमणमपि ब्राह्मणक्षत्रियजातिगोत्रज्ञानार्थदर्शनस्मरणमूलम्। देशकालपरिमाणमपि लोकज्योतिः शास्त्रव्यवहारसिद्ध्यर्थं दर्शनगणितसम्प्रदानानुमानपूर्वकम्। भाविकथनमपि त्वनादिकालप्रवृत्तयुगस्वभावधर्माधर्मानुष्ठान-फलविपाकवैचित्र्यज्ञानद्वारेण वेदमूलम्।

– जैमिनीयसूत्र 1.3.1 पर तन्त्रवार्तिक[6]

शङ्कराचार्य ने भी पुराणों के प्रामाण्य पर अपने शारीरकभाष्य में विचार किया है। इनके अनुसार- 'समूलमितिहासपुराणम्'। इतिहास एवं पुराण वेदमूलक हैं। देवों के शरीर धारण के पौराणिक प्रसंगों को लेकर उनका मत है कि भले हि वे वेद-मन्त्रों के अर्थवाद हों तो भी उनकी वेद-मूलकता एवं प्रामाण्य सिद्ध होता है। देवों का सान्निध्य एवं उनसे सम्भाषण के प्रमाण में भी योगसूत्र- 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः'-2.44, को उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार मन्त्रों के जपादि से देव-दर्शन एवं उनसे सम्भाषण असम्भव नहीं है तथा पुराणादिकों में व्यासादि ऋषियों का देवताओं से प्रत्यक्ष व्यवहार सम्भव है।

इस प्रकार वेदकाल से परवर्ती साहित्य तक इतिहास एवं पुराण के प्रामाण्य के साक्ष्य प्राप्त होते हैं एवं उनकी गम्भीर विवेचना भी प्राप्त होती है।

इतिहास एवं पुराण में पार्थक्य

वैदिक साहित्य में प्रायः इतिहास एवं पुराण का एक साथ प्रयोग प्राप्त होता है। ये समस्त पद के रूप में प्रयुक्त होते हैं किन्तु ये दोनों पद पृथक् है एवं उनके पृथक्-पृथक् होने का उल्लेख इस हस्तलेख में भी विवेचित है।

शतपथब्राह्मण ने अपने उद्धरणों में 'इतिहासपुराण' पद का प्रयोग किया है। किन्तु इसी ग्रन्थ में इनका पार्थक्य भी विवेचित है। पारिलवाख्यान में इसका स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है। यज्ञ के अवसर पर इतिहास का प्रवचन अष्टम रात्रि को होता है तथा पुराण का प्रवचन नवम रात्रि को होता है।

---

5. वहीं, पृ. 220।

6. वहीं, पृ. 222।

इतिहास का उद्धरण शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार है-

अथाष्टमेऽहन्........स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति किञ्चिदितिहासमाचक्षीत।

-शतपथ., 13.4.3.12.

यज्ञ के आठवें दिन (यज्ञान्त के पश्चात् सायंकाल) मत्स्योपजीवी उपस्थित होते हैं। उन्हें इतिहास ही वेद है ऐसा उपदेश दिया जाना चाहिये तथा इतिहास-परक कुछ प्रवचन देना चाहिये।

पुराण का प्रवचन नौवें दिन होता है। इस समागम में पुराण ही वेद हैं, इसका उपदेश दिया जाता है । इसके पश्चात् कुछ पौराणिक प्रवचन होता है-

अथ नवमेऽहन्..........तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत।

- शतपथ 13.4.3.13

गोपथ-ब्राह्मण भी पुराण को इतिहास से पृथक् निर्देशित करता है-

असुरवेदमुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्योर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्। -गोपथ ब्राह्मण, 1.10

इतिहास एवं पुराण का पृथक्-पृथक् उल्लेख इस उद्धरण में भी द्रष्टव्य है-

एवमिमे सर्वे वेदाः निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः।

-गोपथब्राह्मण 2.10

इस प्रकार समस्त पद होते हुये भी इतिहास एवं पुराण एक दूसरे से पार्थक्य रखते हैं।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

प्रस्तुत मातृका में पुराणों से सम्बद्ध संस्कृत-वाङ्मय में प्राप्त प्रमाणों को लेखक ने प्रस्तुत किया है। ये प्रमाण वैदिक साहित्य से लेकर पौराणिक वाङ्मय, मनुस्मृति आदि अन्य ग्रन्थों से भी उद्घृत है। इन सन्दर्भों पर ग्रन्थकार ने तार्किक रीति से समीक्षा प्रस्तुत की है।

वैदिक वाङ्मय

ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण से सन्दर्भ संगृहीत किये है। यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के इस ब्राह्मण के 11 वें अध्याय में वेद की चारों ऋग्वेदादि संहिताओं के स्वाध्याय के पृथक्-पृथक् फल कहे गये हैं। इतिहास पुराण का स्वाध्याय करने वाले विद्वान् की प्रशंसा के दो सन्दर्भ शतपथ-ब्राह्मण से इस मातृका में संग्रहीत हैं-

१. जो विद्वान् स्वाध्याय में प्रतिदिन इतिहास-पुराण का अध्ययन करता है, वह मानों देवों को मधु की आहुति देता है-

वाकोवाक्यमितिहासपुराणगाथानाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमध्वाते मध्वाहुतिभिरेव।

२. जो विद्वान् स्वाध्याय में प्रतिदिन इतिहास-पुराण का अध्ययन करता है, वह मानों देवताओं को क्षीरौदन एवं मांसौदन से तृप्त करता है। तृप्त देव-गण स्वाध्यायी को सभी अभिलषित पदार्थों एवं भोगों से तृप्त करते हैं-

क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह व एष देवाँस्तर्पयति। य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्ता।

आश्वलायन-गृह्यसूत्र में पंचयज्ञ प्रकरण में स्वाध्याय यज्ञ का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें जिन विषयों का स्वाध्याय विहित है, उसमें इतिहास-पुराण का भी परिगणन किया गया है। जो इतिहास-पुराण का अध्ययन करता है वह देवों को अमृत की आहुति देता है।

शतपथ-ब्राह्मण में ही 14वें अध्याय में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद में चारों वेदों एवं अन्य शास्त्रों के साथ इतिहास-पुराण को 'महत् भूत' का निःश्वास कहा गया है। जैसे अग्नि में सम्वद्ध होते हुये भी धूम उससे पृथक् होकर विचरण करता है वैसे ही ये शास्त्र भी निःश्वास रूप से सृष्टि में विचरण करते हैं-

महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या।

छान्दोग्य के सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार एवं नारद के संवाद में इतिहास-पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि मैंने चारों वेदों के साथ पाँचवें वेद इतिहास-पुराण का भी अध्ययन किया है-

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्।

बृहदारण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद में वाणी की प्रशंसा करते हुये चारों वेदों के साथ इतिहास एवं पुराण का भी उल्लेख किया गया है-

वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या।

पौराणिक वाङ्मय

महाभारत के आदि पर्व में इतिहास एवं पुराण को वेदाध्ययन के लिये अपरिहार्य कहा गया है-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व के 90 अध्याय में पुराण के अध्ययन का उल्लेख किया गया है-

ये च भाष्यविदः केचिद्ये च व्याकरणे रताः।
अधीयते पुराणं ये धर्मशास्त्राण्यथापि च।।

इसी प्रकार विराट पर्व के 51 वें अध्याय में पुराण को वेदान्त एवं इतिहास के समकक्ष अध्ययन का विषय कहा गया है-

वेदान्ताश्च पुराणानि इतिहासं पुरातनम्।
जामदग्न्यमृते राजन् को द्रोणादधिको भवेत्।।

इसी प्रकार महाभारत के आदिपर्व में वेदों एवं उपनिषदों के साथ इतिहास एवं पुराण का उल्लेख प्राप्त होता है-

ब्रह्मवेदरहस्यं च यच्चान्यत स्थापितं मया
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया।

इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम्।।

महाभारत के ही अनुशासन पर्व में युक्तिशास्त्र, शस्त्रशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र एवं कला के साथ पुराणों का परिगणन किया गया है-

युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शस्त्रशास्त्रं च भारत
गन्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेयाः नराधिप ।
पुराणानीतिहासश्च तथाख्यानानि यानि च ।

वाल्मीकि-रामायण में बालकाण्ड में पुराण को पुरातन वृत्तों से सम्बद्ध किया गया है-

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां तत् पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम्।।

इसी प्रकार महाभाष्य के पस्पशाह्निक में अन्य वेदों के साथ पुराण का भी उल्लेख किया गया है-

एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकम्।

पुराण की समीक्षा

ग्रन्थकार ने न केवल पुराण शब्द का उल्लेख कहाँ-कहाँ हुआ है इसी का संकलन किया है अपितु पुराण का समीक्षात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार हैं-

१. सामान्यतया पुराण शब्द इतिहास के साथ परिलक्षित होता है किन्तु इतिहास एवं पुराण में भेद है। सभी स्थलों पर इतिहास शब्द से महाभारत ग्रहण करना चाहिये एवं पुराण शब्द से मार्कण्डेय आदि पुराणों का ग्रहण करना चाहिये-

अत्र सर्वत्रेतिहासशब्देन भारतादिर्गृह्यते पुराणशब्देन मार्कण्डेयादिश्य गृह्यते।

२. महाभाष्य में भी इतिहास एवं पुराण का पृथक्-पृथक् उल्लेख प्राप्त होता है। पुराण आख्यान व्याख्यान एवं आख्यायिका से भी पृथक् है क्योंकि इन शब्दों का पृथक् प्रयोग प्राप्त होता है-

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च पुराणानि खिलानि च।।

मनुस्मृति के इस श्लोक पर ग्रन्थकार में विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते हुये पुराण शब्द को इतिहास, आख्यान, खिल, व्याख्यान आख्यायिका आदि से पृथक् सिद्ध किया है।

३. ग्रन्थवाची पुराण शब्द नपुंसक लिंग होता है किन्तु यह शब्द विशेषण बनने पर विशेष्य के अनुसार लिंग युक्त बन जाता है-

ग्रन्थविशेषवाचकः पुराणशब्दो नपुंसकः-यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणीत्यादिप्रामाण्यात् विशेषवाचकः स्त्रीलिङ्ग इति।

इस प्रकार पुराण के सन्दर्भ के प्रभूत प्रमाण महाभाष्यादिग्रन्थों में प्राप्त होते है। ग्रन्थकार के मन में यह प्रश्न उठता है कि इन ग्रन्थों में प्राप्त साक्ष्यों को प्रतिपक्ष मुख से निकले वचन मानकर इन्हें मिथ्या न मान ले । ग्रन्थकार इन्हें उसी प्रकार से सत्य मानता है जिस प्रकार इन ग्रन्थों में प्राप्त

देवप्रतिभा के विषय में साक्ष्य अमिथ्या हैं-

बहूनि प्रमाणानि महाभाषबृहदारण्यछान्दोग्याश्वलायनगृह्यसूत्रमनुस्मृतिमहाभारतरामायणा- दिषुसन्तीति केवलं स्वमुखानिःसृतवाङ्मात्रेणैव तेषां मिथ्यात्वं न भविष्यति। तेषाममिथ्यात्वे तत्प्रतिपादितदेवप्रतिमादीनाममिथ्यात्वं स्पष्टतरम्।

देवविषयक प्रामाण्य के सन्दर्भ में ग्रन्थकर्ता सामवेद के अद्भुतशान्ति, निरुक्त के देवताकार चिन्तन, महाभाष्य के देवमूर्तियों के निर्माण, सुश्रुत संहिता में शारीरस्थान प्रकरण में गर्भिणी के दोहद-विचार, महाभारत के एकलव्योपाख्यान में गुरु द्रोण की मृत्तिका-निर्मित प्रतिमा एवं उसमें एकलव्य की अविचल गुरुभक्ति तथा निश्चल श्रद्धा के प्रभाव से धनुर्विद्या में प्राप्त उसकी पारङ्गतता, महाभारत में ही कौरवों के देवालय में देवप्रतिमाओं में विक्षोभ का दृष्टिगत होना, मनुस्मृति में देवागार एवं देवप्रतिमाओं के सम्बन्ध में विचार, हरिवंश पुराण में विधवा स्त्री के धर्म की चर्चा में चित्रलिखित अथवा मृण्मयी पति का प्रतिमा की पूजा का निर्देश आदि के प्रसंगों से शब्दप्रामाण्य को स्थापित करता है। ग्रन्थकार यह भी कहता है कि शास्त्र-प्रमाण से ही लोक कार्य एवं अकार्य की व्यवस्था को ग्रहण करता है -

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थिताविति
पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदचिकित्सितम्।
आज्ञा सिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः।

ग्रन्थ के उपसंहार में वासुदेव को पुराणपुरुष मान कर उनके प्रसाद की कामना की गई है -

सोऽयं माङ्गल्यादिध्येयो वासुदेवः पुराणपुरुषः प्रसीदतु।

ग्रन्थ की पुष्पिका

अपने इस हस्तलिखित ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता ने अपने को मथुरानिवासी कहते हुये अपना परिचय गौडोदय प्रकाश देव पण्डित के रूप में प्रस्तुत किया है-

एतेन समुदितेन पुराणप्रमाणसन्दर्भे सोयं माङ्गाल्यादिध्येयो वासुदेवः पुराणपुरुषः प्रसीदतु इति मथुरानिवासिगौडोदयप्रकाशदेवपण्डितनिर्मितः पुराणप्रमाणसन्दर्भः समाप्तः।

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकर्ता

'पुराणप्रमाणसन्दर्भ' ग्रन्थ के हस्तलेख की एकमात्र प्रति गंगानाथझा परिसर, इलाहाबाद के संग्रहालय में प्राप्त है। इसके ग्रन्थ या हस्तलेख का उल्लेख अन्यत्र (आफरेख्त के 'कैटलागस कैटलागरम' तथा चेन्नई से प्रकाशित 'न्यू कैटालागस कैटालागरम' में) नहीं प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के सम्पादन का आधार एक ही हस्तलेख है।

इस ग्रन्थ के ग्रन्थकर्ता के विषय में जो सूचना प्राप्त होती है उसका आधार इस हस्तलेख में प्राप्त सूचना ही है। इस ग्रन्थ के मुखपृष्ठ के अनुसार श्री उदयप्रकाशदेव पण्डित इस ग्रन्थ के कर्ता हैं जो मथुरा के निवासी हैं। ये वेदविद्या में पारंगत एवं वैयाकरण कहे गये हैं। इन्होंने पुराणों के प्रमाण्य पर सन्देह करने वालों के संदेह का निराकरण करने के लिये इस ग्रन्थ की रचना की-

इदानींतना बहवो जनास्सनातनाम्नायसिद्धे प्रसिद्धे पुराणादौ संदिहाना न विश्वसन्ति। तेषामुपरि परमकृपया स्वरसंचारानुपूर्वी वेदविद्यानिष्णातो वैयाकरणो मथुरानिवासि- श्रीमदुदयप्रकाशदेवपण्डितः पुराणप्रमाणसन्दर्भं निर्मितवान्।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकर्ता के रूप में उदयप्रकाशदेव के स्थान पर 'गौडोदयप्रकाश' लिखा है -

---बुधानां परितोषाय मुग्धसंशीतिहानये। गौडोदयप्रकाशेन सन्दर्भोऽयं प्रकाश्यते।

इस ग्रन्थ की पुष्पिका में भी गौडोदयप्रकाश नाम प्राप्त होता है-

इति श्री मथुरानिवासिगौडोदयप्रकाशदेवपण्डितनिर्मितः पुराणप्रमाणसन्दर्भः समाप्तः ।

सम्भवतः श्री उदयप्रकाशदेवपण्डित का ही नाम गौडोदयप्रकाशेदव पण्डित है।

लिपिकर्ता एवं प्रकाशक-

इस हस्तलेख के लेखक (लिपिकर्ता) पण्डित जनार्दन काश्मीरी हैं-

लिखितं पण्डितजनार्दन काश्मीरी।

मुद्रण -

इस हस्तलेख का मुद्रण (लीथो) सन् 1876 ईस्वी, संवत् 1933 में अमृतसर में हुआ। इसकी छपाई श्रीवैष्णवसभा के अधिकारी श्री शालिग्रामाचार्य द्विवेद के द्वारा कराई गई, जिसकी संख्या 500 थी-

ते च सरयूपारीयशालिग्रामाचार्यो द्विवेदोपाख्योहं मुद्रयितुमुदयंसिषममृतसरसनाम्नि नगरे पञ्चनददेशो लोकानामुपकरायेत्यलमनल्पेनसंख्या 500-

श्रीवैष्णवसभाधिकारी श्रीशालग्रामाचारी जी के आज्ञानुसार छपा

लिखितं पण्डित जर्नादन काश्मीरी अमृतसर संवत् 1933 सन् 1878 इस्वी.

पाठालोचन एवं सम्पादन-

प्रस्तुत ग्रन्थ का एक ही हस्तलेख प्राप्त हो सकने के कारण पाठ-भेद हेतु दूसरे हस्तलेख का सहयोग लेना सम्भव नहीं था, किन्तु इस ग्रन्थ में प्राप्त उद्धरणों के मूल-ग्रन्थ का अवलोकन किया गया। मूल ग्रन्थों से जिन-जिन स्थलों पर पाठान्तर प्राप्त हुआ, वहाँ-वहाँ पाद-टिप्पणी में उनका उल्लेख किया गया है। इस प्रकार हस्तलेख को यथा सम्भव उसके मूल स्वरूप को बनाये रखते हुये प्रामाणिक एवं शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

कृतवेदिता पुष्पाञ्जलि

मेरी प्रथम कृतज्ञता पुष्पाञ्जलि भगवान् शिव एवं माता पार्वती के चरणों में समर्पित है -

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

इस हस्तलेख को ग्रन्थकलेवर प्रदान करने में इस विद्यापीठ के प्राचार्य प्रो. सर्वनारायण झा जी का अप्रतिम योगदान है, जिनकी प्रेरणा से यह कार्य वर्तमान मूर्त-रूप को प्राप्त कर सका है। उन्हें

कोटिशः धन्यवाद।

इस हस्तलेख के हस्तगत कराने में इस परिसर के हस्तलेख विभाग की अध्यक्षा डॉ. बीना मिश्रा जी का सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ उन्हें मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में इस परिसर में पुस्तकालय विभाग ने समय-समय पर अभीष्ट पुस्तकें प्रदान कर सहयोग किया इसके लिये मैं पुस्तकालय विभाग के अध्यक्ष श्री रामरूप जी को एवं उनके सहयोगियों को धन्यवाद प्रदान करती हूँ।

इस ग्रन्थ के शुद्ध टङ्कण हेतु मैं श्री ओम् प्रकाश शुक्ल को धन्यवाद प्रदान करती हूँ तथा शीघ्र एवं सुन्दर प्रकाशन हेतु प्रकाशक महोदय धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्ततः इस ग्रन्थ में मानवीय तथा अज्ञतावश हुई त्रुटियों के लिये सुधीजनों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

विदुषां वंशवदा
शैलजा पाण्डेय



पुराणप्रमाणसन्दर्भः

श्रीमते रामानुजाय नमः। श्रीहरिर्विजेवीष्टम् ।

बुधानां परितोषाय मुग्धसंशीतिहानये।
गौडोदयप्रकाशेन सन्दर्भोऽयं प्रकाश्यते।।

तत्र तावत् पुराणप्रमाणं निर्णीयते। यजुर्वेदे माध्यन्दिने ब्राह्मणे शतपथे एकादशेऽध्याये तृतीयस्मिन् प्रपाठके[1] यथा-

पय आहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदृचः स य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्याय-मधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति योगक्षेमेण प्राणेन रेतसा सर्वात्मना सर्वाभिः पुण्याभिः सम्पद्भिः घृतकुल्याः मधुकुल्याः पितृन् स्वधा अभिवहन्ति।1।

आज्याहुतयो ह वा एता देवानाम्। यद्यजूँषि स य एवं विद्वान् यजूँष्यहरहः स्वाध्यायमधीत आज्याहुतिभिरेव तद्देवाँस्तर्पयति ।2।

सोमाहुतयो ह वा एता देवानाम्। यत्सामानि स य एवं विद्वान् सामान्यहरहः[2] स्वाध्यायमधीते सोमाहुतिभिरेव तद्दे0 ।3।

मेद आहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदथर्वाङ्गिरसः स य एवं[3] विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेद आहुतिभिरेव तद्दे0 ।4।

मध्वाहुतयो ह वा एता देवानाम्। यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथानाराशंस्यः स य एवं विद्वाननुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते मध्वाहुतिभिरेव तद्दे0।5।

पुनस्तत्रैव[4]-

---

1. शतपथब्राह्मण, 11.5.6.4-8 (प्रकाशित ग्रन्थ में प्राप्त सन्दर्भ)।

2. शतपथ ब्राह्मण में इस स्थान पर 'विद्वान्त्सामान्यहरहः' पाठ प्राप्त होता है।

3. मातृका में 'थर्वाङ्गि-एवं' पर्यन्त पाठ नहीं है। यह पाठ ऊपर शतपथ ब्राह्मण से लेकर रखा गया है।

4. शतपथ ब्राह्मण, 11.5.7.5-9

स्वाध्यायप्रशंसायां[5] मधु ह वा ऋचः। घृतः ह सामान्यमृतं यजूंषि यद्ध वा अयं वाकोवाक्यमधीते क्षीरौदनमाँसौदनौ हैव तौ ।1।

मधुना ह वा एष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वानृचोहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः।2।

घृतेन ह वा एष देवाँस्तर्पयति य एवं विद्वान् [6]सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्ता० ।3।

अमृतेन ह वा एष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वान् यजूंष्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्ता० ।4।

क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वा एष देवाँस्तर्पयति। य एवं विद्वान् वाकोवाक्यमितिहास-पुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्ता० ।5।

तत्रैव चतुर्दशेऽध्याये शतपथब्राह्मणे[7] मैत्रेयीं प्रति याज्ञवल्क्य आह स्म -

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्यहितात्[8] पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि[9] सर्वाणि निश्श्वसितानि।

तथा छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके[10] सनत्कुमारं प्रति नारद-

स होवाच-ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं देवनिधिं[11] वाकोवाक्यमेकायनं[12] देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमीति।

तथा बृहदारण्यके याज्ञवल्क्यजनकसंवादे[13]-

---

5. यह पाठ शतपथब्राह्मण, 11.5.7.5 में प्राप्त है। मातृका में प्राप्त पाठ 'ताभ्यामशंसायां' है।

6. शतपथ. 11.5.7.7 में 'विद्वान्त्सा.' पाठ प्राप्त होता है।

7. शतपथब्राह्मण, 14.7.3.11, बृहदारण्यक उपनिषद्, 2.4.10

8. यवान्द्रेन्धानाग्नेरव्याहितात्-बृहदारण्यक. (2.4.11) में यह पाठ प्राप्त होता है।

9. व्याख्यानानि दत्तः हुतमाशितम्पायितमयञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि-शतपथ. (14. 7.3.11) में इस स्थान पर इतना पाठ प्राप्त होता है।

10. छान्दोग्य उपनिषद्, 7.1.2

11. दैवं निधिं-छान्दोग्य. 7.1.2

12. वाक्यमेकायनं-मातृकापाठ।

13. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4.1.2

वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत। का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच। वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायते[14] ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पाचितमयं भूलोकः[15] परलोकः[16] सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राड् ब्रह्म ज्ञायते[17] वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्ममेत्यादिना वेदरूपौ वेदार्थस्य निर्णयश्चेतिहासात्मकः शब्दयन् विचारयितव्यः सुधीभिः। तथा हि महाभारते आदिपर्वण्युपक्रमणिकाध्याये[18]–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

तथा महाभाष्ये[19] – सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदास्साङ्गास्सरहस्याः बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा वाहवृच्यं नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यामितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्च्छब्दस्य प्रयोगविषय इति। तथा क्रतूक्थादिसूत्रे आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्चेति वार्तिकम्। अत्र सर्वत्रेतिहासशब्देन भारतादिर्गृह्यते, पुराणशब्देन मार्कण्डेयादिश्च गृह्यते। मानवे[20]–

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासाँश्च[21] पुराणानि खिलानि चेति।।

यत् पुराणानीति पदमाख्यानानीत्यस्य विशेषणं खिलानीत्यस्य वेति। तत्र इतिहासांश्चेति द्वितीयचकारेण पुराणपदे पदान्तरसम्बन्धस्य निराकांक्षत्वबोधानात्। किञ्च, श्राद्धे धर्माख्यानानामेव श्रोतव्यत्वे मतेश्चार्षाणामेवान्तरङ्गत्वादुपस्थितानां चिरन्तनत्वस्य प्रसिद्धौ। तत्र तद्विशेषणत्वस्य नैरर्थक्यात्, तथा पुराणशब्दो व्याख्यानपर्याय इत्यपि न संगच्छते। इतिहासः पुराणं व्याख्यानानीति बृहदारण्यश्रुतिविरोधात्। किञ्च, आख्यानाख्यायिकेतिहास-पुराणेभ्यश्च ठग्वक्तव्यम् इति वार्तिकबलात् पुराणपदवाच्यग्रन्थानामवश्यमङ्गीकर्तव्यत्वेन तेषामनूक्तौ ग्रहणाभावेऽविनाभावः। किञ्चाश्वलायनगृह्यसूत्रे तृतीयेऽध्याये पञ्चयज्ञप्रकरणे

---

14. प्रजायत–मातृकापाठ।

15. च लोकः–बृहदारण्यक., 4.1.2

16. परश्च लोकः–वहीं, 4.1.2

17. प्रज्ञायन्ते–वहीं, 4.1.2

18. महाभारत, आदि पर्व, 1.249. वायु पुराण, 1.200.1

19. महाभाष्य, पस्पशाह्निक, 'सर्वे देशान्तरे' (1.1.1, 60–सर्वे देशान्तरे 161) पर भाष्य।

20. मनुस्मृति, 3.232

21. सश्च–मनु. 3.232

स्वाध्याययज्ञनिरूपणावसरे[22]–

अथ स्वाध्यायमधीयीते ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसो ब्राह्मणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरितिहासपुराणानीति।

यदृचोऽधीते पय आहुतिभिरेव तद्देवतास्तर्पयति, यद्यजूंषि घृताहुतिभिर्यत्सामानि मध्वाहुतिभिर्यदथर्वाङ्गिरसः सोमाहुतिभिर्यद् ब्राह्मणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरितिहास-पुराणानीत्यमृताहुतिभिः ।

यदृचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पितृन् स्वधा उपक्षरन्ति, यद्यजूंषि घृतस्य कुल्या, यत्सामानि मध्वः कुल्या, यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या, यद् ब्राह्मणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरितिहासपुराणानीयत्यमृतस्य कुल्या। य यावन्मन्येत तावदधीत्यैतया परिदधाति।

नमो ब्रह्मणे नमोस्त्वग्नये नमः पृथिव्यै नमश्चोषधीभ्यो नमो वाचे नमो वाचस्पतये नमो विष्णवे महते करोमीति।

पुराणानां स्वाध्याये परिगणितत्वेन वेदाध्ययनवत्पुराणाध्ययनफलश्रवणेन च श्राद्धेऽपि पुराणानां श्रवणस्य पुण्यजनकत्वे नमःसूक्तश्लोके पुराणानीति पृथक्पदस्यैव न्यायत्वमिति सुधियो विभावयन्त एवं ते यदितिहासः पुराणमिति अनुदिनभारतस्य संज्ञेति तदप्यसत् इतिहासः पुराणमिति महाभाष्ये श्रुतौ च पदद्वयदर्शनस्य निरासावनत्वात्तेः सवयव-**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृहयेद्**-इतीतिहासपुराणाभ्यामिति द्विवचनं संगच्छते तथा तत्रैव भारतस्य श्रेष्ठत्वर्णने[23]–

नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधीभ्योऽ[24]मृतं यथा।
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम्।
यथैतानीतिहासानां[25] तथा भारतमुच्यते।।

इत्यत्र भारतस्येतिहासमात्रेभ्यः पृथक्करणे तथेतिहासः संगच्छते नापीतिहासः पुराणमिति भाष्ये प्रथमाह्निके पुराणमितीतिहासस्य विशेषणं वाच्यं।[26] यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणीति

22 आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3.3.2-4

23. महाभारत, आदि. 1.246-247

24. यथामृतम्-मूलग्रन्थ में प्राप्त पाठ, 246

25. यथैतानि विशिष्टानि-मूलग्रन्थ में प्राप्त पाठ, 246

26. गीता, 15.4

भगवदुक्तिप्रामाण्येन चिरन्तनार्थकस्य पुराणशब्दस्य वा लिङ्गत्वेन प्रकृते इतिहास इति विशेष्यगतपुंस्त्वावरोधोन तद्विशेषणे पुराणपदेपि पुल्लिङ्गनिर्देशस्यैवौचित्यान्नपुंसक-प्रदर्शनस्यासंगत्यापको नापि वैद्यकमित्यस्य विशेषणं वाच्यं विशेषणस्येतरनिवृत्तिफलकत्वेन तदितरस्य चार्वाचीनवैद्यकग्रन्थस्यापि शब्दविषयतया भाष्यकर्तुरभीष्टत्वेन तदव्यावृत्यभावे न तन्न तद्विशेषणत्वस्यैवोनौचित्यात्। अतएव पूर्वोक्तभाष्ये श्रुतौ च पुराणमिति पृथगेव सिद्धम्। तथा आख्यानाख्यायिकेति वार्तिकेन महाभाष्य उदाहरणं द्वयम् ऐतिहासिकः पौराणिक इत्यपि सिद्धम्। अतएवानुशासनिके दानधर्मे आयुष्यधर्मनिरूपणे चतुरधिकशततमेऽध्याये[27]-

पुराणमितिहासश्च तथाख्यानानि यानि च।
महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेवत॥

इत्यत्र पुराणात् पृथगितिहासोक्तिरुपद्यते। ग्रन्थविशेषवाचकः पुराणशब्दो नपुंसकः। [28]**यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणीत्यादि**प्रामाण्यात् विशेषवाचकः स्त्रीलिङ्ग इति। अथ प्रत्यक्षान् प्रमाणान् तराणि (?) आनुशासनिके दानधर्मे नवतितमेऽध्याये पाङ्क्तेयब्राह्मणनिरूपणे[29]-

ये च भाष्यंविदः केचिद्ये च व्याकरणे रताः।
अधीयते पुराणं ये धर्मशास्त्राण्यथापि च॥

इति। तथा विराटपर्वण्येकपञ्चाशत्तमेऽध्याये उत्तरणे ग्रहे[30]-

वेदान्ताश्च पुराणानि इतिहासं पुरातनम्।
जामदग्न्यमृते राजन् को द्रोणादधिको भवेद्॥

इति। तथादिपर्वण्युपक्रमणिध्याये ब्रह्माणं प्रति व्यासः[31]-

ब्रह्मवेदरहस्यं च [32]यच्चान्यत् स्थापितं मया।
साङ्गोपनिषदां[33] चैव[34] वेदानां विस्तरक्रिया॥

---

27. महाभारत, अनुशासन पर्व, 107.141

28. गीता, 15.4

29. महाभारत, अनुशासन पर्व, 90.26, 27

30. वहीं, विराट पर्व, 51.10

31. महाभारत, आदि पर्व, 1.74

32. यच्चाप्यभिहितं मया-महाभारत ग्रन्थ में प्राप्त पाठ।

33. दानां-महाभारत में प्राप्त पाठ।

34. च-ग्रन्थ में प्राप्त पाठ।

इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत्।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधां कालसंज्ञितम्॥

इति। तथा च अनुशासनिके[35]–

युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शस्त्रशास्त्रं च भारत।
गन्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेयाः नराधिप।
पुराणानिति[36]हासाश्च तथाख्यानानि यानि च।

इति। तथा वाल्मीकीये बालकाण्डे[37]–

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां तत् पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम्॥

इति। बहूनि प्रमाणनि महाभाष्यबृहदारण्यछान्दोग्याश्वलायनगृह्यसूत्र-मनुस्मृतिमहाभारतरामायणादिषुसन्तीति केवलं स्वमुखनिःसृतवाङ्मात्रेणैव तेषां मिथ्यात्वं न भविष्यति। तेषाममिथ्यात्वे तत्प्रतिपादितदेव- प्रतिमादीनाममिथ्यात्वं स्पष्टतरम्। सामवेदेऽद्भुतशान्तौ यथा प्रतिमाः हसन्ति रुदन्ति। निरुक्ते[38] यथा–

अथाकारचिन्तनं देवतानां, पुरुषविधास्स्युरित्येकम्।[39] चेतनावद् हि स्तुतयो भवन्ति। अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीषेधिपर्यन्तानि ग्रावस्तुतिर्यथा। इति तथा जीविकार्थे चापण्ये 5.3.99। अस्य भाष्ये अपण्य इत्युच्यते। तत्रेदं न सिद्ध्यति शिवः स्कन्दो विशाख इति। किं कारणं 'मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिता भवेत्तासु न स्यात् यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यतीति। '

तथा सुश्रुते शारीरस्थाने तृतीयेऽध्याये गर्भिणीदोहदविचारे[40]–

राजसंदर्शने यस्याः दोहद[41] जायते स्त्रियाः।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥

---

35. महाभारत, अनुशासन पर्व, 107.140

36. मिति-मूलग्रन्थ का पाठ।

37. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 9.1

38. निरुक्त, दैवतकाण्ड, अ. 7, पाद 2, खंड 2, 3

39. वृद्धिस्वतयोभयन्नि-मातृका-पाठ।

40. सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान, 3.22, 24

41. दौहृदं-वहीं, 3.22

देवताप्रतिमायान्तु प्रसूते पार्षदोत्तमम्।[42]
दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते।।

इति। तथा भारते आदि पर्वणि त्रिंशदधिकंशततमेऽध्याये एकलव्योपाख्याने[43]–

न स तं प्रति जग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्।
शिष्यं धनूंषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया।।

स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परन्तपः।
अरण्यं समनुप्राप्य[44] कृत्वा द्रोणं महीमयम्।।

तस्मिन्नचार्यवृत्तिं स[45] परमामास्थितस्सदा।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः।।

परया श्रद्धयोपेतो[46] योगेन परमेण च।
विमोक्षादानसंधाने लघुत्वं परमाप स।।इति।।

तथा भीष्मपर्वाणि द्वादशधिकशततमेऽध्याये[47]

देवतायतनस्थाः कौरवेन्द्रस्य देवताः।
कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च।।

इति। तथा द्वितीयेऽध्याये तत्रैव[48]–

देवताप्रतिमाश्चैव कम्पन्ति च हसन्ति च।
वमन्ति रुधिरं चास्यैः स्विद्यन्ति प्रपतन्ति च।।

इति। तथा तत्रैव तृतीयेऽध्याये च[49]–

प्रतिमाश्चालिखन्त्येताः सशस्त्राः कालचोदिताः।
अन्योन्यमभिधावन्ति शिशवो दण्डपाणयः।।

---

42. पार्षदोपमम्–वहीं, 3.24

43. महाभारत, आदि पर्व, 123. 11–14 (प्रकाशित ग्रन्थ का सन्दर्भ)

44. अरण्यमनुसंप्राप्तः–वहीं, 123.12

45. च–वहीं, 123.13

46. श्रद्धया युक्तो–वहीं, 123.14

47. महाभारत, भीष्म पर्व, 112.11

48. वहीं, भीष्म पर्व, 2.26

49. वहीं, भीष्म पर्व, 3.9 – प्रतिमाश्चालिखन्त्पन्ये।

इति। तथा मानवे[50]–

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्[51]।।

इत्यत्र मनोरुक्तिः[52]–

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।।

इति। पुनस्तत्रैव[53]–

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा।
नाक्रामेत् कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च।।

इति। पुनस्तत्रैव[54]–

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च।
सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च।।

इति। पुनस्तत्रैव[55]–

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन्।।

इत्यादिना स्पष्टं प्रतिमाः सिद्ध्यन्ति। शब्दप्रमाणकाः वयं। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।अतएव खिलेषु हरिवंशे त्रयस्त्रिंशदधिकशततमेऽध्याये भगवद्वाक्यम्[56]–

त्वतोश्मभिश्च प्रतिमां कारयित्वेह भक्तितः।
सेविष्यन्ते च यो[57] नित्यं मम यास्यन्ति ते गतिम्।।

---

50. मनुस्मृति, 4.39

51. वनस्पतीम्–मातृका में प्राप्त पाठ।

52. मनुस्मृति, 4.46

53. मनुस्मृति, 4.130

54. वहीं, 8.248

55. वहीं, 9.280

56. हरिवंश पुराण, 2.74.52 (प्रकाशित ग्रन्थ में प्राप्त सन्दर्भ)

57. शुश्रूषयन्ति ये–हरिवंश में प्राप्त पाठ।

इति। तत्रैव चत्वारिंशदधिकशततमेऽध्याये[58]–

विधवा स्त्री तु या हि स्याद् दैवयोगात् सती सति।
तस्याः वक्ष्यामि यो धर्मः पुराणोक्तः सुमध्यमे॥

पतिं संकल्पयित्वा सा चित्रस्थं वाथ मृण्मयम्।
तस्य पूजां सदा कुर्यात्सतां धर्ममनुस्मरेद्[59]॥

इति गौरीं प्रति शिववाक्यम्। अतएव भ्राजभासेति सूत्रोक्तायावच्छतो भवन्ति। सन्ति पुराणेषु बहूनि प्रमाणनि। किं पल्लवितेन, एतदुपस्थितमर्थं विहायानुपस्थितार्थस्य कल्पना न कर्तव्या। तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थिताविति।

पुराणं मानवोधर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

इति भारतीयवचनपर्यालोचनया तथा[60]–

कुरुक्षेत्रे च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इति। मानवस्य अस्मादेतद्देशजानामग्रजानामाचारः सर्वैः शिक्षितव्यो भवतीति दिक् ।

❑❑

पुष्पिका–

एतेन समुदितेन पुराणप्रमाणसन्दर्भे सोयं मङ्गल्यादिध्येयो वासुदेवः पुराणपुरुषः प्रसीदतु इति मथुरानिवासिगौडोदयप्रकाशदेवपण्डितनिर्मितः पुराणप्रमाणसन्दर्भः समाप्तः।

❑❑

58. हरिवंश पुराण, 2.81.8, 9 (प्रकाशित ग्रन्थ में प्राप्त सन्दर्भ)

59. स्मरन्–वहीं प्राप्त पाठ।

60. मनुस्मृति, 2.19.20

हिन्दी अनुवाद

श्री रामानुज को प्रणाम। यह सन्दर्भ (पुराण प्रमाण सन्दर्भ संज्ञक ग्रन्थ) विद्वानों की सन्तुष्टि के लिये तथा (इस विषय में, मुग्धजनों, अल्पज्ञों) के संशय को नष्ट करने के लिये गौडोदय प्रकाश के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

तव पुराण के प्रमाण का निर्णय किया जा रहा है। यजुर्वेद के, माध्यन्दिन (शाखा) के, शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें अध्याय में, तृतीय प्रपाठक में जैसा प्राप्त होता है-

जो ऋचायें हैं, ये देवों के लिये पय (दूध) की आहुतियाँ हैं। जो विद्वान् यह जानकर प्रतिदिन ऋचाओं से (ऋग्वेद के मन्त्रों से) स्वाध्याय करता है, वह दूध की आहुतियों से ही देवों को तृप्त करता है। वे देवता तृप्त होकर इसको (स्वाध्याय कर्ता को) योग-क्षेम के द्वारा, प्राण के द्वारा, रेतस् (वीर्य, शक्ति) के द्वारा, सब प्रकार से, सभी पुण्य सम्पत्तियों के द्वारा तृप्त करते हैं तथा पितरों को घृतकुल्या (घी की नदी) तथा मधुकुल्या द्वारा स्वधा प्रदान करते हैं। (अर्थात् पितर भी तृप्त होते हैं)।1।

जो यजुर्वेद के मन्त्र हैं वे देवों के लिये आज्य (घृत) की आहुतियाँ हैं। यह जो विद्वान् प्रतिदिन यजुर्वेद का (के मन्त्रों द्वारा) स्वाध्याय करता है, वह घृत की आहुतियों के ही द्वारा देवों को तृप्त करता है ।2।

जो सामवेद के मन्त्र हैं वे देवों के लिये सोम की आहुतियाँ है । यह जानते हुये जो विद्वान् प्रतिदिन सामवेद के मन्त्रों से स्वाध्याय करता है, वह सोमाहुतियों के ही द्वारा देवों को (तृप्त करता है) ।3।

जो अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) के मन्त्र हैं, वे देवताओं के लिये मेद की आहुतियाँ हैं। यह जानकर जो विद्वान् अथर्वाङ्गिरस का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह मेद की आहुतियों के ही द्वारा (देवों को तृप्त करता है)।4।

जो अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि विद्यायें होती हैं वे देवों के लिये मधु की आहुतियाँ होती है। यह जानकर जो विद्वान् अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य इतिहास-पुराण, गाथा, नाराशंसी आदि विद्याओं का प्रतिदिन स्वाध्याय करता है, वह मधु की आहुति से ही (देवों को तृप्त करता है) ।5।

पुनः वहीं-

स्वाध्याय की प्रशंसा में-ऋचायें मधु हैं, साम घृत हैं, यजुः अमृत हैं। यह जो वाकोवाक्य का अध्ययन करता है, दोनों क्षीरौदन एवं मांसौदन है ।1।

जो विद्वान् जानते हुये प्रतिदिन स्वाध्याय में ऋचायें पढ़ता है, वह मधु से देवों को तृप्त करता हैं। वे तृप्त हुये देवता इसे (स्वाध्यायी को) सभी कामों (अभिलषित पदार्थों) एवं सभी भोगों से तृप्त करते हैं ।2।

जो विद्वान् यह जानते हुये प्रतिदिन साममन्त्रों का स्वाध्याय करता है, वह घृत के द्वारा देवताओं को

तृप्त करता है। वे तृप्त हुये (देव-गण स्वाध्यायी को तृप्त करते हैं)।3।

जो विद्वान् जानते हुये प्रतिदिन यजुर्वेद के मन्त्रों का स्वाध्याय करता है, वह अमृत से देवों को तृप्त करता है। वे तृप्त हुये (देवता स्वाध्यायी को तृप्त करते हैं)।4।

जो विद्वान् वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण का अध्ययन प्रतिदिन स्वाध्याय में करता है, वह क्षीरौदन एवं मांसौदन के द्वारा देवों को तृप्त करता है। वे तृप्त हुये देवता इस (स्वाध्यायी को तृप्त करते हैं)।5।

वहीं शतपथपब्राह्मण के चौदहवें अध्याय में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा-

जिस प्रकार काष्ठ पर अच्छी प्रकार से स्थापित आर्द्र समिधा वाली आग से धूम पृथक्-रूप से स्वयं ही निकलते हैं, अरे (मैत्रेयी), ऐसे ही इस महान् भूत (परमेश्वर के अस्तित्त्व) का यह उच्छ्वास है, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, विद्या (तत्त्व-ज्ञान), उपनिषद्, श्लोक, काव्य, सूत्र, अनुव्याख्यान एवं व्याख्यान (विस्तृत व्याख्यान) हैं। ये सब इस (परमेश्वर) के नि:श्वास ही हैं।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार के प्रति नारद-

वह (नारद) बोले-हे भगवन्, मैंने ऋग्वेद का अध्ययन किया है। (इसी प्रकार) यजुर्वेद, सामवेद, चौथे अथर्ववेद, पाँचवें इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (व्याकरण), पितृकर्म, राशि (गणित), दैव (भाग्य विद्या), निधिज्ञान, वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देव विद्या (देवविषयक ज्ञान) ब्रह्मविद्या, भूत (पञ्चतत्त्व) विद्या, क्षत्र विद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या, (ज्योतिष), सर्प विद्या, एवं देवजन विद्या (गन्धर्व विद्या, संगीत शास्त्र) का मैं अध्ययन करता हूँ।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में-

वाणी ही उसका (शब्द ब्रह्म) स्थान है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। प्रज्ञा ऐसा मानकर उस (शब्द ब्रह्म) की उपासना करनी चाहिये। (जनक ने प्रश्न किया-) याज्ञवल्क्य, प्रज्ञता क्या है? (याज्ञवल्क्य ने) कहा-हे राजन्, वाणी ही प्रज्ञा है। हे राजन्, वाणी से ही बन्धु जाना जाता हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञ, हवन, खान-पान, यह लोक, पर लोक और सभी जीव, हे राजन्, वाणी से ही जाने जाते हैं, इसी से हे राजन् वाणी ही परम ब्रह्म है-आदि (उद्धरणों) के द्वारा वेद रूप वेदार्थ का निर्णय इतिहासात्मक कहते हुये विद्वानों के द्वारा विचार किया जाना चाहिये। इसी प्रकार महाभारत के आदि पर्व में, उपक्रमणिका अध्याय में-

इतिहास एवं पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण (अर्थ-विस्तार) करना चाहिये। अल्प-श्रुत (इतिहास-पुराण आदि का ज्ञान न रखने वाला) से वेद डरता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा। (अर्थात् मेरी व्याख्या सही रीति से नहीं करेगा)।

इसी प्रकार महाभाष्य में -

सात द्वीपों वाली पृथिवी, तीनों लोक, चारों वेद अपने अङ्गों (वेदांगों) एवं बहुधा विभिन्न प्रकार के रहस्यों के साथ, अध्वर्यु की 101 शाखायें, सहस्र शाखाओं वाला सामवेद, 21 प्रकार की ऋचायें, 9 प्रकार के अथर्ववेद (की शाखायें), वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण वैद्यक-ये सभी शब्द के ही प्रयोग विषय हैं।

इसी प्रकार क्रतूक्थादिसूत्र, पर 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च' वार्तिक है। यहाँ सभी स्थानों पर इतिहास शब्द से भारत आदि (महाभारत) का ग्रहण किया जाता है और पुराण शब्द से मार्कण्डेय आदि का ग्रहण किया जाता है।

मानव (मनुस्मृति) में-

श्राद्ध में स्वाध्याय (वेद), धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिलों (श्री सूक्त आदि) को सुनाये।

यहाँ 'पुराणानि' पद आख्यान इसका विशेषण है या खिल-इसका। वहाँ (श्लोक में) 'इतिहासांश्च' (इस पद) में द्वितीय चकार से पुराणपद में निराकांक्षत्वबोधन से पदान्तरसम्बन्ध का वाचक है। किञ्च, श्राद्ध में धर्माख्यानों के ही श्रोतव्यता होने से (अर्थात्-श्राद्ध में धर्माख्यान सुनना चाहिये) ऐसा ऋषियों का मत होने से अन्तरङ्ग रूप से उपस्थित होने के कारण, चिरन्तनन्त (अत्यन्त प्राचीन काल से) प्रसिद्ध होने के कारण (उपर्युक्त मत विचारणीय है)। वहाँ विशेषण भाव की निरर्थकता होने के कारण इसी प्रकार पुराण शब्द व्याख्यान का पर्याय, यह भी नहीं संगत होता है-इतिहास, पुराण, व्याख्यान (इस प्रसंग में) बृहदारण्यक उपनिषद् इस श्रुति से विरोध होने के कारण। और भी, **'आख्यानायायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च ठग्वक्तव्यम्'** इस वार्तिक के बल से पुराणपद से वाच्य ग्रन्थों को अवश्य स्वीकार करना चाहिये, इससे उनके न कहे जाने पर ग्रहण का अभाव (यह अर्थ प्राप्त होता है) किन्तु यहाँ अविनाभाव (सदैव साहचर्य) का सम्बन्ध है। किञ्च, आश्वलायन गृह्यसूत्र में, तृतीय अध्याय, पञ्चयज्ञ प्रकरण में स्वाध्याय यज्ञ के निरूपण के समय-

स्वाध्याय का अध्ययन करना चहिये। (स्वाध्याय के अन्तर्गत) ऋचायें (ऋग्वेद), यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद (अथर्ववेद), ब्राह्मण, कल्प (सूत्र-ग्रन्थ), गाथा (इन्द्रादि देवों की गाथा, यज्ञ-गाथा) नाराशंसी, इतिहास-पुराण (इनका अध्ययन आता है)।

जो ऋचाओं का अध्ययन (स्वाध्याय) करता है, दूध की आहुति से ही देवताओं को तृप्त करता है। जो यजुर्वेद के मन्त्रों का (स्वाध्याय करता है) घृत की आहुतियों से (देवों को तृप्त करता है), जो साम-मन्त्रों (का स्वाध्याय करता है) मधु की आहुतियों से (देवों को तृप्त करता है), जो अथर्वाङ्गिरस (का स्वाध्याय करता है) सोम की आहुतियों से (देवों को तृप्त करता है), जो ब्राह्मण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इतिहास-पुराण (आदि का स्वाध्याय करता है) अमृत की आहुतियों से देवों को तृप्त करता है।

(इन रहस्यों को जानकर) जो ऋग्वेद पढ़ता है, दूध का कुल्या (नहर, क्षुद्र नदी) उसके पितरों को स्वधा (पितरों का अन्न) प्रदान करती हैं। जो यजुर्वेद, घृत की कुल्या, जो साम-मन्त्र, मधु की कुल्या, जो अथर्वाङ्गिरस के मन्त्र, सोम की कुल्या, जो ब्राह्मण, कल्प, गाथा नाराशंसी, इतिहास पुराण हैं, वे अमृत की कुल्या हैं। जो जितने काल तक स्वाध्याय करने में अपने आप को समर्थ मानें उतनी देर तक स्वाध्याय करे। (अर्थात् सदैव समाहित चित्त से अध्ययन करना चाहिये।) इसके पश्चात् इस स्तुति से स्वाध्याय का समापन करना चाहिये -

ब्रह्म को प्रणाम अग्नि को प्रणाम, पृथिवी को प्रणाम, ओषधियों को प्रणाम, वाणी को प्रणाम, वाचस्पति को प्रणाम तथा महान् विष्णु को प्रणाम करता हूँ। (इस स्तुति का तीन बार पाठ करना चाहिये।)

पुराणों का स्वाध्याय में परिगणन होने से वेदाध्ययन के समान पुराणों के अध्ययन फल का श्रवण होने से, श्राद्ध में भी पुराणों का श्रवण पुण्य उत्पन्न करने वाला होने से, नमः सूक्त श्लोक में 'पुराणानि' इस पृथक् पद का ही न्यायत्व है, ऐसा विद्वज्जन विचार करते हैं। इस प्रकार वे जो इतिहास तथा पुराण अनुदिन भारत की संज्ञा है, वह भी असत् है। महाभाष्य और श्रुति (वेद) में इतिहास एवं पुराण इन पदों का दर्शन होता है। इसके निसरन हेतु सावयव **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** इसमें **'इतिहासपुराणाभ्याम्'** इसमें द्विवचन संगत होता है। और वहीं भारत (महाभारत) के श्रेष्ठत्व वर्णन में-

जैसे दही से मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों से आरण्यक, ओषधियों से अमृत, जलाशयों से समुद्र श्रेष्ठ होता है, चतुष्पद पशुओं की वरिष्ठ गौ होती है, उसी प्रकार इतिहासों का श्रेष्ठ भारत (महाभारत) कहा गया है।

यहाँ भारत का इतिहास मात्र से अलग करने में इतिहास शब्द संगत होता है, न कि इतिहास-पुराण इस अर्थ में प्रयुक्त है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में पुराण को इतिहास का विशेषण कहा गया है। (इस सन्दर्भ में श्रीमद् भगवद् गीता की पंक्ति-) 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' भगवान् श्री कृष्ण की उक्ति के प्रामाण्य से चिरन्तन अर्थ वाले पुराण शब्द का लिङ्ग रूप से प्रकृति (मूल शब्द) इतिहास (का विशेषण होने के कारण) विशेष्यगत पुल्लिंग का अवरोध (पुराण शब्द के मूलतः नपुंसक लिंग होने पर भी नहीं हो पाता क्योंकि) उसका (इतिहास शब्द का) विशेषण होने से पुराण पद में भी पुल्लिंग के निर्देश का औचित्य है। इस औचित्य से तथा नपुंसक के प्रदर्शन (नपुंसक लिंग के प्रयोग की) असंगति प्राप्त होती है। तथा वैद्यक इस शब्द का विशेषण भी कहा नहीं गया है। विशेषण का अन्य से निवृत्ति रूप परिणाम होने के कारण ऐसा किया गया, क्योंकि प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों से हटकर अन्य आधुनिक वैद्यक ग्रन्थ का भी शब्द विषयक होने के कारण भाष्य करना अभीष्ट है, इससे उसकी व्यावृति न हो। न कि, उस विशेषणभाव का अनौचित्य है। अतः पूर्वोक्त भाष्य में और श्रुति में पुराण पृथक् ही सिद्ध है।

इसी प्रकार, 'आख्यानाख्यायिका' इस वार्तिक के द्वारा महाभाष्य में दो उदाहरण ऐतिहासिक एवं पौराणिक यह भी सिद्ध हैं। अतः (महाभारत के) अनुशासनिक पर्व में दानधर्म, आयुष्यधर्मनिरूपण में 104 अध्याय में-

पुराण, इतिहास और आख्यान और जो महात्माओं के चरित हैं उनको नित्य ही सुनना चाहिये।

यहाँ पुराण से पृथक् इतिहास की उक्ति प्रतिपादित है। ग्रन्थ विशेष का वाचक पुराण शब्द नपुंसक लिंग है। 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' इत्यादि प्रामाण्य से विशेषणवाचक स्त्रीलिंग है। प्रत्यक्ष प्रमाण (महाभारत के) अनुशासन पर्व के दानधर्म में, 90 अध्याय में पाङ्क्तेय ब्राह्मण के निरूपण में-

जो भाष्य के ज्ञाता हैं, कुछ जो व्याकरण शास्त्र में संलग्न हैं, जो पुराणों तथा धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते हैं। इसी प्रकार विराट पर्व (महाभारत) के 51 वें अध्याय में, उत्तरण ग्रह में-

हे राजन्, वेदान्त, पुराण, प्राचीन इतिहास (आदि विषयों में) जामदग्न्य को छोड़कर कौन द्रोण से अधिक हो सकता है ।

इसी प्रकार (महाभारत के) आदि पर्व में, उपक्रमणिका अध्याय में ब्रह्मा के प्रति व्यास (कहते हैं)-

मेरे द्वारा जो ब्रह्मवेद का रहस्य एवं अन्य जो कुछ ज्ञान स्थापित किया गया, वेदों और अङ्गों सहित उपनिषदों का विस्तार किया गया, इतिहास एवं पुराणों का जो उन्मेष (वर्गीकरण, व्याख्या, विस्तारादि) निर्मित हुआ तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य-तीन प्रकार के काल की संज्ञा दी गई है।

इसी प्रकार (महाभारत के) अनुशासनिक पर्व में-

हे राजन्, आपको युक्तिशास्त्र, शस्त्रशास्त्र, और गन्धर्वशास्त्र जानना चाहिये तथा कलायें जानने योग्य हैं।

इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण के बाल काण्ड में-

इस रहस्य को जानकार सूत ने राजा से यह कहा-आप उस पुरावृत्त (प्राचीन घटना) को सुनिये जो

पुराण में मेरे द्वारा सुना गया है।

इस प्रकार वहुत से प्रमाण महाभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, छान्दोग्य उपनिषद्, आश्वलायन गृह्यसूत्र, मनुस्मृति, महाभारत तथा रामायण आदि ग्रन्थों में ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार केवल अपने मुख से निकली वाणी मात्र होने के कारण उनकी असत्यता नहीं (प्रमाणित) होगी। उनके सत्य होने पर उनके द्वारा प्रतिपादित देवप्रतिमादिकों की सत्यता और अधिक स्पष्ट है। सामवेद के अद्‌भुतशान्ति प्रसंग में जैसे प्रतिमायें हँसती हैं, रोती हैं, नृत्य करती हैं। जैसा कि निरुक्त में-

अब देवों के आकार पर विचार किया जाता है। एक (मत के अनुसार देवता) पुरुषों के समान होते हैं। उनकी स्तुतियाँ चेतना युक्त के सदृश होती हैं। अचेतनों की भी स्तुति इसी प्रकार होती है जैसे अक्ष (जुआ) आदि से ओषधि (वनस्पति) पर्यन्त की (स्तुति होती है)। इसी प्रकार ग्रावस्तुति (सोमाभिषव करने वाले प्रस्तर की स्तुति)। 'जीविकार्थे चापण्ये' इस सूत्र के भाष्य में 'अपण्य' कहा गया है। वहाँ यह नहीं सिद्ध होता-शिव, स्कन्द, विशाख। क्या कारण है? (महाभारत-)

सुवर्ण की इच्छा रखने वाले मौर्यों के द्वारा जो मूर्तियाँ निर्मित होती हैं, उनमें न हो बल्कि उनमें हो जो इस समय पूजा के निमित्त हैं, उनमें (ये मूर्तियाँ) होंगी।

इसी प्रकार सुश्रुत सँहिता, शरीरस्थान के तीसरे अध्याय में गर्भिणी-दोहद-विचार के प्रसंग में-

जिस स्त्री का दोहद (गर्भकालिक कामना) राजा को देखने की हो, वह स्त्री समृद्ध अत्यन्त भाग्यशाली कुमार (पुत्र) को जन्म देती है। जिसका दोहद देव प्रतिमा में हो, वह उत्तम देव-पार्षद को जन्म देती है। जिस स्त्री को सर्पों के दर्शन की लालसा होती है वह हिंसक प्रवृत्ति के सन्तान को जन्म देती है।

इसी प्रकार महाभारत के आदि पर्व 130 अध्याय (प्राप्त अध्याय 123) में एकलव्य के उपाख्यान में-

उस धर्मज्ञ (द्रोण) ने उसे (एकलव्य को) धनुर्विद्या हेतु शिष्य रूप में-निषाद है-ऐसा सोचते हुये स्वीकार नहीं किया। एकलव्य द्रोण के दोनों पैरों को पकड़कर अपने शिर से प्रणाम करते हुये वन में पहुँचें। वहाँ द्रोण की मृण्मयी मूर्ति बना कर, उस मूर्ति में आचार्य-भाव करते हुये एकाग्र चित्त हो गये। उन्होंने नियम पूर्वक बाणक्षेपण रूपी योग में अपने को स्थित किया। परम श्रद्धा से युक्त होकर तथा अपने परम योग से (एकाग्र भाव से शर-सन्धान करते हुये) बाणों के छोड़ने एवं शर-सन्धान में एकलव्य ने कुशलता प्राप्त की।

इसी प्रकार (महाभारत के) भीष्म पर्व, 112वें अध्याय में-

देवालयों में स्थित कौरव-राज के देवता काँपते हैं, हँसते हैं, नाचते हैं तथा रोते हैं।

इसी प्रकार वहीं, दूसरे अध्याय में-

देवताओं की प्रतिमायें काँपती हैं और हँसती हैं। मुख से रक्त का वमन करती हैं, पसीना-पसीना होती हैं एवं गिर पड़ती हैं।

इसी प्रकार, वहीं तीसरे अध्याय में-

काल से प्रेरित ये शिशु शस्त्रयुक्त प्रतिमायें बनाते हैं तथा हाथ में दण्ड लेकर एक दूसरे के पीछे दौड़ते हैं।

इसी प्रकार मनुस्मृति में-

मिट्टी, गौ, देवप्रतिमा, ब्राह्मण, घृत, मधु, चौराहा एवं प्रसिद्ध वृक्ष की प्रदक्षिणा करते हुये (इन्हें अपने से दाहिने करते हुये)चलना चाहिये। मनु की उक्ति-

जोते गये खेत, जल, ईंट के भट्टे, पर्वत, जीर्ण, देवालय एवं दीमक की बाँबी पर (कभी मल-मूत्र न त्यागे)।

पुनः वहीं-

देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, अग्नि और दीक्षित की छाया को नहीं लाँघना चाहिये।

पुनः वहीं-

(ग्रामादि के) सीमा-सन्धि के स्थान पर पोखरा, कूप, बावड़ी, नहर तथा देवालय का (निर्माण कराना चाहिये)।

पुनः वहीं-

कोष्ठागार, शस्त्रागार तथा देवालय को नष्ट करने वाले तथा गज, अश्व और रथ का हरण करने वाले, का राजा बिना सोच-विचार किये वध ही करे।

इत्यादि (वचनों से) प्रतिमायें स्पष्ट रूप से सिद्ध होती हैं। हम शब्द प्रमाण वाले हैं। जो शब्द कहता है, वही हमारा प्रमाण है। अत: खिलों में हरिवंश पुराण के 133 वें अध्याय (प्राप्त प्रसंग 2.74.52) में भगवान् का वाक्य-

जो भक्त भक्ति पूर्वक प्रस्तर की प्रतिमा बना कर नित्य उसकी सेवा (पूजा) करेंगे, वो मेरी गति (विष्णु लोक) को प्राप्त करेंगे।

वहीं 140 वें अध्याय में-

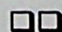
दैवयोग से जो सती स्त्री विधवा हो जाती है, उसका जो पुराणोक्त धर्म है, हे सुमध्यमे! मैं कहता हूँ। वह स्त्री पति की चित्र-प्रतिमा या मृण्मयी प्रतिमा बना कर उसकी सदा पूजा करे एवं सज्जनों के धर्म का स्मरण करे। यह गौरी के प्रति शिव का वाक्य है। अतएव, 'भ्राजभास' सूत्र में कहे गये के समान सैकड़ों (उदाहरण) हैं। पुराणों में बहुत से उदाहरण हैं। उनको पल्लवित करने (विस्तार करने से) क्या ? इस उपस्थित अर्थ को छोड़कर अनुपस्थित अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये। इसलिये शास्त्र ही प्रमाण है। उनसे करणीय तथा अकरणीय की व्यवस्था (समझनी चाहिये, उसी व्यवस्था के आधार पर) पुराण, मानव-धर्म एवं अङ्गों सहित वेद सुविचारित हैं। चार आज्ञा-सिद्ध हैं एवं किसी कारण से इनका हनन नहीं करना चाहिये ऐसा भारतीयवचन का पर्यालोचन है। जैसे-

कुरुक्षेत्र में मत्स्य, पञ्चाल और शूरसेनियों (मथुरा-क्षेत्र), इनमें ब्रह्मावर्त से कुछ अन्तर है। यह (ब्रह्मावर्त देश) ब्रह्मर्षि देश है। इस देश में उत्पन्न ब्राह्मणों से विश्व के सभी मनुष्यों को अपना-अपना चरित्र (सदाचार) सीखना चाहिये।

ऐसा (मनुस्मृति में कहा गया है। तात्पर्य यह है कि) मनुष्यों का अर्थात् इस देश में उत्पन्न ब्राह्मणों का आचार सभी के द्वारा सीखने योग्य है।

पुष्पिका-

पुराण-प्रमाण सन्दर्भ (ग्रन्थ में) इस वचन से वह (ब्रह्मरूप) मङ्गलादि के द्वारा ध्यान करने योग्य, यह पुराण पुरुष वासुदेव प्रसन्न हों। इस प्रकार मथुरा निवासी गौडोदय प्रकाश देव पण्डित द्वारा निर्मित पुराण-प्रमाण-सन्दर्भ समाप्त हुआ।



हस्तलेख में उद्धृत ग्रन्थों की सूची एवं प्रयुक्त ग्रन्थों के प्रकाशनादि विवरण

वैदिक ग्रन्थ-

आश्वलायन-गृह्यसूत्र - सम्पादक-नरेन्द्रनाथ शर्मा, प्रका.-ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली 1976।
उपनिषत्संग्रह - सम्पादक-जगदीश शास्त्री, प्रका. मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1980
निरुक्त (खण्ड-2) - व्याख्याकार-सीताराम शास्त्री, प्रका. - परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 2002
शतपथब्राह्मण - सम्पा.-रामनाथ दीक्षित प्रका.-चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी-1984

पौराणिक ग्रन्थ

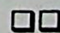
हरिवंश-पुराण - प्रका.-नाग पब्लिशर्स दिल्ली, 1985।
महाभारत - (1) सम्पा.-पी.पी.एस. शास्त्री प्रका.- वी. रामास्वामी शास्त्रूलु एण्ड सन्स, मद्रास, 1931
(2) सम्पा.-श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल पारडी, बलसाड, गुजरात, 1978
वाल्मीकि-रामायण - सम्पा.-वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, इन्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली, 1930

अन्य ग्रन्थ

मनुस्मृति (खंड 1-6)- सम्पा.-जे. एच. दवे प्रका.-भारतीय विद्या भवन वाम्बे, 1970-84
महाभाष्य (प्रथम खण्ड, प्रथम भाग)-व्याख्याकार -प्रो. भीमसिंह वेदालंकार प्रका.-विद्यानिधि शोध संस्थान कुरुक्षेत्र। 2006
सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थानम्)
टीकाकार-डॉ. भासकर गोविन्द घाणेकर प्रका.-मेहरचन्द्र लछमन दास दिल्ली, 1975

सहायक-ग्रन्थ

1. पुराणविमर्श - पं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1965
2. पुराणपरिशीलन - पं. गिरिधार शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्र भाषा, पटना, 1970
3. पुराणपर्यालोचनम् - श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1975
4. पुराणों में सृष्टि और प्रलय - डॉ. कृष्ण चन्द्र सिंह, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005



Under the Auspices of The Ministry of
Human Resource Development
Government of India



राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
गङ्गानाथझापरिसरः
चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्,
प्रयागः - 211002